प्रकाशक

राजकिशोर अग्रवाल

विनोद पुस्तक मन्दिर

हॉस्पिटल रोड, आगरा

प्रथम सस्करण

सन् १९६०

मूल्य

आठ रुपया

मुद्रक

गुलाबसिंह यादव

आगरा फाइन आर्ट प्रेस, आगरा

प्राक्कथन

प्रत्येक महाकाव्य युग-चेतना का प्रतीक होता है। उसमें युगानुकूल विचारो का प्रवाह अपनी मद-मथर गति से प्रवाहित होता हुआ युग के धर्म, युग की मान्यतायें, युग की दुर्बलतायें एव युग की विशेषताओ को अपने कल-कल-निनाद द्वारा उद्घोषित करता रहता है। इसीकारण प्रत्येक महाकाव्य किसी न किसी महत्प्रेरणा से प्रेरित होकर ही लिखे जाते हैं और वे अपने लघु अथवा दीर्घ आकार मे प्रकट होकर युग की सचित सामग्री को आत्मसात् करते हुए अपना गौरवशाली स्वरूप ग्रहण किया करते हैं। 'प्रियप्रवास' के जन्म की कथा भी कुछ ऐसी ही है। इससे पूर्व आधुनिक युग मे खडी बोली का कोई भी महाकाव्य निर्मित नहीं हुआ था। सर्वत्र खडी बोली का बोल बाला तो था, परन्तु अभी वह इतनी सशक्त एव सक्षम नहीं हो पाई थी कि उसमें महाकाव्यो का भी निर्माण हो सके। साथ ही किसी कवि का इधर साहस भी नही होता था कि व्रजभाषा या अवधी के समकक्ष खडी बोली मे भी कोई महाकाव्य लिखें। हरिऔधजी ने सर्वप्रथम यह प्रयास किया और अपनी अद्भुत प्रतिभा एव अनुपम कला का परिचय देते हुए इस युग के अभाव की पूर्ति की। यह दूसरी बात है कि (प्रथम प्रयास होने के कारण वह इतना उत्कृष्ट एव इतना सम्पन्न महाकाव्य नही है कि हिन्दी के पदमावत, रामचरितमानस, साकेत, कामायनी आदि की समता कर सके)। परन्तु उसका अपना महत्व है और वह आधुनिक युग के महाकाव्यो के लिए प्रकाश-स्तम्भ की भाँति स्थित है।

'प्रियप्रवास' के इस आलोचना-ग्रंथ की प्रेरणा मुझे अपने विद्यार्थियो से मिली। प्राय सभी विद्यार्थी यह आग्रह करते रहते थे कि जब आप कक्षा मे इतनी विस्तृत आलोचना करते रहते हैं, तब उसे पुस्तकाकार क्यो नही प्रकाशित करा देते! इसके अतिरिक्त मैंने भी इस ग्रंथ की उपेक्षा का अनुभव किया। प्राय अधिकाश आलोचको ने अन्य कवियो एव हिन्दी के अन्य उत्कृष्ट महाकाव्यो पर तो अधिक से अधिक लिखने का प्रयत्न किया है, परन्तु बिचारे 'प्रियप्रवास' को नगण्य समझकर इसकी ओर ध्यान कम दिया है। इस ओर सबसे सराहनीय कार्य प० गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने किया

है। उनके प्रति मैं अत्यत आभार प्रकट करता हूँ परन्तु वह ग्रथ भी केवल 'प्रियप्रवास' पर न लिखा जाकर हरिऔधजी की अन्य कृतियो पर भी लिखा गया है। इसके अतिरिक्त एक सक्षिप्त अध्ययन प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी का भी मिलता है, जिसमे 'प्रियप्रवास' के गुणो की अपेक्षा दोषो का उद्घाटन अधिक हुआ है और उसमे भी लेखक ने आगे चलकर 'वैदेही वनवास' तथा 'पारिजात' पर अपने विचार प्रकट किए हैं। इन पक्तियो के लेखक ने भी एक आलोचनात्मक पुस्तक "कविसम्राट् हरिऔध और उनकी कला-कृतियाँ" के नाम से पहले लिखी थी, जिसमे हरिऔधजी के सम्पूर्ण साहित्य का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए उनके साहित्य पर अपने सक्षिप्त विचार व्यक्त किये थे। उसी समय यह विचार हुआ था कि हरिऔधजी की सर्वश्रेष्ठ कृति 'प्रियप्रवास' की आलोचना पृथक् पुस्तकाकार रूप मे लिखी जाय। किन्तु अनुसधान कार्य मे व्यस्त रहने के कारण यह कार्य सम्पन्न न हो सका। अब अनुसधान से अवकाश मिलने पर यह ग्रथ पाठको की सेवा मे प्रस्तुत कर रहा हूँ।

यह आलोचना-ग्रथ सात भागो मे विभक्त है, जिन्हें प्रकरण नाम दिया गया है। प्रथम प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' की प्रेरणा और पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है, जिसमे कवि के जीवन-परिचय के साथ-साथ उसके समस्त ग्रथो का काल-क्रमानुसार परिचय देते हुए यह देखने की चेष्टा की गई है कि कवि की प्रतिभा का विकास किस तरह होता गया और उसने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र मे कितने अमूल्य ग्रथ-रत्न भेंट किये। इसके साथ ही 'प्रियप्रवास' के निर्माण में जिन सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव साहित्यिक परिस्थितियो ने योग दिया था, उनका भी वर्गीकरण एव विश्लेपण करते हुए 'प्रियप्रवास के निर्माण मे उनकी उपादेयता एव उपयोगिता पर विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' लिखने के कतिपय कारणो पर भी दृष्टि डाली गई है और यह देखा गया है कि कवि ने इस ग्रथ का नाम यह क्यो रखा। अन्त मे इस नाम की सार्थकता का भी विवेचन किया गया है।

दूसरे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु पर सागोपाग विचार प्रकट किए गए हैं और यह बताया गया है कि 'प्रियप्रवास' में कितनी कथाओं एव उपकथाओ का समावेश हुआ है, उनके मूलस्रोत कहाँ हैं तथा अपनी मूल-कथाओ से 'प्रियप्रवास' की कथाओ मे क्या अन्तर किया गया है। कवि ने अपनी इस कथा में कौन-कौन सी नवीन उद्भावनायें की हैं और उन उद्भावनाओ मे कवि को कहाँ तक सफलता मिली है—इस का भी विस्तृत विवेचन किया गया

है। इतना ही नही कथावस्तु के शास्त्रीय विधान का उल्लेख करते हुए अत मे उसके गुण-दोपो पर भी सम्यक् दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

तीसरे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के काव्यत्व पर विचार करते हुए उसकी प्रबन्धात्मकता एव महाकाव्यत्व का पर्यवेक्षण किया गया है। साथ ही यह देखने की भी चेष्टा की गई है कि इस काव्य का मुख्य 'कार्य' क्या है और उस 'कार्य' की दृष्टि से इसमे एकरूपता कहाँ तक विद्यमान है। प्रमुख पात्रों की चारित्रिक विशेपताओ का उद्‌घाटन करते हुए प्रकृति-चित्रण एव भाव-निरूपण पर विस्तारपूर्वक सम्यक् रूप से विचार किया गया है। इसके अतिरिक्त वियोग शृगार की करुण रस में किस तरह परिणति हुई है, इस पर विचार व्यक्त करते हुए भाव एव रस निरूपण मे जिन नवीन उद्भावनाओ का समावेश हुआ है उनका भी यहाँ सागोपाग उल्लेख विद्यमान है। अन्त मे कवि के सौंदर्य-निरूपण का अध्ययन करते हुए इस काव्य की महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य का उद्‌घाटन किया गया है।

चौथे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के कला-पक्ष पर विस्तारपूर्वक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, जिसमे इस काव्य की सर्गबद्धता, शब्द-विधान, वर्णमैत्री, लोकोक्ति-मुहावरे आदि पर विचार प्रकट करते हुए इसमे आए हुए विभिन्न प्रकार के शब्दो का वर्गीकरण एव विश्लेपण किया गया है और शुद्ध एव अशुद्ध प्रयोगो की ओर भी सकेत किया गया है। इसके अतिरिक्त 'प्रियप्रवास' की भाषा, उसमे शब्द-शक्तियो का प्रयोग, गुण, रीति, वृत्ति, वक्रोक्ति, अलकार, छद, औचित्य आदि का स्वरूप यहाँ किस प्रकार का मिलता है इसका भी समीक्षात्मक अध्ययन किया गया है। अंत मे काव्य-शैली के स्वरूप का विवेचन करके 'प्रियप्रवास' की कला पर समीक्षात्मक विचार व्यक्त किये गये हैं।

पाँचवें प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के सास्कृतिक पक्ष का निरूपण किया गया है, जिसमे यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि 'प्रियप्रवास' के अन्तर्गत भारतीय सस्कृति की अधिकाश विशेपतायें सन्निविष्ट हैं। कवि ने यहाँ भारतीय धार्मिक जीवन की उन सभी मान्यताओ को काव्य-रूप देने की सुन्दर चेष्टा की है, जिनका सबध यहाँ के दैनिक जीवन से है और जो फल्गू की भाँति भारतीय हृदयो मे अनन्त काल से प्रवाहित होती चली आ रही हैं।

छठे प्रकरण मे 'प्रियप्रवास' के अन्तर्गत मानव-जीवन के प्रति कवि के जो विचार व्यक्त हुए हैं उनका सम्यक् उद्‌घाटन किया गया है। इस 'जीवन-दर्शन' में यह दिखाने की चेष्टा हुई है कि कवि किन-किन विचारों, सिद्धान्तो

एव साधनो को मानव-कल्याण के लिए आवश्यक मानता है, किस तरह वह समाज को नया रूप देने की आकाक्षा करता है, किस तरह के आचरण को वह मानव मात्र के लिए अपेक्षित समझता है, कौन-कौन से कार्य वह देशोद्धार के लिए अनिवार्य समझता है आदि-आदि । अन्त मे कवि के मूल-सिद्धान्त 'लोकहित' का भी सम्यक् निरूपण किया गया है ।

सातवें अथवा अन्तिम भाग के अन्तर्गत 'उपसहार' आता है, जिसमे सर्वप्रथम 'प्रियप्रवास', 'साकेत' तथा 'कामायनी' का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और देखा गया है कि किस तरह महाकाव्य की कला क्रमशः विकसित होती हुई 'कामायनी' जैसे उत्कृष्ट महाकाव्य के रूप मे अपने चरम विकास पर पहुँची थी । इस दृष्टि से आधुनिक युग के महाकाव्यो मे 'प्रियप्रवास' प्रथम सोपान पर, 'साकेत' द्वितीय सोपान पर तथा 'कामायनी' अभी तक अतिम अथवा तृतीय सोपान पर स्थित है। अत मे 'प्रियप्रवास' के अमर सदेश का उद्घाटन करके यह अध्ययन समाप्त किया गया है। मुझे अपने प्रयत्नो मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसके बारे मे मैं कुछ कहने का अधिकारी नही । फिर भी यदि इस अध्ययन द्वारा 'प्रियप्रवास' सम्बन्धी समीक्षात्मक साहित्य के अभाव की कुछ पूर्ति हो गई, तो मैं अपने प्रयास को सफल ही समझूँगा ।

अन्त मे मैं उन सभी विद्यार्थियो एव मित्रो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना अपना पुनीत कर्त्तव्य समझता हूँ, जिनकी प्रेरणा का यह प्रसाद पाठको के सम्मुख समर्पित कर रहा हूँ। उन सभी लेखको के प्रति भी मैं हृदय से कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनके ग्रथो की सामग्री का उपयोग मेरे इस आलोचना-ग्रथ मे हुआ है । साथ ही श्रीयुत भोलानाथ अग्रवाल, विनोद पुस्तक मन्दिर आगरा भी धन्यवाद के अधिकारी हैं, क्योंकि प्रकाशन के लिए आश्वासन देकर तथा समय-समय पर शीघ्रता करने के लिए उत्साहित करके आपने ही इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कराया है। आशा है दयालु पाठक मेरी इस तुच्छ भेंट को स्वीकार करके तथा त्रुटियों से अवगत कराके मुझे सदैव आभारी बनाते रहेंगे ।

मकर-सक्रांति
माघ कृ० १ स० २०१६
जनवरी, १९६० ई०

द्वारिकाप्रसाद सक्सेना

विषय सूची

प्रकरण १

प्रियप्रवास की प्रेरणा और पृष्ठभूमि

जीवन परिचय—महाकवि अयोध्यासिंह उपाध्याय का जन्म वैसाख कृष्णा ३ स० १९२२ वि० तदनुसार १५ अप्रैल सन् १८६५ ई० मे जिला आज़मगढ के अन्तर्गत निज़ामाबाद नामक स्थान पर हुआ था। उपाध्याय जी के पूर्वज मुगल सम्राट् जहाँगीर के समय मे दिल्ली मे रहते थे। किन्तु किसी कारणवश मुग़ल सम्राट् के कोप का भाजन बन जाने के कारण इनके पूर्वज प० काशीनाथ उपाध्याय पहले उत्तर प्रदेश के बदायूं जिले मे आकर रहने लगे। कहा जाता है कि बदायूं मे उनके पूर्वजो का मकान अभी तक स्थित है। तदुपरान्त वे आज़मगढ जिले के निज़ामाबाद नगर मे आकर बस गये। यह परिवार पहले तो अगस्तगोत्रीय शुक्लयजुर्वेदीय सनाढ्य ब्राह्मण परिवार था, परन्तु निज़ामाबाद मे आकर इस परिवार ने सिक्ख-धर्म स्वीकार कर लिया। पं० काशीनाथ उपाध्याय की पांचवी पीढ़ी मे प० रामचरन उपाध्याय हुए, जिनके तीन पुत्र थे—ब्रह्मासिंह, भोलासिंह तथा बनारसीसिंह। प० ब्रह्मासिंह निस्सतान रहे तथा भोलासिंह के दो पुत्र हुए—अयोध्यासिंह और गुरुसेवकसिंह। इस तरह कविवर अयोध्यासिंह के पिता का नाम भोलासिंह और इनकी माता का नाम रुक्मिणी देवी था। इनके पिता कुछ पढ़े-लिखे न थे, परन्तु इनके ताऊ प० ब्रह्मासिंह सस्कृत के उच्च कोटि के विद्वान् एव ज्योतिषी थे। उनकी देख-रेख मे ही अयोध्यासिंह जी की शिक्षा-दीक्षा हुई।

बचपन मे कवि अयोध्यासिंह ने घर पर ही शिक्षा प्राप्त की। किन्तु सात वर्ष की अवस्था मे आपको निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल मे प्रवेश कराया गया, फिर भी आपके ताऊजी घर पर ही संस्कृत पढाया करते थे। स्कूल मे आपने फारसी की शिक्षा प्राप्त की। इसके अनन्तर आपको बनारस के क्वीन्स कालेज मे अग्रेजी की शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा गया। परन्तु अस्वस्थ रहने के कारण आप अग्रेजी की शिक्षा प्राप्त न कर सके। फिर भी घर पर ही आपने सस्कृत, फारसी, बगला आदि का विस्तृत अध्ययन

करके अच्छी योग्यता प्राप्त की थी। इसी समय आपका परिचय निज़ामावाद के प्रसिद्ध नानकपंथी वावा सुमेरसिंह से हो गया। वहाँ आप प्राय कवि-गोष्ठी तथा भजन-कीर्त्तन आदि मे सम्मिलित होने के लिए जाया करते थे। बचपन से ही आपको कविता के प्रति रुचि थी। अत कभी-कभी समस्या-पूर्ति भी कर लिया करते थे। वावा सुमेरसिंह भी कविता किया करते थे। उनका उपनाम "हरिसुमेर" था। अयोध्यासिंह जी ने भी इसी नाम के अनुकरण पर अपना उपनाम "हरिऔध" रख लिया।

हरिऔध जी का विवाह सन् १८८२ ई० मे वलिया ज़िले के अन्तर्गत सिकन्दरपुर ग्राम के निवासी प० विष्णुदत्त मिश्र की सौभाग्यवती कन्या अनन्त कुमारी के साथ सम्पन्न हुआ था। आपका पारिवारिक जीवन आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त अभावपूर्ण था। इसीलिए आपने सर्वप्रथम १६ जून १८८४ ई० मे हिन्दी मिडिल स्कूल मे अध्यापक का कार्य आरम्भ कर दिया। १८८७ ई० मे आपने नार्मल की परीक्षा प्रथम श्रेणी मे उत्तीर्ण की। तदुपरान्त आपने कानूनगो की परीक्षा भी पास करली और १८९० ई० मे आप कानूनगो हो गये। फिर अपनी कार्यक्षमता एव ईमानदारी के कारण आप सदर कानूनगो हो गये। १९०५ ई० मे आपकी पत्नी का देहावसान हो गया, फिर हरिऔध जी ने दूसरा विवाह नही किया और आगामी ४२ वर्ष तक विधुर जीवन ही व्यतीत किया। १ नवम्बर १९२३ ई० मे आपने सरकारी नौकरी मे अवकाश ग्रहण किया। उसी समय आपकी साहित्यिक ख्याति एव हिन्दी-प्रेम को देखकर काशी-विश्वविद्यालय मे प० मदनमोहन मालवीय जी के अनुरोध से आपको हिन्दी-साहित्य के अध्यापन का कार्य सौंपा गया। लगभग २० वर्ष तक आपने वहाँ सहर्ष अवैतनिक सेवायें प्रस्तुत करते हुए वडी कुशलता एव दक्षता के साथ हिन्दी-अध्यापन का कार्य किया। इस समय तक आपकी ख्याति समस्त भारत मे फैल चुकी थी। इसी कारण हिन्दी जगत् ने आपको "कवि-सम्राट्" की उपाधि से विभूषित किया। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन प्रयाग ने आपको "विद्यावाचस्पति" की उपाधि प्रदान की तथा "प्रियप्रवास" नामक महाकाव्य पर आपको मगलाप्रसाद पारितोषिक भी प्रदान किया। काशी-विश्वविद्यालय मे अवकाश ग्रहण करने के उपरान्त आप आज़मगढ मे आकर रहने लगे। यहीं पर ६ मार्च सन् १९४७ ई० को आपका गोलोकवास हुआ। यद्यपि हरिऔध जी का पार्थिव शरीर हमारे बीच मे नही रहा, फिर भी अपने काव्य-ग्रन्थो के रूप मे वे आज भी विद्यमान हैं और सदैव विद्यमान रहेगे।

व्यक्तित्व—हरिऔध जी अत्यन्त सरल हृदय एव उच्च विचारो के व्यक्ति थे। आप सिक्ख मतावलम्बी थे। आपके लघुभ्राता प० गुरुसेवकसिंह तो वश-परम्परा का परित्याग करके सिक्खो की वेश-भूषा छोड़ बैठे थे, और पूर्णतया पाश्चात्य सभ्यता मे रग गये थे, परन्तु हरिऔध जी अन्त तक अपनी परम्परा का पालन करते रहे। आप लम्बे केश तथा दाढी रखते थे। आपकी मुखाकृति अत्यन्त आकर्षक थी। आपका शरीर दुबला-पतला और रग गेहुँआ था। वैसे मुख पर सदैव तेज विद्यमान रहता था, परन्तु कुछ दिनो तक अर्श रोग से पीडित रहने के कारण अन्तिम दिनो मे आपके चेहरे पर चिन्ता की क्षीण रेखायें विद्यमान रही आती थी। आप घर पर प्रायः कमीज, वास्कट तथा पाजामा पहनते थे, परन्तु अन्य सार्वजनिक स्थानो पर जाते समय श्वेत पगडी, शेरवानी, पाजामा, अग्रेजी जूते तथा मोजे धारण किया करते थे। गले मे दुपट्टा भी डालते थे।[1] वैसे आपको खद्दर पहनना पसन्द न था, परन्तु स्वदेशी कपडा पहनना अधिक अच्छा समझते थे।

आपका हृदय अत्यन्त उदार एव स्वभाव अत्यन्त कोमल तथा मृदु था। आप वडे ही मिलनसार थे। आपके घर छोटा-वडा कैसा ही व्यक्ति क्यो न पहुँच जाय, आप सदैव सभी का समान रूप से आदर-सत्कार किया करते थे। अपने मित्रों एव हितैषियो से मिलना तो आपको अत्यन्त रुचिकर था। आपके यहाँ कितने ही युवक अपनी तुकवन्दियाँ लेकर उन्हें ठीक कराने आया करते थे, परन्तु आप सदैव उन्हे उचित परामर्श देकर उनका पथ-प्रदर्शन किया करते थे।

आपका हृदय प्रकृति की मनोरम छटा देखकर एक अद्भुत आनन्द का अनुभव किया करता था। आप प्रकृति के अनन्य पुजारी थे। अपने प्रकृति-प्रेम का उल्लेख करते हुए आपने स्वय लिखा है—"घन पटल का वर्ण-वैचित्र्य, शस्य श्यामला धरिणी, पावस की प्रमोदमयी सुषमा, विविध विटपावली, कोकिला का कलरव, पक्षिकुल का कल निनाद, शरदृतु की शोभा, दिशाओ की समुज्ज्वलता, ऋतु-परिवर्तन-जनित प्रवाह, अनन्त प्राकृतिक सौन्दर्य, ज्योत्स्ना-रजित यामिनी, तारक-मडित नील नभोमडल, सुचित्र विहगावली, पूर्णिमा का अखिल कलापूर्ण कलाधर, मनोमुग्धकर दृश्यावली, सुसज्जित रम्य उद्यान, ललित लतिका, मनोरम पुष्प-चय मेरे आनन्द की प्रिय सामग्री हैं। किन्तु पावस की सरस छवि, वसत की विचित्र शोभा,

१ हरिऔध अभिनन्दन ग्रंथ—पृष्ठ ४४३ ।

कोकिल का कुहूरव और किसी कलकण्ठ का मधुर गान, वह भी भावमयी कविता-वलित, मुझको उन्मत्तप्राय कर देते हैं।"[1]

अत आपके हृदय मे प्राकृतिक शोभा के लिए एक विशेष आकर्षण था। आप प्रकृति की माधुरी पर सदैव विमुग्ध रहा करते थे। परन्तु जैसा आपका आकर्षण प्रकृति सुन्दरी की मनोरम छटा के प्रति था, वैसा ही मानव सौंदर्य के प्रति भी था। आपने प्रकृति के अनिद्य-सौन्दर्य की भाँति मानव-सौंदर्य की भी अद्भुत झाँकियाँ अपने काव्यो मे चित्रित की हैं तथा समाज-सेवा, लोकानुरजन, विश्व-बधुत्व, परोपकार आदि उच्च भावनाओ से सवलित करके मानव-जीवन के आदर्शपूर्ण मनोरम चित्र अपने काव्यो मे यत्र-तत्र अकित किए हैं। मानव-समाज को उन्नत बनाने की एक उत्कट अभिलाषा आपके हृदय मे विद्यमान थी। समाज की कमियो एव दुर्बलताओ के चित्र अकित करके आपने सदैव मानव को अपने आदर्श की ओर बढने की प्रेरणा दी। आप नैतिकता के अनन्य भक्त थे। इसी कारण आप समाज मे परम्परा का उच्छेद एव भारतीय सस्कृति का विरोध सहन नही कर सकते थे। इसीलिए आपने अपने 'चोखे चौपदे' एव 'चुभते चौपदो' मे भारतीय समाज पर कटु व्यग्य द्वारा प्रहार भी किया है।

आप काव्य और सगीत कला के प्रति बचपन से ही रुचि रखते थे। अपने हृदय की सगीतजन्य पिपासा को शान्त करने के लिए आप किसी भी स्थान पर निस्सकोच भाव से जाने के लिए उत्सुक रहा करते थे। आपकी फुटकल रचनाओ मे आपके सगीत-प्रेम का आभास भली प्रकार मिल जाता है।

आपके हृदय मे आदर्शवादिता कूट-कूट कर भरी हुई थी और आपके हृदय मे अपने प्राचीन आदर्शों के प्रति अनन्य श्रद्धा थी। परन्तु आप अध-विश्वासी न थे। आप अत्यत सहिष्णु थे और सिक्खमतानुयायी होकर भी सभी धर्मों का समान रूप से आदर करते थे। आपकी दृष्टि मे किसी भी धर्म मे कोई बुराई न थी। सभी धर्मो की उच्च भावनाएँ एव सारपूर्ण बातें ग्रहण करना आपको अत्यत प्रिय थी। आपको भजन-पूजा आदि रुचिकर न थी, परन्तु सनातन-धर्म एव उसके धर्म-ग्रन्थो मे आपकी अटूट श्रद्धा थी। वेदो को आप ज्ञान का अक्षय भडार मानते थे तथा उनके ज्ञान का प्रसार एव प्रचार होना भारत के लिए श्रेयस्कर समझते थे। आप वैसे तो एकेश्वरवाद के

---

[1] महाकवि हरिऔध—पृ० २१।

मानने वाले थे, परन्तु हिन्दुओ के सभी देवी-देवताओ के प्रति अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करते हुए आप उन्हे असाधारण व्यक्ति मानते थे। ईश्वर के बारे मे आपका भावुकता की अपेक्षा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अधिक था और आप ईश्वर की सत्ता को सर्वत्र व्याप्त माना करते थे।

बहुमुखी प्रतिभा—हरिऔध जी की प्रतिभा बहुमुखी थी। आपने विद्यार्थी जीवन मे ही कविता करना आरम्भ कर दिया था। जब आप मिडिल स्कूल मे पढा करते थे, तभी आपने कबीर की साखियो पर कुडलियाँ बनाना प्रारम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे आपकी प्रतिभा विकसित होती गई और आपने कितने ही काव्य-ग्रन्थ लिख डाले, जिनमे से कबीर-कुडल, श्रीकृष्ण-शतक, प्रेमाम्बु-वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण, प्रेम-प्रपच, उपदेश-कुसुम, प्रेम-पुष्पोपहार, उद्बोधन, प्रियप्रवास, ऋतुमुकुर, पुष्प विनोद, विनोद वाटिका, चोखे चोपदे, चुभते चोपदे, पद्यप्रसून, बोलचाल, रसकलस, फूलपत्ते, पारिजात, ग्रामगीत, वैदेही-वनवास,—हरिऔध सतसई, मर्मस्पर्श आदि पद्यग्रन्थ प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनमे से प्रियप्रवास, वैदेही-वनवास तथा पारिजात तीन महाकाव्य माने जाते है। हरिऔधजी ने हिन्दी के समस्त मुहावरो को लेकर 'बोलचाल' नामक ग्रथ लिखा है तथा रसकलस मे व्रजभाषा के अन्तर्गत नायिकाभेद लिखा है। आपने फुटकल कविताओ के कितने ही सग्रह प्रकाशित कराये थे, जिनमे से कई अब अप्राप्य हैं।

काव्य के अतिरिक्त हरिऔध जी ने दो उपन्यास भी लिखे थे। सर्व प्रथम आपने "ठेठ हिन्दी का ठाठ" नामक उपन्यास लिखा। इस उपन्यास के लिए खड्गविलास प्रेस के अध्यक्ष बा० रामदीनसिह ने विशेष आग्रह किया था। इसका कारण यह था कि उन दिनो अग्रेजी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० ग्रियर्सन की यह बडी अभिलाषा थी कि खड्गविलास प्रेस से ठेठ हिन्दी भाषा मे कोई गद्य की पुस्तक प्रकाशित हो। डाक्टर साहब ने इसके लिए बा० रामदीनसिह जी से आग्रह किया था। उसी आग्रह पर आपने हरिऔध जी से अनुरोध किया और हरिऔध जी ने डाक्टर साहब की अभिलाषा-पूर्ति के लिए ३० मार्च सन् १८६६ ई० को "ठेठ हिन्दी का ठाठ" नामक उपन्यास लिखा, जिसमे हिन्दू समाज की विवाह सम्बन्धी एक निकृष्ट रीति को पाठको के सम्मुख प्रदर्शित करते हुए हरिऔध जी ने तत्कालीन सामाजिक जीवन की अद्भुत झाँकी प्रस्तुत की है। इसकी कथावस्तु तो अत्यन्त सरल एव सुबोध है, किन्तु वस्तु मे सजीवता एव स्वाभाविकता है। वैसे इसमे औपन्यासिक कला का अभाव है। परन्तु इसकी विशेषता भाषा का ठेठ रूप

प्रस्तुत करने मे है। कही भी आपको कोई तत्सम शब्द देखने को नही मिलेगा। सर्वत्र तद्भव-शब्द-प्रधान सरल एव सुबोध बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया गया है। इस उपन्यास को पढकर डा॰ ग्रियर्सन इतने प्रसन्न हुए थे कि इसे आपने इडियन सिविल-सर्विस की परीक्षा के पाठ्यक्रम में रखवा दिया था। तदुपरान्त हरिऔध जी ने "अधखिला फूल" नामक दूसरा उपन्यास लिखा। यह भी सामाजिक उपन्यास है। इसमे तत्कालीन विलासी जमीदारो के नग्नरूप का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। यहाँ प्रकृति-चित्रण अत्यन्त सजीव एव मनोमोहक है तथा चरित्र-चित्रण मे आदर्शवादिता को अपनाया गया है। ये दोनों उपन्यास औपन्यासिक कला की दृष्टि से उतने उत्कृष्ट नहीं, क्योंकि ये हिन्दी की ठेठ भाषा का नमूना प्रस्तुत करने के लिए लिखे गये थे। इसी कारण इनमे औपन्यासिक कला का तो सर्वथा अभाव ही है, किन्तु फिर भी उपन्यास-क्षेत्र मे भाषा सम्बन्धी प्रयोग की दृष्टि से इनका महत्वपूर्ण स्थान है।

हरिऔध जी ने उपन्यासो के अतिरिक्त 'रुक्मिणी परिणय' तथा 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' नामक दो रूपक भी लिखे। इनमे से 'रुक्मिणी परिणय' के सवाद प्राय अधिक लम्बे तथा अस्वाभाविक हैं। यहाँ प्राचीन नाट्य शैली को अपनाया गया है। कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ है तथा नाट्यकला का सुन्दर रूप दिखलाई नही देता। दूसरा 'प्रद्युम्न विजय व्यायोग' भारतेन्दु बाबू के 'धनजय व्यायोग' के उपरान्त हिन्दी का दूसरा व्यायोग है। इसमे भागवत के आधार पर श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न द्वारा शम्बरासुर के वध की कथा दी गई है। नाट्यकला की दृष्टि से यह ग्रथ भी साधारण ही है। परन्तु रूपक-क्षेत्र मे अपनी विधा के कारण इसका ऐतिहासिक महत्व है।

हरिऔध जी ने इतिहास तथा आलोचना के क्षेत्र मे भी पर्याप्त कार्य किया। आपने पटना विश्वविद्यालय के लिए हिन्दी-साहित्य के इतिहास पर का व्याख्यान तैयार किये थे, जो पुस्तकाकार रूप मे "हिन्दी भाषा और साहित्य विकास" के नाम से प्रकाशित हुए। इस ग्रथ मे इतिहास और भाषा-विज्ञान का सुन्दर सम्मिश्रण है तथा भाषा के स्वरूप, उसके उद्गम एव विकास आदि पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। सबमे बडी विशेषता यह है कि इस इतिहास-ग्रथ मे उर्दू भाषा के कवियो का भी उल्लेख मिलता है और उर्दू को भी हिन्दी भाषा की ही एक शैली स्वीकार किया गया है। इस ग्रथ के अतिरिक्त आपने "रसकलस" की भूमिका लिखी, जो आलोचना-साहित्य मे

प्रौढता एव प्राजलता की दृष्टि से अद्वितीय मानी जाती है। उसमे आपने रस-सम्बन्धी खोज एव अपनी रसगत मान्यताओ का सुन्दर विवेचन किया है तथा सभी रसो की आनन्द-स्वरूपता पर अत्यन्त मार्मिक दृष्टि से विचार किया है। इतना ही नही रीतिकालीन नायिका-भेद की भर्त्सना करते हुए आपने शृगार रस के रसराजत्व का वडा ही मार्मिक विवेचन किया है और नवीन नायिकाओ की भी उद्भावना की है। सारी भूमिका हरिऔध जी की गवेषणात्मक आलोचना का अत्यन्त उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करती है तथा आलोचनात्मक व्याख्या के प्रकाण्ड पाडित्य की ओर सकेत करती है। यही वात "कवीर वचनावली की भूमिका" मे दृष्टिगोचर होती है। इस भूमिका मे लेखक ने कवीर के जीवन-वृत्त, उनके शील, आचार, धर्म-प्रचार, विरोवी दल, अन्तिम कार्य आदि का वडा ही सराहनीय विवेचन किया है, तथा कवीर की साखियो पर अपने मार्मिक विचार प्रस्तुत किए हैं। यहाँ लेखक की प्रौढ भाषा, समीक्षा-पद्धति एव आलोचना की सामर्थ्य सर्वथा प्रशसनीय है। हरिऔध जी ने "वोलचाल की भूमिका" भी लगभग २४६ पृष्ठो मे लिखी है। इसमे विद्वान् लेखक ने वोलचाल की भाषा, ठेठ हिन्दी तथा हिन्दुस्तानी भाषा की उत्पत्ति सम्वन्धी सम्यक् विवेचना प्रस्तुत की है तथा उर्दू भाषा में प्रयुक्त छन्दो का गभीरता पूर्वक निरूपण किया है। आगे चलकर आपने वोल-चाल की भाषा तथा ठेठ हिन्दी के स्वरूप को समझाया है तथा हिन्दीभाषा को चार भागो मे विभक्त किया है—(१) ठेठ हिन्दी, (२) वोलचाल की भाषा, (३) सरल हिन्दी और (४) उच्च हिन्दी अथवा सस्कृत गर्भित हिन्दी। इस तरह यह भूमिका भी हिन्दी भाषा के अध्ययन की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इन भूमिकाओ के अतिरिक्त आपने प्रियप्रवास, वैदेहीवनवास आदि काव्यो के प्रारम्भ मे भी वडी ही सारगर्भित भूमिकाये दी है, जो आपके आलोचना-चातुर्य्य एव प्रकाड पाडित्य की द्योतक हैं।

हरिऔध जी ने कुछ ग्रथो के अनुवाद भी हिन्दी मे प्रस्तुत किए थे। इनमे से कुछ रचनायें गद्य मे और कुछ पद्य मे मिलती हैं। गद्य के अन्तर्गत वेनिस का वांका, रिपवान विकिल, और नीति-निवन्ध नामक ग्रथ आते हैं और पद्य मे उपदश-कुसुम तीन भाग और विनोद-वाटिका नामक ग्रन्थ आते हैं। इन सभी अनूदित ग्रन्थो की भाषा ठेठ हिन्दी है और सभी ग्रन्थ मौलिक से जान पड़ते हैं आपने फारसी के ग्रन्थ गुलिस्तां के आठवें अध्याय का अनुवाद उपदेश-कुसुम तीन भाग के नाम से किया था। और "गुलजारदबिस्तां" का अनुवाद 'विनोद-वाटिका' के नाम से किया था। दोनो ही ग्रथ शिक्षाप्रद हैं तथा इनमे सेवा, परोपकार, सरल व्यवहार, सत्य पालन, अहकारहीनता आदि

को समझाते हुए सत्यपथ का दिग्दर्शन कराया गया है। ये अनुवाद इतने सफल हैं कि इनमें मूल अर्थ कही भी विश्रृंखल नही हुआ है। यद्यपि मूल ग्रथ के कुछ दृष्टान्तों मे कवि ने परिवर्तन कर दिया है, तथापि मुख्य ग्रथ का आशय कही भी नष्ट नही हुआ है।

इस प्रकार हरिऔध जी ने मुक्तक कवितायें एव प्रवन्ध काव्य, उपन्यास, आलोचना, इतिहास, अनुवाद आदि के द्वारा अपनी वहुमुखी प्रतिभा का परिचय देते हुए हिन्दी-साहित्य के भण्डार को पूर्ण करने का स्तुत्य प्रयत्न किया था। आपकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि आपका गद्य और पद्य दोनो पर समान अधिकार था। आपने जितनी सजीवता एव मार्मिकता के साथ व्रज भाषा मे कविताएँ लिखी, उतनी ही सजीवता एव मार्मिकता आपकी खडी बोली की कविताओं मे भी विद्यमान है। पद्य के ही अनुरूप आपके खडी बोली के गद्य मे भी अत्यन्त परिष्कृत, प्राजल एव विशुद्ध भाषा के दर्शन होते हैं। यद्यपि आपका सम्पूर्ण साहित्य प्रयोगात्मक ही रहा, क्योंकि आपने हिन्दी में जिन-जिन अभावो के दर्शन किए, उनकी ही पूर्ति के लिए प्रयोग किये थे, फिर भी आपका वह प्रयोगात्मक साहित्य हिन्दी-साहित्य की अनूठी निधि है और भाषा एव साहित्य के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है।

काव्य-कला का क्रमिक विकास—जैसा कि अभी उल्लेख किया जा चुका है कि हरिऔध जी ने वचपन मे ही कविता करना प्रारम्भ कर दिया था। जिस समय आप लगभग १२-१३ वर्ष के थे और निज़ामाबाद के तहसीली स्कूल मे शिक्षा ग्रहण कर रहे थे, उसी समय आपने कबीर की तेतीस साखियो पर पचहत्तर कुण्डलियाँ लिखी थी, जो सन् १८७९ ई० मे "कवीर-कुण्डल" के नाम से प्रकाशित हुई। इन कुण्डलियो मे कवि हरिऔध ने साखी के भाव को वडी सजीवता के साथ स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। यद्यपि कवि का यह ग्रथ उनके वाल-चातुर्य का द्योतक है, फिर भी शब्द-चयन, भाव-प्रकाशन आदि मे अद्भुत प्रतिभा के वीज विद्यमान हैं। इस पुस्तक की रचना-शैली मे प्रारम्भिक प्रयास के कारण ग्रामीण शब्दो एव असयत भाषा का प्रयोग हुआ है। परन्तु कवि का प्रथम प्रयास होने के कारण इस ग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।

इसके तीन वर्ष उपरान्त सन् १८८२ ई० मे आपकी "श्रीकृष्ण-शतक" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। हरिऔध जी की यह प्रथम मौलिक रचना है, जिसमे एक सौ उन्नीस दोहो के अन्तर्गत भगवान् कृष्ण के परमब्रह्म स्वरूप का

गुणानुवाद गाया गया है। इस ग्रंथ में ही हरिऔध जी की काव्य-प्रतिभा का प्रथम प्रस्फुटन हुआ है, फिर भी यहाँ उनकी कवित्व-शक्ति अविकसित ही है। भाषा भी अधिक परिमार्जित नहीं है, उसमे व्रज और खड़ीबोली का सम्मिश्रण है। रचना-शैली साधारण है।

सन् १९०० ई० मे हरिऔध जी के चार ग्रंथ प्रकाशित हुए—प्रेमाम्बु वारिधि, प्रेमाम्बु-प्रवाह, प्रेमाम्बु-प्रस्रवण और प्रेम-प्रपच। इन चारो ग्रंथो मे कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण को ब्रह्म का अवतार मानकर उनके ब्रह्मत्व का बड़ी मार्मिकता के साथ निरूपण किया है।[1] इनमे से 'प्रेमाम्बु-वारिधि' मे कुल ७५ घनाक्षरी पद हैं, जिनके अन्तर्गत कवि ने भगवान् श्रीकृष्ण को अनादि, अनन्त, अगम, अगोचर, निरजन आदि कहा है तथा शेष, महेश, गणेश, सुरेश आदि सभी को उनके सम्मुख नतमस्तक होकर उनका गुणगान गाते हुए बतलाया है। इस ग्रंथ मे कवि ने भगवान् कृष्ण के गुणानुवाद गाने का आग्रह किया है और उन्हें ससार का नियता सिद्ध किया है। रचना-शैली पर प्राचीनता की छाप है। व्रजभाषा मे रचना की गई है और सम्पूर्ण ग्रंथ पर सूर, मीरा आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है।

"प्रेमाम्बु-प्रवाह" मे हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के वियोग मे व्याकुल गोपियो के विरह-कातर जीवन की अद्भुत झांकी प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ मे ४२ सवैये, ३० कवित्त तथा ७ घनाक्षरी पद हैं। सभी छन्दो मे गोपियो की विरह-विह्वल दशा का चित्रण अत्यन्त सजीवता के साथ किया गया है। वे मधुवन, हरी-हरी लतायें, यमुना-कछार, वशीवट आदि को देखकर किस तरह व्यथित होकर अपने प्रियतम कृष्ण के लिए विलाप करती हैं, इसी का निरूपण कवि ने यहाँ अपेक्षाकृत सशक्त व्रजभाषा मे किया है।[2] इस ग्रन्थ पर भी

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—पृ० ३०।

२ बावरी ह्वै जाती बार-बार कहि वेदन को,
　　विलखि-विलखि जो विहारथल रोती ना।
पीर उठे हियरो हमारो टूक टूक होत,
　　ध्याइ प्राननाथ जो कसक निज खोती ना।
प्यारे हरिऔध के पधारे परदेश दोऊ,
　　नैन नसि जात जो समन संग सोती ना।
तनु जरि जातो जो न अँसुआ ढरत ऊधो,
　　प्राण कढि जातो जो प्रतीति उर होती ना।
—प्रेमाम्बु-प्रवाह, पृष्ठ ४

कृष्ण-भक्त कवियो की छाप है। भाषा मे लाक्षणिकता नही है, अपितु सीधी एव सरल उक्तियो का प्रयोग हुआ है।

"प्रेमाम्बु-प्रस्रवण" मे हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के मनोहारी स्वरूप की सुन्दर झांकी प्रस्तुत की है। इसमे ५६ कवित्त तथा ३० सवैया छन्द हैं, जिनके अन्तर्गत श्रीकृष्ण-प्रेम का निरूपण करते हुए भगवद्भक्ति का उल्लेख किया गया है। भगवान् की रूप माधुरी देखकर एक भक्त किस तरह उनके स्वरूप मे अनुरक्त होता हुआ भगवत् प्रेम की परिपक्वावस्था को प्राप्त करता है और अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है इसी अवस्था का निरूपण कवि ने विभिन्न छन्दो मे किया है। इस ग्रन्थ मे भगवद्भक्ति के साथ-साथ स्वदेशोद्धार की भावना भरने का भी स्तुत्य प्रयत्न हुआ है। कवि की लोकाराधना अथवा लोक-सग्रह की भावना के भी दर्शन सर्वप्रथम इसी ग्रथ में होते हैं। यह ग्रथ भी सरस एव सुबोध ब्रजभाषा मे लिखा गया है तथा रचना-शैली पर भक्ति-काल के कवियो का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

सन् १९०० ई० मे चौथी पुस्तक "प्रेम-प्रपच" के नाम से प्रकाशित हुई। यह ग्रथ फारसी की पुस्तक "फिसाना अजायब" का हिन्दी अनुवाद है, जो दोहा, सोरठा, छप्पय, कुण्डलिया, रोला, बरवै, सवैया, घनाक्षरी पद आदि प्रचलित छन्दो मे किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना ब्रजभाषा का माधुर्य प्रकट करने की दृष्टि से की गई थी। इसमे फारसी के शेरो का ब्रजभाषा मे अत्यन्त सजीव एव सुष्ठु अनुवाद किया गया है। उर्दू-फारसी के मुहावरो का भी अनुवाद हिन्दी मे इतनी सफाई के साथ किया गया है कि अनुवाद मे मौलिकता के दर्शन होते हैं। भाषा मे सरलता एव ओज है, किन्तु ग्रामीण प्रयोगो की ही बहुलता है। मुहावरो का प्रयोग अच्छा किया गया है।

तदनन्तर १९०१ ई० मे हरिऔध जी की "उपदेश कुसुम" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमे हरिऔध जी ने "गुलिस्तां" के आठवें अध्याय का ब्रजभाषा मे अनुवाद किया है। परन्तु यह अनुवाद भी अत्यन्त सजीव एव मौलिक सा जान पडता है। इसमे पहले मूलग्रथ के भाव को खडीबोली के गद्य मे रखा गया है और उसके अनन्तर उसी भाव को दोहे मे व्यक्त किया गया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ उपदेशात्मक है और नैतिक विचारो के प्रचारार्थ लिखा गया जान पडता है। रचना-शैली सरल एव साधारण है, किन्तु कवि के अनुवाद-कौशल की छटा सर्वथा सराहनीय है।

१९०४ ई० मे हरिऔध जी की हिन्दी भाषा के बारे मे एक सुन्दर कविता "प्रेम-पुष्पोपहार" के नाम से प्रकाशित हुई। यह कविता आपने काशी

नागरी-प्रचारिणी सभा के भवन का उद्घाटन होने के अवसर पर पढी थी। यह हरिऔध जी की खडीबोली की सर्वप्रथम कविता है, इसमे हिन्दी भाषा की दीन-हीन दशा का वर्णन करते हुए कवि ने हिन्दी के प्रति प्रेम जाग्रत करने का भरसक प्रयत्न किया है और अन्त मे हिन्दी भाषा की सर्वाङ्गीण उन्नति के लिए कामना की है। इस कविता को पुस्तक का रूप दे दिया गया है। इसकी रचना-शैली सरल और सुन्दर है, कवि का खडी वोली में प्रथम प्रयास होने पर भी यह कविता अलकारपूर्ण है तथा खडी वोली के सरस रूप को प्रस्तुत करती है। कवि ने खडीबोली मे भी सर्वप्रथम मुहावरो का सुन्दर प्रयोग यहीं पर किया है।[1] आगे चलकर "बोलचाल", "चुभते-चौपदे" आदि ग्रथो मे इसी शैली का पूर्ण विकास दिखाई देता है।

इसके अनन्तर हरिऔधजी 'प्रियप्रवास' नामक महाकाव्य के लिखने मे लग गये। इस समय तक आप खडीवोली की रचना करने मे भी सिद्धहस्त हो चुके थे। अत १५ अक्टूबर १९०८ से लेकर लगभग ५ वर्ष के अथक परिश्रम के उपरान्त आपने १९१३ ई० में यह महाकाव्य समाप्त कर लिया। इसका प्रकाशन खड्गविलास प्रेस पटना से १९१४ ई० मे हुआ था। हिन्दी मे सस्कृत वृत्तो के अन्तर्गत इतना वडा १७ सर्गों का काव्य लिखना हरिऔध जी की अद्भुत प्रतिभा एव अनुपम काव्य कौशल का द्योतक है। वैसे श्रीजयशकर प्रसाद उस समय तक संस्कृत वर्णवृत्तो मे कवितायें प्रस्तुत कर चुके थे, परन्तु अभी तक सस्कृत वर्णवृत्तो मे ही नही, किसी भी छन्द में आधुनिक खडीवोली के अन्तर्गत कोई भी महाकाव्य नही लिखा गया था। हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' लिखकर उसी अभाव की पूर्ति की। यह काव्य कथावस्तु, भाव-निरूपण, रचना-शैली, भाषा, वृत्त आदि सभी दृष्टियो से अनुपम एवं अद्वितीय है, इसकी विस्तृत आलोचना आगामी प्रकरणो मे की जायेगी।

प्रियप्रवास के चार वर्ष उपरान्त १९१७ ई० मे हरिऔध जी का "ऋतुमुकुर" नामक काव्य-ग्रथ प्रकाशित हुआ। इसमे उनकी व्रजभाषा मे रची हुई ऋतु सम्वन्धिनी कविताएँ सगृहीत हैं, जिनमे कवि ने अपनी प्रशस्त

---

१. पर नहीं जो आप लोगो को हुआ,
आज भी इसकी दशा का ध्यान कुछ।
तो फिरेगी झांकती सब दिन कुआ,
हाय! होगा मान भी इसका न कुछ।
—प्रेमपुष्पोपहार, पृ० ४

लेखनी द्वारा शरद, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म और पावस ऋतुओ का बडा ही मार्मिक वर्णन किया है। यहाँ सर्वत्र प्रकृति को उद्दीपन रूप में ही अधिक अंकित किया गया है और प्राकृतिक शोभा के निरूपण मे परम्परागत बातों का ही उल्लेख अधिक दिखाई देता है।[1] फिर भी भाषा की कमनीयता एव अलकारो की रमणीयता कवि के अनुपम कौशल की द्योतक हैं। रचना शैली पर रीतिकालीन कवियो का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है।

इसी वर्ष १९१७ ई० में ही हरिऔधजी की "पद्य-प्रमोद" नामक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई। इस कविता-सग्रह मे कवि की खडीबोली मे लिखी हुई ५३ कवितायें सकलित हैं, जो समय-समय पर तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित हो चुकी थी। इनमे से 'धर्मवीर' 'कर्मवीर' आदि कवितायें उपदेशात्मक हैं तथा कर्मण्यता का सचार करने वाली हैं।[2] कुछ कवितायें प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी हैं, कुछ समाज के उत्थान पर लिखी गई हैं और कुछ सामाजिक दुष्प्रवृत्तियो का दिग्दर्शन कराने के लिए लिखी गई हैं। भारत-गीत, विद्या, प्रेमधारा, धर्मवीर, कर्मवीर, चित्तौड की एक शारद रजनी, सती-सीता, सुतवती सीता, उर्मिला, मतलब की दुनिया आदि कवितायें सुन्दर और

---

१ काढ़ि लैहै क्वैलिया करेजो कूकि कुजन मैं
बावरी करैगे मौरि आम अमराई मैं।
गूंजि गूंजि भौंरन की भीर हू अधीर कैहै,
पीर हू उठैगी पीरे पात की पिराई मैं।
ए हो हरिऔध मेरे हिय ना हुलास रै है,
वारिज विकास हेरे पास की तराई मैं।
अन्तक लौं अन्त ए करैगे काम तन्त वारे,
कन्त जो न आयो या बसन्त की अवाई मैं।
—ऋतुमुकुर, पृ० २०

२ काम को आरम्भ करके यों नहीं जो छोडते।
सामना करके नहीं जो भूल कर मुँह मोड़ते॥
जो गगन के फूल बातों से वृथा नहि तोडते।
सपदा मन से करोडों की नहीं जो जोड़ते॥
बन गया हीरा उन्हीं के हाथ से है कारबन।
कांच को करके दिखा देते हैं वे उज्ज्वल रतन॥
—पद्य-प्रमोद, पृ० ४३

सजीव हैं। रचना-शैली सरल और अभिधापूर्ण है। सर्वत्र कवि ने खडीबोली के शुद्ध एव प्राजल रूप को अपनाया है। छन्दो मे उर्दू की सी बहरों का भी आनन्द यत्र-तत्र मिल जाता है। वैसे अधिकाश मात्रिक छन्द ही अपनाये गये हैं। भाषा बोलचाल के निकट है।

इसके ७ वर्ष उपरान्त १९२४ ई० में हरिऔध जी की दो प्रमुख कविता-पुस्तकें प्रकाशित हुईं—(१) चोखे चौपदे और (२) चुभते चौपदे। 'चोखे चौपदे' को 'हरिऔध हजारा' नाम भी दिया गया है। यह कविता-पुस्तक नौ खण्डों मे सकलित है—(१) गागर में सागर, (२) केसर की क्यारी, (३) अनमोल हीरे, (४) काम के कलाम, (५) निराले नगीने, (६) कोर कसर, (७) जाति के कलक, (८) तरह-तरह की बातें और (९) बहारदार बातें। इन सभी खण्डो मे कवि ने विभिन्न विषयो पर कवितायें लिखी हैं और मीठी-मीठी चुटकियाँ लेते हुए तत्कालीन समाज की बुराइयो को चित्रित किया है। इस सग्रह मे कही ईश्वर सम्बन्धी विचार हैं, कहीं माँ के वात्सल्य का वर्णन है, कहीं समाज के निराले लोगो का चित्रण है और कहीं प्रकृति की मनोरम झाँकी अकित की गई है। सारे सग्रह मे ४७ कविताएँ हैं, जिनमें मानव की अन्तर्बाह्य प्रकृति का बडा ही सजीव एव व्यग्यपूर्ण वर्णन किया गया है। उक्तियो की सरलता एव मार्मिकता सर्वत्र दर्शनीय है।[१] सम्पूर्ण चौपदे उर्दू के वजन पर लिखे गये हैं। जहाँ-तहाँ उर्दू, फारसी, ब्रजभाषा आदि के भी शब्द आगये हैं। परन्तु सर्वत्र सरस, सुबोध तथा मुहावरेदार खडीबोली का ही प्रयोग हुआ है। रचना-शैली मे आलकारिक छटा के साथ-साथ ओज एव व्यग्य दर्शनीय हैं।

इसी वर्ष 'चुभते चौपदे' नामक काव्य भी प्रकाशित हुआ। इस काव्य का नाम 'चुभते चौपदे' अथवा 'देश-दशा' दिया गया है। यह काव्य भी १३ भागो मे विभक्त है—(१) गागर मे सागर, (२) जाति के जीवन, (३) हित-गुटके, (४) काम के कलाम, (५) सजीवन बूटी, (६) जगाने की कल, (७) विपत्ति के बादल, (८) नाडी की टटोल, (९) जाति-राह के रोडे,

---

१ वे चुहल के, चाव के पुतले बने,
चोचलों का रग है पहचानते।
चाल चलना, चौंकना, जाना मचल,
दिल चलाना, दिलचले हैं जानते ॥
—चोखे चौपदे, केसर की क्यारी, पृ० ६३

(१०) आठ-आठ आँसू, (११) जन्मलाभ, (१२) पारस-परस और (१३) परिशिष्ट। इस ग्रन्थ में तत्कालीन समाज की दुर्बलताओं का अत्यन्त सजीवता के साथ व्यंग्यात्मक शैली मे वर्णन किया गया है। कवि ने समाज के कायर, आलसी, अकर्मण्य, परमुखापेक्षी, धर्मांध, अंधविश्वासी, छूआछूत फैलाने वाले, ढोंगी, पाखण्डी, मनचले, निर्लज्ज आदि महापुरुषो पर अच्छी फबतियाँ कसी हैं। समाज मे 'बेजोड ब्याह' की कुरीति पर व्यंग्य करते हुए आपने उन बूढे लोगो की भी खूब खबर ली है, जो कम उम्र की लडकियो से विवाह करने के लिए तैयार हो जाते हैं।[1] आधुनिक सभ्यता का जामा पहन कर हमारी देवियो ने किस तरह अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर डाला है और वे किस तरह अपनी लाज, शरम तथा कुल धर्म को छोड बैठी हैं—ये सभी बातें भी हरिऔधजी की आँखो से ओझल नही हुई थी। अत उन पर भी करारा व्यंग्य करते हुए कविने उन्हे सचेत होने का अनुरोध किया है।[2] रचना-शैली अत्यंत सजीव एवं ओजपूर्ण है। भाषा खडीबोली है और बोलचाल के सर्वथा निकट

---

१ हो बडे बूढ़े न गुड़ियों को ठगें,
पाउडर मुँह पर न अपने वे मलें।
ब्याह के रंगीन जामा को पहन,
बेईमानी का पहन जामा न लें॥
छोकरी का ब्याह बूढ़े से हुए,
चोट जी मे लग गई किसके नहीं।
किसलिए उस पर गड़ाये दाँत वह,
दाँत मुँह में एक भी जिसके नहीं॥
—चुभते चौपदे, पृ० १६०

२ जाति की कुल की, धरम की लाज की।
बेतरह ए ले रही हैं फबतियाँ।
हैं लगाती ठोकरें मरजाद को।
देवियाँ हैं या कि ए हैं बीवियाँ॥
सब घरों को दें सरग जैसा बना।
लाल प्यारे देवतों जैसे जनें।
अब रहे ऐसे हमारे दिन कहाँ।
देवियाँ जो देवियाँ सचमुच बनें॥
—चुभते चौपदे, पृ० १४७-१४८

है। उसमें उर्दू, अंग्रेजी आदि के प्रचलित शब्द पर्याप्त मात्रा में आये हैं। सरलता एव स्पष्टवादिता इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं।

तदनन्तर १९२५ ई० मे हरिऔधजी की "पद्यप्रसून" नामक पुस्तक प्रकाशित हुई। इसमे हरिऔधजी की फुटकल कविताएँ सगृहीत हैं। पहले ये कविताएँ चार भागो मे प्रकाशित हुई थी, किन्तु पीछे सबको एकही ग्रन्थ मे सकलित कर लिया गया। अब यह ग्रथ ८ भागो मे विभक्त है—(१) पावन प्रसून, (२) जीवन-स्रोत, (३) सुशिक्षा-सोपान, (४) जीवनी धारा, (५) जातीयता-ज्योति, (६) विविध विषय, (७) दिव्य दोहे और (८) वाल-विलास। इस ग्रन्थ मे कवि ने शीर्षको के अनुसार ही अपनी विविध कविताओ को सकलित किया है। इन कविताओ मे कवि ने हिन्दुत्व, वेद, जीवन-मरण, अहिंसा, जाति-प्रेम, छूआछूत, भाषा-प्रेम, चतुर नेता आदि विषयो पर बडी गहनता से विचार किया है। सम्पूर्ण कवितायें सामाजिक एव धार्मिक विचारो से ओत-प्रोत हैं तथा मानव के नैतिक जीवन को समुन्नत बनाने वाली हैं। समाज की धार्मिक सकीर्णता एव सामाजिक कुरीतियो की भर्त्सना करते हुए कवि ने समाज को अज्ञान-निद्रा से जाग्रत करने का सफल प्रयत्न किया है। सभी कविताएँ खडीबोली के शुद्ध एव प्राजल रूप को प्रस्तुत करती हैं तथा रचना-शैली अत्यन्त सजीव एव मार्मिक है। जहाँ-तहाँ आलकारिक पदावली भी कवि की कलात्मक चातुरी का परिचय दे रही है।

इसके उपरान्त १९२८ ई० मे हरिऔध जी का "बोलचाल" नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ पर कवि ने अथक परिश्रम करके हिन्दी में प्रचलित समस्त मुहावरो पर पद्य-रचना की है। यहाँ कवि ने बाल से लेकर तलवे तक समस्त अगो, शारीरिक चेष्टाओ एव व्यापारो से सम्बन्धित सभी मुहावरो पर बोलचाल की भाषा मे भावमयी कवितायें रची हैं। इस ग्रन्थ-रचना का कारण यह था कि उस समय हिन्दी मे मुहावरो का प्रयोग ठीक-ठीक नहीं होता था और हिन्दी मे ऐसी कोई पुस्तक भी नहीं थी, जिसमे मुहावरो का ठीक-ठीक प्रयोग करके रचना की गई हो। सर्वत्र मुहावरो की छीछालेदर हो रही थी और मुहावरो के प्रयोग से हीन होकर हिन्दी भाषा सर्वथा निर्जीव सी जान पडती थी। इसी कारण कवि हरिऔध ने बोलचाल की भाषा के अतर्गत मुहावरो का यह सुन्दर ग्रन्थ "बोलचाल" के नाम से लिखा। इन मुहावरेदार पद्यो मे सजीवता, मार्मिकता, व्यग्य, हास्य, चुटीला-पन आदि अनेक विशेषताएँ भरी पडी हैं। अधिकाश मुहावरो के प्रयोग इतने सुष्ठु, सुन्दर एव चित्ताकर्षक हैं कि उन में उक्ति-वैचित्र्य, अर्थ-गाभीर्य तथा

प्रयोग-साफल्य पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है।[1] रचना-शैली अत्यत सजीव एव मार्मिक है। भाषा मे उर्दू, फारसी, अग्रेजी आदि के प्रचलित शब्दो का प्रयोग हुआ है और उर्दू की वहरो के वजन पर छन्दो की रचना हुई है। अलकार भी पर्याप्त मात्रा मे भरे पडे हैं। सम्पूर्ण कविता लक्षणा एव व्यजना से परिपूर्ण है।

इसके तीन वर्ष उपरान्त १६३१ ई० मे "रसकलस" नामक ब्रजभाषा का ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ मे कवि ने शृगार-रस की अश्लीलता का निवारण करते हुए उसकी 'रसराज' उपाधि को अक्षुण्ण बनाये रखने की चेष्टा की है तथा सभी रसो का सोदाहरण मार्मिक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त कवि ने इस ग्रन्थ मे नवीन ढग से नायिका-भेद भी उपस्थित किया है। आपने नायिकाओ के भेद पहले तो परम्परा के अनुसार ही किए हैं, परन्तु उत्तम स्वभाव वाली नायिका के जो भेद किए हैं वे सर्वथा नूतन एव आधुनिक युग के अनुकूल हैं। यहाँ कवि ने उत्तमा नायिका के आठ भेद किए हैं—(१) पतिप्रेमिका, (२) परिवार-प्रेमिका, (३) जाति-प्रेमिका, (४) देशप्रेमिका, (५) जन्मभूमि-प्रेमिका (६) निजता-अनुरागिनी (७) लोकसेविका और (८) धर्मप्रेमिका। ऐसे भेद किसी भी रीति-ग्रन्थ मे नही मिलते। यह वर्गीकरण करके उक्त नायिकाओ के स्वभाव, चेष्टा, व्यापार, कार्य-प्रणाली आदि का भी अत्यन्त सजीवता के साथ निरूपण किया है।[2] इसके साथ ही कवि ने अपने इस ग्रन्थ मे नायक-निर्वाचन के अन्तर्गत

---

१. थी कभी चमकी जहाँ पर चाँदनी, देख पडती है घटा काली वहीं।
धूल सिर! तुम पर गिरी तो क्या हुआ, फूल चन्दन ही सदा चढ़ते नहीं॥
—बोलचाल, पृष्ठ १७

२ 'पति प्रेमिका' का वर्णन इस तरह किया है :—

सेवा ही में सास औ ससुर की सदैव रहे,
सौतिन सों नाहि सपने हू में लरति है।
सील सुघराई त्यों सनेह-भरी सोहति है,
रोस, रिस, रारि और क्यो हूँ ना ढरति है।
"हरिऔध" सकल गुनागरी सती समान,
सूधे-सूधे भायन सयानप तरति है।
परम पुनीत पति-प्रीति में पगी रहे,
प्रान धन प्यारे पै निछावरि करति है।

भी नवीनता दिखाई है, क्योकि जिस तरह आपने नवीन-नवीन नायिकाओ की उद्भावना की है, उसी तरह कुछ नये-नये नायको की भी गणना की है। जैसे कर्मवीर, धर्मवीर, महत, नेता, साधू आदि। इनके स्वभाव, आचरण, क्रिया-कलाप आदि का भी अत्यन्त सफलता के साथ वर्णन किया है। कवि के इस ग्रन्थ मे प्रकृति-चित्रण भी वडा ही सजीव एव चित्ताकर्षक है। होली के वर्णन में कवि की सूक्ष्म निरीक्षणता सर्वथा प्रशसनीय है। रचना-शैली अपेक्षाकृत उत्कृष्ट एव चमत्कार पूर्ण है। अलकारो का अत्यन्त सफलता के साथ प्रयोग किया गया है तथा ब्रज भाषा का वडा ही परिष्कृत एवं प्राजल रूप अपनाया गया है। कवि का यह ग्रथ सरसतागत, शालीनता एव कवि-कुशलता की दृष्टि से सर्वथा प्रशसनीय है। छन्द परम्परा ही है, परन्तु भाव, विचार एवं वर्णन की दृष्टि से इस ग्रथ मे नवीनता के दर्शन होते हैं।

तदनन्तर सन् १९३५ ई० मे हरिऔध जी का एक और ग्रंथ वोलचाल की भाषा में ही "फूल पत्ते" के नाम से प्रकाशित हुआ। इसे "वोलचाल के कुछ अनूठे वेलवूंटे" नाम भी दिया गया है। क्रमानुसार वोलचाल की भाषा मे लिखा हुआ कवि का यह चतुर्थ ग्रथ है। इसके अन्तर्गत आई हुई समस्त कविताओ को कवि ने १३ भागो मे विभक्त करके रखा है—(१) भेद भरी वातें, (२) दिल के फफोले, (३) पते की वातें, (४) आंसू पर आंसू, (५) प्रेमी पखेरू, (६) देखभाल, (७) अपने अरमान, (८) चटपटी वातें, (९) मातम, (१०) लानतान (११) दुखियो के दुखडे, (१२) वेतुकी वातें, और (१३) होली का हौआ। इस ग्रथ मे भी कवि ने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियो एव कुप्रवृत्तियो का अच्छा दिग्दर्शन कराया है। साथ ही समाज सुधार की प्रेरणा भी पर्याप्त मात्रा मे दी गई है।[१] रचना-शैली अन्य वोलचाल के ग्रथ के अनुकूल ही व्यग्य प्रधान है। इस ग्रथ की भूमिका वडी मार्मिक एव महत्वपूर्ण है। उसमें कवि ने वोलचाल की भाषा में की हुई कविता के महत्व पर अत्यन्त गम्भीरता के साथ विचार किया है।

---

१ क्या होगया, समय क्यों, वे ढंग रग लाया।
क्यों घर उजड रहा है, मेरा बसा वसाया॥
सुन्दर सजे फवीले, थे फूल, जिस जगह पर।
अव किस लिए वहां पर कांटा गया विछाया॥

—फूलपत्ते, पृ० १३।

इसके दो वर्ष पश्चात् १९३७ ई० मे आपका "पद्यप्रसून" नामक कविता ग्रथ प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे हरिऔध जी की समय-समय पर पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित खडीवोली की कविताएँ सकलित की गई हैं। इस ग्रथ की कविताओ को भी ८ खण्डो मे विभक्त करके प्रकाशित किया गया है—(१) पावन प्रसून, (२) जीवन-स्रोत, (३) सुशिक्षा-सोपान, (४) जीवनीधारा, (५) जातीयता-ज्योति, (६) विविध विपय, (७) दिव्य दोहे, और (८) वाल-विलास। इन कविताओ मे भी हरिऔध जी ने तत्कालीन समाज पर छीटे कसे हैं तथा मानवीय दुर्वलताओ एव दुराचारो की ओर सकेत करते हुए समाज को समुन्नत वनाने का प्रयत्न किया है। सारी कवितायें यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं। सामाजिक कुरीतियो एव धार्मिक ढकोसलो का अच्छी तरह पर्दाफाश किया गया है तथा जातीय-जीवन की ज्योति जाग्रत करने का स्तुत्य प्रयत्न मिलता है। अन्तिम 'वाल-विलास' खण्ड मे वालको के नैतिक स्तर को समुन्नत वनाने वाली कविताएं सकलित की गई है। इस ग्रथ की सभी कविताएँ भेद-भाव, छूआछूत ऊँच-नीच आदि की वुरी भावनाओ को दूर करके सम्पूर्ण समाज मे एकता, अनुराग, धार्मिक सहिष्णुता, उदारता, ईश्वर-प्रेम, विश्ववधुत्व आदि की भावनायें जाग्रत करने के लिए लिखी गई हैं।[1] रचना-शैली सरल, किन्तु ओजपूर्ण है। सर्वत्र वोलचाल के अनुकूल क्लिष्टता-हीन खडी वोली का प्रयोग मिलता है।

इसी वर्ष १९३७ ई० मे हरिऔध जी का दूसरा कविता-सग्रह "कल्पलता" के नाम से लखनऊ से प्रकाशित हुआ। यह सग्रह २० खण्डो मे विभक्त है—(१) विभुता-विभूति, (२) लोकरहस्य, (३) अन्तर्नाद, (४) जातीय सगीत (५) मत्र साधना, (६) प्रकृति-प्रमोद, (७) सूक्ति-समुच्चय, (८) कमनीय कामना, (९) नीति-निचय (१०) मर्मवेध, (११) मर्मस्पर्श, (१२) सजीवन रस, (१३) जीवन-सग्राम, (१४) विविध

१—खोजे खोजी को मिला क्या हिन्दू क्या जैन।
पत्ता पत्ता क्या हमे पता वताता है न॥
रग रंग मे जब रहे सकें रग क्यों भूल।
देख उसी की फबन सव फूल रहे हें फूल॥
आय जगत उसका करें, पूजें पाँव सचाव।
सबसे ऊँचा जो रहा रख कर ऊंचा भाव॥
—पद्यप्रसून, पृ० ३।

रचनावली, (१५) विजयिनी विजय, (१६) दीपमालिका दीप्ति, (१७) फागराग, (१८) बाल-विलास, (१६) काम के कवित्त, और (२०) ब्रज-भाषा के पद। इन खण्डो से ही स्पष्ट हो जाता है कि कवि का यह कविता-सग्रह कितनी विविधताओ से भरा हुआ है। इस सग्रह में भी हरिऔध जी की वे ही सब कवितायें हैं, जिनमे उन्होने सामाजिक, धार्मिक एव नैतिक जीवन मे व्याप्त कुप्रवृत्तियो, कुरीतियों एव कुचालको का भडाफोड किया है। यहाँ भी सभी कवितायें कवि के यथार्थवादी दृष्टिकोण को प्रस्तुत करती हैं तथा वे कबीर की भाँति स्पष्टवादी होकर समाज सुधारक के पद पर आसीन दिखाई देते हैं। इन कविताओ मे तत्कालीन समाज की दुर्बलताओ के अति-रिक्त समसामयिक मस्ती, उत्सवप्रियता, आनन्द-उल्लास आदि की सजीव झाँकी भी मिल जाती है। अतिम खड को छोड कर सभी कविताए सरल तथा सुबोध खडी बोली में हैं। अन्तिम खड सरस एव परम्परागत ब्रजभाषा मे लिखा गया है। रचना-शैली अत्यन्त प्रौढ एव सशक्त है। गीत अत्यन्त मनोहर हैं तथा प्रकृति-चित्रण अतीव चित्ताकर्षक है।

इसी वर्ष दिसम्बर १६३७ ई० मे हरिऔध जी का बृहत् काव्यग्रन्थ "पारिजात" समाप्त हो गया। इसे कवि ने 'महाकाव्य' बतलाया है। यह १५ सर्गों मे लिखा गया है। विशालता की दृष्टि से तो यह एक महान् काव्य है, परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इसे महाकाव्य नही कहा जा सकता, क्योकि इसमे न तो प्रबधात्मकता है, न चरित्र-चित्रण है और न सधिविधान है। केवल कुछ सर्गो के शीर्षको के रूप मे दृश्यजगत्, अन्तर्जगत्, सासारिकता, स्वर्ग, कर्म-विपाक, प्रलय प्रपच, सत्य का स्वरूप, परमानन्द आदि का विवेचन किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मुक्तक काव्य की कोटि मे आता है। इस काव्य का सम्पूर्ण विषय आध्यात्मिक एव आधिभौतिक है। इसमे कवि ने ईश्वर की अगम्य महिमा, स्वर्ग-नरक की कल्पना, ससार की प्रपचता, अवतारो का रहस्य, दर्शन की गहनता, धर्म का वास्तविक स्वरूप आदि विषयो को अत्यन्त गभीरता के साथ व्यक्त किया है। सम्पूर्ण काव्य कवि की गहन अनुभूति, प्रौढ विचार, परिपक्व बुद्धि एव आध्यात्मिक प्रवृत्ति से परिपूर्ण है। यहाँ कवि के दार्शनिक विचार अत्यन्त ओजस्विनी शैली मे व्यक्त हुए हैं।[1] 'दिव्य दश-

---

१—दिव्या भूति अचिन्तनीय कृति की ब्रह्माण्ड-माला-मयी,
तन्मात्रा जननी ममत्व-प्रतिमा माता महत्तत्व की।
सारी सिद्धिमयी विभूति-भरिता संसार सचालिका,
सत्ता है विभु की नितान्त गहना नाना रहस्यात्मिका॥

पारिजात, पृ० १४।

मूर्ति' नामक कविता में कवि ने अवतारो की नवीन ढग से व्याख्या की है। यहाँ कच्छ, मच्छ, वाराह, परशुराम आदि के स्थान पर राममोहन राय, रामकृष्ण परमहस, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, दयानद सरस्वती, गोविन्द रानाडे, स्वामी रामतीर्थ, लोकमान्य तिलक, गोपालकृष्ण गोखले, मदनमोहन मालवीय और मोहनदास करमचन्द गान्धी का नवीन दशक पाठको के सम्मुख प्रस्तुत किया गया है। प्रकृति के गूढ एव मनोरथ दृश्यो का चित्रण भी अत्यन्त सजीव एव चित्ताकर्षक है। प्रकृति को सचेतन मानकर उसकी सजीव कल्पना की गई है।[1] इस तरह कवि ने अपने इस वृहतकाय काव्य मे आधुनिक युग के अनुकूल विचारो को व्यक्त करके जनता के अधविश्वास, रूढ़िवादिता, धर्मांधता, पौराणिक अज्ञान आदि को दूर करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है। रचना-शैली प्रौढ एव सशक्त है। सर्वत्र ओजगुण की प्रधानता है। आध्यात्मिक एव आधिभौतिक विचारो की गहनता के कारण दार्शनिकता के दर्शन अधिक होते हैं और सरसता अपेक्षाकृत कम है। अलकारो का भावानुकूल प्रयोग हुआ है। भाषा कहीं सरल और कही क्लिष्ट सस्कृतमयी है। यहाँ मात्रिक और वार्णिक दोनो प्रकार के छन्द अपनाये गये हैं।

इसके उपरान्त १९३८ ई० मे हरिऔध जी की "ग्राम गीत" नामक कविता-पुस्तक प्रकाशित हुई। इस कविता-सग्रह मे ग्रामीण जनो के हितार्थ लिखी हुई कवितायें सकलित हैं। हरिऔध जी ने ग्रामीणजनो के लिए कितनी ही कवितायें लिखी थी, जिनमे गाव का जीवन, सफाई, सच्ची साध, सेवा भावना, देश प्रेम आदि का निरूपण करते हुए ग्रामीणजनो मे फैले हुए अंधविश्वास, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, भेद-भाव, स्वार्थ, दभ, छल-कपट आदि को दूर करने का प्रयत्न किया था। उन सभी कविताओ को इस सग्रह में सगृहीत किया गया है। कवि ने इस ग्रथ मे ग्राम्य जीवन को सुखद एव सुन्दर बनाकर ग्रामवासियो के उज्ज्वल भविष्य की मगल कामना की है।[1] सम्पूर्ण सग्रह

१—प्रकृति वधू ने असित बसन बदला सित पहना।
तन से दिया उतार तारकावलि का गहना॥
उस का नव अनुराग नील नभतल पर छाया।
हुई रागमय दिशा, निशा ने बदन छिपाया॥
—पारिजात, पृ० ५४।

२—सारे दिन ऐसे ही आवें।
फूले फलें रहें सब पौधे पक्षी मीठा गान सुनावें।

मुक्तक गीतो एव घनाक्षरी पदो मे लिखा गया है। रचना-शैली सरल एव सरस है। भाषा अत्यन्त सुबोध एव तद्भव शब्द प्रधान है। उपयोगिता की दृष्टि से यह सग्रह ग्रामीण जनो के लिए अत्यन्त लाभप्रद है।

इसके एक वर्ष पश्चात् १६३६ ई० मे कवि का "वाल-कवितावली" नामक कविता-सग्रह प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे वालको को नैतिक शिक्षा देने के लिए कवि ने कितनी ही कवितायें लिखी हैं और यह समझाया है कि वालको को अपने माता-पिता, गुरुजन, शिक्षक, साथी, सहपाठी आदि के साथ किस तरह वर्त्ताव करना चाहिए, प्रात उठ कर उन्हे क्या-क्या कार्य करने चाहिए, और कैसे अपना जीवन उन्नत बनाना चाहिए। यह सग्रह वच्चो के लिए अत्यन्त उपयोगी है। रचना-शैली भी अत्यन्त सरल, सरस और सुबोध है। वच्चो की दृष्टि से ही सारी कवितायें लिखी गई हैं। जिसमे कही शिक्षाप्रद गीत हैं, तो कही सुखद लोरियाँ हैं।[1] कही जानवरो की बोलियाँ हैं, तो कही वदर, तितली, कोयल आदि के सजीव वर्णन हैं। यहाँ कवि ने वाल मनो-विज्ञान के आधार पर ही सभी कवितायें रची हैं। ये सभी कवितायें वाल-साहित्य का श्रीगणेश करने वाली हैं और हिन्दी-साहित्य की अनुपम निधि हैं।

तदनन्तर १६४१ ई० में हरिऔध जी का तीसरा प्रसिद्ध महाकाव्य "वैदेही-वनवास" प्रकाशित हुआ। यह १८ सर्गों का महाकाव्य है। इसमें मर्यादा पुरुषोत्तम राम तथा सीता के लोक हितैषी एव लोक-सग्रह-शील-जीवन की झाँकी प्रस्तुत की गई है। इस महाकाव्य के लिखने से पूर्व 'प्रिय-प्रवास' को देखकर आलोचको ने हरीऔध जी के सामने दो वातें रखी थी, प्रथम तो यह कि आपकी रचना सस्कृत शब्दावली से अधिक ओत-प्रोत है। दूसरे आपके काव्य मे प्रकृति-चित्रण की विविधता के दर्शन नहीं होते। महाकवि हरीऔध

प्यारी हवा रहे बहती ही, मेघ समय पर जल बरसावें।
रहें खेत सिंचते लहराते, भरे उमग किसान दिखावें।

—ग्रामगीत, पृ० ८।

१—उठो लाल आँखों को खोलो। पानी लाई हूँ मुह धोलो॥
वीती रात कमल सब फूले। उनके ऊपर भौंरे झूले॥
नभ मे न्यारी लाली छाई। धरती पी फाटी छवि पाई॥
ऐसा सुन्दर समय न खोवो। मेरे प्यारे अब मत सोवो॥

—वाल कवितावली पृ० ५७।

ने उक्त दोनो अभावो की पूर्ति करते हुए सरल एवं सरस खडी बोली मे प्रकृति की विविध मनोरम झाँकियो से युक्त महारानी सीता एवं पुरुषोत्तम राम के पावन चरित्रो का चित्रण करने के लिए इस "वैदेही वनवास" की रचना की । यह ग्रथ भी पौराणिक है । सारी कथा राम के लोकानुरजनकारी इति वृत्त को लेकर चली है[1] तथा इसमे कवि ने आध्यात्मिक विचारो का भी सुदर निरूपण किया है । यहाँ भी 'प्रिय प्रवास' की भाँति अधिकाश घटनायें घटित होती हुई न दिखाकर वर्णित ही हैं तथा राम को अवतारी पुरुष न दिखाकर एक साधारण मानव के रूप मे चित्रित किया गया है । अन्य ग्रंथों की अपेक्षा यहाँ विशेषता यह है कि यहाँ राम तथा सीता का सारा जीवन नियति के हाथो से सचालित होता हुआ ही दिखाया गया है । प्रकृति-चित्रण अत्यत भव्य एव मनोमोहक है ।[2] रचना शैली वडी अनूठी, सरस एव सुबोध है । भाषा तद्भव शब्द प्रधान खडी बोली है, जो सर्वत्र भावानुकूल है । रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलकार भी बडी ही सजीवता के साथ प्रयुक्त हुए हैं, आधुनिक अलकार जैसे मानवीकरण, ध्वन्यर्थ व्यजना, विशेषण विपर्य आदि भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं । सर्वत्र रोला, दोहा, चतुष्पद, त्रिलोकी, ताटक, पादाकुलक, सखी आदि मात्रिक छन्दो को अपनाया गया है । सम्पूर्ण काव्य प्रसाद, माधुर्य एव ओज से परिपूर्ण है तथा इसमे उपदेशात्मकता एवं इतिवृत्तात्मकता की प्रधानता है ।

तदनन्तर ६ वर्ष उपरान्त हरिऔध जी के समस्त दोहो का सकलन "हरिऔध सतसई" के नाम से प्रकाशित हुआ । इसका प्रथम सस्करण १९४७ ई० मे निकला था और द्वितीय सस्करण १९५४ ई० में निकला । इस ग्रथ मे हरिऔध जी की दोहा छद मे लिखी हुई कविताओ को १७ शीर्षको मे विभक्त करके प्रकाशित किया गया है । वे शीर्षक इस प्रकार हैं—(१)

---

१ पहन कर लोकाराधन मत्र, करूँगा मैं इसका प्रतिकार ।
साधकर जनहित-साधन सूत्र, करूँगा घर-घर शान्ति-प्रसाद ।

वैदेही वनवास, तृतीय सर्ग, पृ० ५१

२ प्रकृति का नीलाम्बर उतरे,
श्वेत साड़ी उसने पाई ।
हटा घन-घूंघट शरवाला,
विहँसती महि मे थी आई ॥

वैदेही वनवास, दशम सर्ग, पृ० १४४

विनीत विनय, (२) गुणगान, (३) गुरु गौरव, (४) माता-पिता-महत्व, (५) शिख नख, (६) नीति, (७) कुसुम क्यारी, (८) मत्तमिलिन्द, (९) कान्त कामना, (१०) विविध, (११) वरवधू, (१२) प्रकीर्णक, (१३) अकान्त करतूत, (१४) विश्व प्रपच, (१५) महाभारत, (१६) भारतभूमि और (१७) कविकीर्ति। हरिऔध जी का यह ग्रथ सतसई की परम्परा मे महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। इसमे नीति एव उपदेश की प्रधानता है। किन्तु भगवद्भक्ति, वात्सल्य भाव, शृगार, वीर भावना, प्राकृतिक शोभा आदि पर भी अनेक दोहे लिखे गये हैं। दोहा छद मे कवि ने अपने नैतिक दृष्टिकोण को वडी सरसता के साथ व्यक्त किया है।[1] इस ग्रथ मे समास पद्धति का प्रयोग करते हुए अर्थ गाभीर्य एव उक्ति वैचित्र्य का पर्याप्त पुट दिया गया है। रचना-शैली मे विहारी आदि सतसईकारो का ही अनुसरण किया गया है, परन्तु विहारी जैसी गभीरता, श्लिष्ट पदावली एव सक्षिप्तता का यहाँ सर्वथा अभाव है। वैसे कथन-प्रणाली मे पर्याप्त जोश एव धारावाहिकता विद्यमान है। भाषा शुद्ध मुहावरेदार खडी वोली है, जिसमे यत्र-तत्र लाक्षणिकता एव अलकार प्रियता के भी दर्शन हो जाते हैं।

इसके उपरान्त १९५६ ई० मे हरिऔध जी की कुछ अप्रकाशित कविताओ का अन्तिम सग्रह "मर्मस्पर्श" के नाम से प्रकाशित हुआ। इस सग्रह मे कुछ कवितायें तो पुरानी ही हैं और कुछ कवितायें नवीन तो हैं, जब कि उन्हे प्राचीन शीर्षको मे ही प्रकाशित किया गया है। यह हरिऔध जी की अन्तिम काव्य-कृति है। इसमे २०७ कवितायें हैं, जो विभिन्न विषयो पर लिखी गई हैं। इनमे से गुणगान, ससार ससार, मवल माया, नाम महिमा, भक्ति भावना, विभुवर, विभु विभूति आदि आध्यात्मिक हैं, वारिद-वैचित्र्य, शारद सुषमा, शरद-शोभा, वसत-सुषमा, रजनी-रजन, गगनतल आदि प्रकृति-चित्रण से सम्वन्धित हैं और उपदेश, सत्पथ, दिव्य दोहे, दोहे, सत्य-सदेश, चेतावनी आदि नैतिकता एव उपदेशात्मकता से भरी हुई हैं। इसी तरह होली और देश-दशा, दिल के फफोले, लान-तान, अछूते छीटे, कच्चा चिट्ठा, मतलवी दुनिया, वज्रपात

---

१ अत्याचारी हैं किया, करते अत्याचार।
दुर्बल पर है सबल का, होता सदा प्रहार॥
अनुचित करते हैं नहीं, डरते प्राय नीच।
वे उछालते ही रहे, नित औरों पर कीच॥

—हरिऔध सतसई, पृ० ६९

आदि कविताओ मे समाज का कच्चा चिट्ठा दिया गया है। साथ ही गौ, हिन्दी, भारत देश, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, आदि समय-समय पर लिखी हुई कवितायें इस सग्रह मे सकलित की गई हैं। विविधता ही इस ग्रथ की विशेषता है। इसमे लौकिक पारलौकिक, आध्यात्मिक, साहित्यिक, नैतिक, सामाजिक, प्राकृतिक आदि अनेक विषयो पर लिखी हुई कवितायें सगृहीत हैं। इस सग्रह मे भी व्यग्यपूर्ण शैली का प्रयोग करते हुए कवि ने सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने का प्रयत्न किया है।[1] रचना-शैली सजीव एवं सरस है। सर्वत्र बोलचाल की मुहावरेदार भाषा का प्रयोग हुआ है। छन्दो की विविधता भी इस सग्रह की विशेषता है। इसमे सभी प्रकार के नवीन और प्राचीन छन्द अपनाये गये हैं। प्रकृति की झाँकियाँ अत्यन्त मनोरम हैं।[2] नवीन और प्राचीन सभी प्रकार के अलकारो का प्रयोग किया गया है। और सभी रचनायें कवि की प्रौढ अनुभूति एव गहन अभिव्यजना शैली की परिचायिका हैं।

साराश यह है कि महाकवि हरिऔध ने ब्रज-भाषा और खडी बोली मे विविध रचनायें प्रस्तुत करके हिन्दी साहित्य के अभावो की पूर्ति की। क्लिष्ट से क्लिष्ट और सरल से सरल भाषा लिख कर भाषा-प्रयोग के मार्ग को प्रशस्त किया और आगामी कवियो के लिए पथ-प्रदर्शन करते हुए यह बतलाया कि उन्हें जो मार्ग उचित जान पडे उसका अवलम्बन कर सकते हैं। आपकी प्रतिभा इतनी प्रखर थी कि आपने खडी बोली मे जिसमे सजीव एव मुहावरेदार कविता का अभाव था और उसकी खडखडाहट के कारण ब्रज-भाषा की ओर ही हिन्दी के कवियो की जो रुचि बनी हुई थी, उन सभी बातो को दूर करके पहले खडी बोली मे सजीवता उत्पन्न करते हुए मुहावरेदार कविताओ से उसके अभाव की पूर्ति की और फिर सरस कवितायें प्रस्तुत

---

१. आगई हो तो होंगे क्यों न, आज आरजित कितने ओक।
किंतु होली मे आँखें खोल, तनिक लो देश-दशा अवलोक॥
—मर्मस्पर्श, पृ० ७२

२. प्रकृति का असिताम्बर उतरा,
नीलिमा नभतल की बिलसी।
दिव हंसे दिव्य बने तारे,
शशिमुखी शरदाभा विकसी॥
—मर्मस्पर्श, पृ० ४२

करके जन-रुचि को भी खड़ी बोली की ओर आकृष्ट किया। भाषा पर आपका अपूर्व अधिकार था। संस्कृत-वृत लिखने में आप अद्वितीय थे और मुहावरों के प्रयोग में आप सिद्धहस्त थे। आपकी प्रखर-प्रतिभा से प्रभावित होकर ही निराला जी ने आपको "सार्वभौम कवि" कहा था और पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने आपको "खड़ी बोली के सर्वोच्च प्रतिनिधि, कविसम्राट, ठेठ-हिन्दी के अनुकरणीय लेखक तथा बोलचाल की भाषा के विशेषज्ञ" बतलाया था। आपकी रचनायें स्वदेश-प्रेम, समाज-सुधार, साहित्य-सेवा एवं मानवतावाद से अत्यधिक परिपूर्ण हैं। आपका अधिकांश जीवन हिन्दी के अभावों की पूर्ति में ही व्यतीत हुआ। आप ही आधुनिक खड़ी बोली के सर्वप्रथम महाकाव्य लिखने वाले महाकवि हैं। आपने ही सर्वप्रथम बालोपयोगी साहित्य की रचना की है और आपने ही सर्वप्रथम हिन्दी की मुहावरेदार भाषा में सरल और सरस कवितायें लिखी हैं। यद्यपि आपकी रचनायें अभिधा प्रधान हैं, उनमें लाक्षणिकता, सरसता एवं उक्ति वैचित्र्य की अधिकता नहीं है, तथापि उनमें जितना ओज, व्यंग्य एवं भाव-प्रेषणीयता का गुण है, उतना अन्यत्र किसी भी हिन्दी के कवि में नहीं दिखाई देता। आपकी सभी कवितायें जिंदादिली, ईमानदारी, सच्ची लगन एवं अटूट साधना से ओतप्रोत हैं तथा उनमें हमें भक्ति काल की भावना, रीति काल की रचना शैली और आधुनिक युग की परवर्तित विचारधारा के सम्यक दर्शन होते हैं। निस्संदेह आपकी कवितायें तत्कालीन समाज का उज्ज्वल दर्पण हैं।

प्रियप्रवास की प्रेरणा के स्रोत

✓ **सामाजिक स्थिति**—जिस युग में हरिऔध जी ने साहित्य के क्षेत्र में पदार्पण किया, उस समय भारत में सुधारवादी सामाजिक संस्थाओं का बोलबाला था, क्योंकि उस समय जनता भेद-भाव, छूआ-छूत, धार्मिक संकीर्णता, पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ, सामाजिक अत्याचार, मर्यादा-उल्लंघन, अशिक्षा आदि का बुरी तरह से शिकार बनी हुई थी। उस काल तक भारत का सम्बन्ध विदेशों से भी अच्छी तरह स्थापित होगया था। अतः यहाँ पर अनेक सामाजिक सुधार का कार्य करने वाली संस्थायें स्थापित हुईं। जिनमें से ब्रह्म-समाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, राम-कृष्ण मिशन, प्रार्थना-समाज आदि प्रमुख हैं। ब्रह्म समाज ने ईसाई मत के अनुसार सामूहिक प्रार्थना, संगीत, उपदेश आदि पर जोर दिया, मूर्तिपूजा को निषिद्ध ठहराया और सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखने के लिए आग्रह किया। इसके अतिरिक्त इसमें

स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह, रात्रि-पाठशालायें, अन्तर्जातीय विवाह अकाल पीडितो की सहायता आदि सेवा कार्यों को महत्व देते हुए पारस्परिक भेदभाव, ऊँच नीच, छुआछूत आदि को मिटाकर विश्ववंधुत्व की भावना को भरने का प्रयत्न किया गया।

आर्य समाज ने भी भारतीय हिन्दू समाज मे नवीन क्रान्ति उत्पन्न की। इसमे वेदो की विशेष ढग से व्याख्या करते हुए हिन्दू समाज को पुन वेदानुकूल आचरण करने के लिए आग्रह किया गया और हिन्दू समाज मे व्याप्त रूढिगत कुरीतियो, बाल-विवाह, बहुविवाह, सतीप्रथा, अस्पृश्यता, पर्दा, बाल-हत्या, मूर्तिपूजा, आदि का विरोध करके वेदानुसार धार्मिक अनुष्ठानो के मनाने, स्त्री-स्वातन्त्र्य, अस्पृश्यता-निवारण, हिन्दी-सस्कृत के माध्यम से शिक्षा-प्रचार, स्त्री-शिक्षा आदि पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया। इसके अतिरिक्त जो हिन्दू ईसाई या मुसलमान हो गये थे, उन्हें शुद्ध करके पुन हिन्दू धर्म में लाने का प्रयत्न किया गया।

भारतीय समाज मे नवचेतना जाग्रत करने वाली सस्थाओं मे "थियोस-फीकल सोसाइटी" का भी बडा महत्व है। थियोसफी का आन्दोलन सर्वप्रथम सन् १८७५ ई० मे न्यूयार्क के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। इसका सर्वप्रथम आरम्भ मैडम ब्लेवेटस्की तथा कर्नल एच० एस० ओलकोट ने किया था। सन् १८८९ ई० मे मैडम ब्लेवेटस्की भारत मे पधारी और श्रीमती एनीबेसेंट उनके सम्पर्क मे आईं। तदनन्तर श्रीमती एनीबेसेंट ने ही भारत मे थियोसफी का आन्दोलन प्रारम्भ किया। इस सोसाइटी के अनुयायियो का मत है कि समस्त धर्मों का मूल उद्गम एक ही है। यहाँ प्रत्येक धर्म को महत्व दिया जाता है तथा सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता की भावना जाग्रत की जाती है। इस सोसाइटी ने भी जाति-पाँति, ऊँच-नीच आदि का भेदभाव मिटाकर विश्ववधुत्व की भावना का प्रचार किया और विशुद्ध मानव-प्रेम, ईश्वर मे अटूट विश्वास, सर्व-धर्म-समन्वय आदि पर जोर दिया था।

भारत के सामाजिक पुनरुत्थान-कार्य मे 'रामकृष्ण मिशन" का भी पर्याप्त सहयोग रहा है। यह मिशन स्वामी रामकृष्ण परमहस की मृत्यु के १० वर्ष उपरान्त उनके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द ने सन् १८९६ ई० में स्थापित किया। आज इसकी शाखायें सम्पूर्ण विश्व मे फैली हुई हैं। इन शाखाओं मे ऐसे त्यागी-तपस्वी सन्यासी तैयार किए जाते हैं, जो आध्यात्मिक उन्नति करते हुए मानव-मात्र की सेवा में तत्पर रहते हैं। साधारणतया इस

मिशन ने शिक्षा, धर्म-प्रचार, समाज-सेवा तथा अन्य लोकोपकारी कार्यो की प्रेरणा समाज मे उत्पन्न की है। आज भी भारत मे कितने ही अस्पताल, अनाथालय, शिक्षालय आदि इसी मिशन द्वारा चल रहे हैं। अत प्राचीनता एव नवीनता का समन्वय करके इस मिशन ने उस समय धार्मिक विश्वास, आध्यात्मिकता, लोकसेवा, मानव-प्रेम, धार्मिक सहिष्णुता आदि के जाग्रत करने मे वडा ही सराहनीय कार्य किया था।[1]

ब्रह्म समाज की भांति महाराष्ट्र मे सामाजिक पुनरुत्थान के लिए "प्रार्थना-समाज" की स्थापना हुई। इसका प्रारम्भ सन् १८६७ ई० मे महादेव गोविंद रानाडे ने किया था। इस समाज ने भी एक ईश्वर की उपासना एव सामाजिक सुधार का आदर्श जनता के सम्मुख रखा तथा सत नामदेव, तुकाराम, रामदास आदि से प्रेरणा लेते हुए अछूत-उद्धार, शिक्षा-प्रचार, विधवा-विवाह, स्त्री-पुरुष की समानता, अन्तर्जातीय विवाह, अनाथालयो की स्थापना आदि कार्य किये और जनता मे पारस्परिक सौहार्द्र, सेवा-भावना, सामाजिक एकता आदि का प्रचार किया था।[2]

इन सामाजिक सस्थाओ के अतिरिक्त स्वामी रामतीर्थ ने भी २४ वर्ष की ही अवस्था मे सन्यास ग्रहण करके देश-विदेश मे भ्रमण करते हुए सत्य, ज्ञान, सच्चरित्र, स्वार्थ भावना का परित्याग, समानता, एक ईश्वर मे विश्वास आदि का प्रचार किया था। इतना ही नहीं अग्रेजो ने भी सामाजिक सुधार के कुछ प्रयत्न किये थे। जैसे उन्होंने कानून वनाकर जन्मजात लडकी को मारने पर प्रतिवध लगाया था, सती प्रथा को रोका था, और बाल-विवाह पर प्रतिवध लगाया था। अग्रेजों ने छूआछूत, ऊँच नीच, परदा-प्रथा आदि का निवारण करके स्त्री-शिक्षा, स्त्री-पुरुष समानता, अछूतो को भी मत देने का अधिकार, सामाजिक एकता आदि के प्रयत्न किये थे। इन्हीं सामाजिक प्रवृत्तियो के कारण उस समय देश मे सर्वत्र सामाजिक सुधार, मानव-प्रेम, विश्व-बधुत्व, लोकोपकार, एक ईश्वर मे विश्वास, नारी-सुधार, लोक-सेवा, धार्मिक सहिष्णुता, भेद-भाव का परित्याग आदि का वातावरण फैल गया था, जिससे प्रेरित होकर तत्कालीन कवियो ने ऐसे ही काव्यो की रचना की, जिनमे उक्त भावनाओ का प्राधान्य दिखाई देता है।

---

१. इन्डियन कल्चर थ्रू दी एजेज, पृ० ३६२।
२. वही, पृ० ३६४।

की जनता को ईसाई बना रहे थे। ईसाई-धर्म के प्रचार के लिए पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जाती थी, धर्म-पुस्तकें मुफ्त बाँटी जाती थी और नीच से नीच व्यक्ति को भी गले लगाकर उसके साथ समानता का व्यवहार किया जाता था। हिन्दू धर्म मे वर्णाश्रम धर्म का पालन होने के कारण ऊँच-नीच, छोटा बडा आदि की भेदभरी भावनायें विद्यमान थी। इसलिए हिन्दू धर्म उस समय बडी भयकर स्थिति का सामना कर रहा था। अत उस युग में हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए 'आर्य समाज' की स्थापना हुई, जिसने पारस्परिक सौहार्द्र एवं सद्भावना का प्रचार करते हुए नीच जाति के लोगो को भी गले लगाया, जो हिन्दू मुसलमान या ईसाई हो गये थे, उन्हे शुद्ध करके अपनी जाति मे मिला लिया और हिन्दुओ मे फैली हुई नाना प्रकार की कुरीतियो को दूर किया। आर्य समाज ने वेदो के महत्व का प्रतिपादन करते हुए तत्कालीन धार्मिक आचार-विचार मे दोष दिखाये। मदिर, मठ एव महन्त-पुजारियो के यहाँ फैले हुए पापाचरण एव पाखडो से जनता को अवगत कराया और जनता मे एकता, सहानुभूति, सगठन, सौहार्द्र, भ्रातृभाव एक ईश्वर मे विश्वास आदि का प्रचार किया। उधर स्वामी रामकृष्ण परमहस, विवेकानद तथा रामतीर्थ ने भी हिन्दू धर्म की सकीर्णता को दूर करके विशालता, उदारता उच्च विचार आदि को अपनाने का आग्रह किया, हिन्दूधर्म को ससार मे सबसे महान् सिद्ध किया और विदेशो मे भी इस धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया। इन धार्मिक महात्माओ के सतत प्रयत्नो एव नवीन दृष्टिकोणो ने जनता मे नव चेतना का सचार किया, जिससे धार्मिक कट्टरता को अपनाने वाले व्यक्ति भी धर्मांधता को छोडकर ईश्वर की सर्वव्यापकता, प्राणिमात्र मे एकता विश्वबधुत्व आदि की भावनाओ को अपनाने लगे। जनता मे अवतारो के बारे मे भी नई धारणा घर करने लगी और अवतारो के पीछे जो अतिमानवतावादी विचार प्रचलित थे, उनके स्थान पर तर्क सम्मत एव बुद्धिग्राह्य विचार पनपने लगे। जैसे कृष्ण ने गोवर्द्धन को कैसे उँगली पर उठा लिया होगा, भयानक नाग को कैसे पकडकर नाथा होगा, राम ने कैसे पत्थर तैराये होगे, वाराह अवतार लेकर भगवान ने कैसे सम्पूर्ण पृथ्वी को समुद्र मे से निकाल कर अपने दाढो पर रखा होगा आदि-आदि अति मानवतावादी कथनो की बुद्धिग्राह्य व्याख्यायें होने लगी और जनता मे तर्क एवं विवेक जाग्रत हुआ। इस तरह हरिऔध जी के युग मे धार्मिक सकीर्णता, धर्मांधता अथवा धार्मिक अतिमानवतावाद को दूर करने का प्रयत्न होने लगा था और जनता धर्म के बारे मे सचेत होकर अपने धर्म की वास्तविकता को समझने का

प्रयत्न करने लगी थी। ऐसे युग मे जितने भी साहित्य-ग्रथ प्रणीत हुए, उनमें सर्वत्र धार्मिक नव चेतना के दर्शन होते हैं, क्योकि इस चेतना का प्रभाव तत्कालीन लेखको एव कवियो पर भी पडा था।

साहित्यिक स्थिति—हरिऔध जी का प्रादुर्भाव हिन्दी-साहित्य की दृष्टि से द्विवेदी-युग मे हुआ। परन्तु हरिऔध जी प० महावीर प्रसाद द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र मे पदार्पण करने से पूर्व ही पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे।[1] उन पर भारतेन्दु युग के कवियो का प्रभाव था और उनसे प्रेरणा लेकर ही आपने अपनी प्रारम्भिक रचनायें ब्रजभाषा में प्रस्तुत की थी। हिन्दी-साहित्य मे भारतेन्दु युग सजीवता एव जिंदादिली के लिए प्रसिद्ध है। इस युग मे कवि-सम्मेलनो एव कवि-गोष्ठियो की धूम थी, जिससे कविता का प्रागण राज-दरबार न रह कर सर्वसाधारण का स्थान हो गया था। यद्यपि अधिकाश कविताओं मे रीतिकालीन शृगारिक भावनाओ एव समस्या पूर्तियो की ही बहुलता थी, तथापि कुछ नये-नये स्वतन्त्र विपयो पर भी कवितायें लिखी जाने लगी थी और कवि लोग राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एव अन्य समसामयिक समस्याओ पर भी अपने विचार प्रकट करने लगे थे। परन्तु अभी तक नवीन छन्दों का प्रचार नहीं हुआ था। प्राय कवित्त, सवैये, पद, रोला, छप्पय, दोहा आदि प्राचीन छन्दो की ही प्रधानता थी। कुछ लोक-प्रचलित छन्द भी साहित्य क्षेत्र मे अपनाये जाने लगे थे। जैसे बा० हरिश्चन्द्र, राधा चरण गोस्वामी, प्रताप नारायण मिश्र आदि ने 'लावनी' छन्द का प्रयोग किया था, प्रेमचन्द तथा खगबहादुरमल ने 'कजली' छन्द को अपनाया था। उस समय कुछ खडी बोली मे भी रचनायें हुई थी, परन्तु अधिकाश कवि ब्रजभाषा की सरसता पर ही विमुग्ध थे। इतना अवश्य है कि भारतेन्दु युग मे कवियों का दृष्टिकोण उदार हो गया था और जीवन का कोई भी पक्ष उनसे अछूता नही बचा था।[2] यह युग आन्दोलनो का युग था। इसी कारण इस युग में लेखक जिंदादिली के साथ साहित्य का सृजन करते थे। उस समय प्रेस की स्वाधीनता न थी। इसलिए तत्कालीन लेखको को हास्य एवं व्यग्य का सहारा लेना पडता था।[3]

द्विवेदी युग के आते ही काव्य के क्षेत्र पर खडी बोली का अधिकार होने लगा। इस युग मे काव्य की स्थूलता, बाह्य वर्णन, इतिवृत्तात्मकता,

---

१ हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ६०७।

२ आधुनिक काव्य धारा, पृ० १०५।

३. भारतेन्दु युग, ११२।

शृंगार से घृणा, पौराणिक कथा-प्रेम, उपदेश-परता, नैतिकता, प्रकृति-चित्रण की बहुलता एवं नवीनता आदि की प्रधानता रही। द्विवेदी जी ने ब्रजभाषा के स्थान पर शुद्ध खड़ी बोली में कवितायें रचने का आग्रह किया और "सरस्वती" पत्रिका द्वारा इसका अच्छी तरह प्रचार किया। आपने मराठी के नमूने पर संस्कृत वृत्तों में कविता, लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी। आपके प्रयत्न से ही अधिकांश कवि खड़ी बोली की ओर आकृष्ट हुए। परन्तु तत्कालीन रचनाओं में से पहले जो कवितायें लिखी गईं, उनमें सरसता एवं सौंदर्य का सर्वथा अभाव रहा तथा कवियों द्वारा वर्णनात्मकता एवं आलोचनात्मक प्रवृत्ति के अपनाने के कारण उन कविताओं में कल्पना एवं सांकेतिकता की अपेक्षा बौद्धिकता का प्राधान्य हो गया। हाँ, इतना अवश्य है कि इस युग में आकर वर्ण्य-विषयों में पर्याप्त परिवर्तन हुआ। कवियों की मनोवृत्ति में देश, समाज और संस्कृति के प्रेम की भावना उदित हुई। वे प्रत्येक वस्तु में सुधार और सुव्यवस्था की ओर अग्रसर हुए तथा ईश्वर की अलौकिक एवं अतिमानवतावादी कथाओं को भी लौकिक एवं मानवतावादी रूप देकर उन्हें मानव जीवन से सर्वथा सम्बद्ध करके प्रस्तुत करने लगे। यहां आते-आते भारतेन्दु युग की निराश मनोवृत्ति भी लुप्त हो गई और उसके स्थान पर आत्मविश्वास, दृढ़ता, एवं अग्रसर होने की प्रवृत्ति का स्वर सुनाई पड़ने लगा।[1] कवियों में लोकसेवा, परदुःख कातरता, मानवता-प्रेम, विश्वबंधुत्व आदि की उदारभावनायें भी घर करने लगीं और स्वतन्त्रता, स्वदेशप्रेम, मातृभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा आदि से ओत-प्रोत होकर अधिकांश कवि 'जननी-जन्मभूमि' के सौंदर्य की झांकी प्रस्तुत करने लगे। तत्कालीन सामाजिक जीवन की छाप भी उस समय के साहित्य पर स्पष्ट दिखाई देती है, क्योंकि अधिकांश कवियों ने विधवा-विवाह बाल-विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, मद्य-निषेध, ऊँच-नीच के भेदभाव का निराकरण आदि पर अनेक कवितायें लिखी हैं। नारी-जीवन की महत्ता का उल्लेख भी इस युग में सर्वाधिक मिलता है। इस युग के कवि नारी को समाज की अपूर्व शक्ति स्वीकार करके उसकी शिक्षा, उसकी स्वतन्त्रता तथा उसके सामाजिक अधिकार का वर्णन किये बिना नहीं रहे हैं। नारी-जीवन की महत्ता इस युग के कवियों में इतनी अधिक व्याप्त हो गई थी कि सभी छोटे-बड़े कवियों ने नारी की उपेक्षा एवं उसके चरित्र को अवनत देखकर नारी के समुन्नत एवं श्रेष्ठ जीवन को अंकित

१। आधुनिक काव्यधारा, पृ० १२५।

करने का प्रयत्न किया। हरिऔध जी की 'राधा' और 'वैदेही', मैथिलीशरण जी की कैकेई, उर्मिला और यशोधरा तथा प्रसाद जी की मल्लिका, देवसेना, अलका, श्रद्धा आदि इसका ज्वलत प्रमाण हैं।

इस युग मे बौद्धिक जागरण की प्रधानता रही और जनता मे आदर्शवाद की ओर झुकाव अधिक रहा। इसी कारण जनता की रुचि मे भी पर्याप्त परिवर्तन हुआ, क्योंकि जो जनता पहले शृगारमयी अश्लील एव कामोद्दीपक कविताएँ पढना अधिक पसद करती थी, अब वह सात्विकता की ओर प्रवृत्त हुई, उसने रीतिकालीन शृगारमयी अश्लीलता एव विलासिता की केंचुली को उतारकर फेंक दिया तथा वह सत् की ओर अग्रसर होने लगी। इसीलिए इस युग के काव्यो मे राष्ट्रीय नवचेतना, मानवता, सत्य, सात्विकता, समाज-सुधार, लोक-सेवा, विश्वबधुत्व आदि की प्रतिष्ठा हुई, जिससे उदात्त सदेशमयी आदेशात्मक एव उपदेशात्मक कोटि की कविता का समावेश हुआ। इसके साथ ही अभी तक साहित्य जन-जीवन से कुछ दूर ही था, उसमें जनता के प्रति सहानुभूति एव दीन-दुर्बलो के प्रति श्रद्धा की भावना अधिक व्यक्त नहीं होती थी। परन्तु इस युग मे आकर साहित्य का सबसे अधिक झुकाव जनता की ओर हुआ। मानव-सेवा एव मानव-प्रेम कविता के अभिन्न अग बन गये।[1] इसी कारण 'प्रियप्रवास' की राधा लोकसेवा के लिए अपना सारा जीवन अर्पण कर देती है। 'पुरुषोत्तम' मे तो कृष्ण को यह घोषणा करनी पडी है कि यदि मुझ तक किसी को पहुँचना है तो उसे किसानो को अपनाना होगा। 'साकेत' में सीता जी को कुटिया में ही राजभवन के दर्शन होते हैं तथा उर्मिला विरह-व्यथित होकर भी शत्रुघ्न से ग्रामीणजनो की दशा पूँछती रहती है। इसी तरह 'कामायनी' की इडा भी सघर्ष के समय जनता के पक्ष का समर्थन करती है और जन-सहार रोकने का आग्रह करती है।[2]

---

१ बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० ७७-७८

२ भीषण जन-सहार आप ही तो होता है,
ओ पागल प्राणी तू क्यों जीवन खोता है।
क्यों इतना आतक ठहर जा ओ गर्वीले!
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।

—कामायनी, पृ० २०१

अत हरिऔध जी ने जिस युग मे साहित्य के क्षेत्र मे पदार्पण किया, उस युग मे सभी क्षेत्रों के अंतर्गत नव-चेतना की लहर दौड रही थी, सारी जनता में बौद्धिक जागृति उत्पन्न हो चुकी थी तथा सम्पूर्ण समाज अंधविश्वास के पक से निकलकर नवीन आदर्श, नवीन ज्ञान, नवीन विश्वास एव नवीन दृष्टिकोण को अपनाता चला जारहा था। परम्परागत रूढियाँ समाप्त होती चली जारही थी और सवर्ण-अवर्ण, स्त्री-पुरुष, कुलीन-अकुलीन आदि के भेदभाव को भूलकर सभी लोग मानवता के पुजारी बनते चले जारहे थे। लोकसेवा एव लोकानुरजन की ओर जनता का झुकाव सर्वाधिक दिखाई देता था तथा राष्ट्रीयता, विश्वबधुत्व एव 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना हृदयो मे गभीरता के साथ प्रविष्ट होती चली जारही थी। यही कारण है कि इस युग मे उपदेशात्मक साहित्य की प्रधानता रही और अधिकाश कवियो ने देश और समाज की दुर्बलताओ का चित्रण करते हुए राष्ट्रीयता एव जातीयता के भावो को प्रमुखता दी।

'प्रियप्रवास' की अवतारणा—उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि युग की प्रेरक शक्तियाँ महाकवि हरिऔध को भी यह प्रेरणा देरही थी कि वे इस आधुनिक युग के लिए एक ऐसे महाकाव्य का निर्माण करें, जिसमे आधुनिक सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव साहित्यिक विचारो का समावेश हो। इसके अतिरिक्त उस समय तक खडी बोली की फुटकल कविताएँ तो पर्याप्त मात्रा मे लिखी जा चुकी थीं, और 'जयद्रथ वध' जैसे कुछ खडकाव्य भी बन चुके थे, परन्तु अभी तक कोई 'महाकाव्य' नही लिखा गया था। अत इसी अभाव की पूर्ति करने के लिए हरिऔध जी ने इस काव्य का श्रीगणेश किया, जैसा कि उन्होने स्वीकार भी किया है कि "खडी बोली मे छोटे-छोटे कई काव्य-ग्रथ अब तक लिपिबद्ध हुए हैं, परन्तु उनमे से अधिकांश सौ दो सौ पद्यो मे ही समाप्त है, जो कुछ बडे हैं वे अनुवादित हैं, मौलिक नही। ·· इसलिए खडी बोलचाल मे मुझको एक ऐसे ग्रथ की आवश्यकता देख पडी, जो महाकाव्य हो।· अतएव मैं इस न्यूनता की पूर्ति के लिए कुछ साहस के साथ अग्रसर हुआ और अनवरत परिश्रम करके इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रथ की रचना की।"[1]

इसके अतिरिक्त दूसरा कारण यह है कि उस युग मे देश-प्रेम एव मातृभाषा-प्रेम की धूम मची थी। जनता मे जागृति पर्याप्त मात्रा मे हो चुकी

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—काव्यभाषा, पृ० २

थी। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार स्वदेश, स्व-समाज, स्व-राष्ट्र, स्व-मातृभूमि एवं स्व-मातृभाषा की सेवा करने के लिए लालायित हो रहा था। महाकवि हरिऔध ने इस सेवा के लिए कविता को ही अपना माध्यम बनाया था और अपनी कविता द्वारा ही मातृभाषा हिन्दी की सेवा करने के लिए इस काव्य का प्रणयन किया था। जैसा कि आपने स्पष्ट स्वीकार किया है कि "मैं बहुत दिनों से हिन्दी भाषा में एक काव्य-ग्रंथ लिखने के लिए लालायित था। मातृभाषा की सेवा करने का अधिकार सभी को तो है, बने या न बने, सेवा-प्रणाली सुखद और हृदयग्राहिणी हो या न हो, परन्तु एक लालायित-चित्त अपनी प्रबल लालसा को पूरी किये बिना कैसे रहे? निदान इसी विचार के वशीभूत होकर मैंने 'प्रियप्रवास' नामक इस काव्य की रचना की।"[1]

तीसरा कारण यह है कि उस युग तक हिन्दी में प्रायः तुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास वाली कविताओं की ही धूम मची हुई थी। वीरगाथा-काल से लेकर हरिऔध जी के युग तक ऐसी ही हिन्दी कविताएँ समाज में समादृत होती थी, जो अन्तिम तुक या अन्त्यानुप्रास युक्त हो। हिन्दी ही क्या, बँगला, पंजाबी, मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में भी अन्त्यानुप्रास को महत्व दिया जाता था। उर्दू-फारसी की कविताएँ भी तुकान्त होने के कारण अधिक आदर प्राप्त करती थी। अरबी की कविताएँ भी तुकान्त ही होती थीं। विश्व की सभी भाषाओं में तुकान्त कविताओं की बहुलता थी। परन्तु भिन्न-तुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास हीन कविताएँ भारत की संस्कृत-भाषा में ही पर्याप्त मात्रा में लिखी गई थी, जो अतीव सुन्दर, सरस एवं मनोमोहक थी। उस समय तक बँगला में माइकेल मधुसूदन दत्त का 'मेघनाद वध' भी निकल चुका था, जो भिन्न-तुकान्त काव्य था। किन्तु हिन्दी भाषा में उस समय तक थोड़ी बहुत फुटकर कविताएँ तो अवश्य तुकान्तहीन संस्कृत वृत्तों में लिखी गई थी, फिर भी कोई महाकाव्य अभी तक अन्त्यानुप्रास-हीन एवं तुकान्त-हीन कविता के अंतर्गत नहीं लिखा गया था। अतः इसी अभाव की पूर्ति के उद्देश्य से हिन्दी भाषा को विविध प्रकार की प्रणालियों में विभूषित करने के लिए अतुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास-हीन कविता में 'प्रियप्रवास' की रचना की। जिसका संकेत कवि के इन वाक्यों में विद्यमान है—"हाँ, भाषा-सौन्दर्य साधन के लिए और उसको विविध प्रकार की कविता में विभूषित करने के

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—विचार सूत्र, पृ० १

उद्देश्य से अतुकान्त कविता के भी प्रचलित होने की आवश्यकता है, और मैंने इसी विचार से इस 'प्रियप्रवास' ग्रथ की रचना इस प्रकार की कविता मे की है।"[1]

चौथा कारण यह है कि हरिऔध जी जहाँ स्वदेश एव समाज के उत्थान के लिए अहर्निश प्रयत्नशील रहते थे, वहाँ उनकी यह लालसा भी थी कि हमारी मातृभाषा विभिन्न महाकाव्यो से विभूषित हो, जिसमे हमारे आधुनिक जीवन का सर्वांगीण चित्र अंकित हो तथा अत्यधिक समुन्नत कविता का रूप प्रस्तुत करते हुए देश-विदेश मे भी समुचित आदर को प्राप्त करे। अत अन्य सुकविजनो को और-और महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान करने के लिए, उन्हें महाकाव्य की दिशा मे मार्ग-दर्शन करने के लिए तथा खडी बोली मे महाकाव्यो की परम्परा का श्रीगणेश करने के लिए आपने इस ग्रथ की रचना की, जैसा कि आपने लिखा भी है—"महाकाव्य का आभास-स्वरूप यह ग्रथ सत्रह सर्गों मे केवल इस उद्देश्य से लिखा गया है कि इसको देखकर हिन्दी-साहित्य के लब्ध-प्रतिष्ठ सुकवियो और सुलेखको का ध्यान इस त्रुटि के निवारण करने की ओर आकर्षित हो। जब तक किसी बहुज्ञ मर्मस्पर्शिनी-सुलेखनी द्वारा लिपिबद्ध होकर खडी बोली मे सर्वांग सुन्दर कोई महाकाव्य आप लोगो को हस्तगत नही होता, तब तक यह अपने सहज रूप में आप लोगो के ज्योति-विकीर्णकारी उज्ज्वल चक्षुओ के सम्मुख है, और एक कवि के कण्ठ से कण्ठ मिलाकर यह प्रार्थना करता है—'जबलौं फुलै न केतकी, तबलौं बिलम करील'।[2]

इस ग्रथ के प्रणयन का पाँचवाँ कारण यह है कि हरिऔध जी मातृभाषा हिन्दी को भारत के विभिन्न प्रान्तो में समझने-समझाने के योग्य अथवा लोक-प्रिय बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि हिन्दी ही भारत की एक ऐसी भाषा है, जो सम्पूर्ण भारत की राष्ट्रभाषा बन सकती है, क्योंकि इसमे जितनी सरलता, सुबोधता एव मनोवैज्ञानिकता है, उतनी अन्य प्रान्तीय भाषाओ मे नही है। वैसे अन्य प्रान्तीय भाषाएँ भी इसकी अपेक्षा कहीं अधिक सरस, मधुर एव सम्पन्न हैं। बँगला की मधुरता किसी से छिपी नहीं है। मराठी की गभीरता एव शालीनता भी अद्वितीय है। तामिल, तैलगू, आदि दक्षिणी भाषाएँ भी पर्याप्त सरस एव सम्पन्न हैं, परन्तु सरलता एव

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—कविता प्रणाली, पृ० ५

२ वही, पृ० २, ३

सुबोधता का गुण हिन्दी को ही प्राप्त है। फिर भी जब तक इस खडी बोली हिन्दी मे संस्कृतमयता नही आती, तब तक सभी प्रान्तो मे इसका आदर होना सभव नहीं। इसी कारण हरिऔध जी ने संस्कृतमयी खड़ी बोली को राष्ट्रभाषा के अनुकूल बताया था, जब कि प्रेमचद जी इसके पूर्णतया विरुद्ध थे। वे बोलचाल की हिन्दी को राष्ट्रभाषा के अनुकूल समझते थे और कहा करते थे कि "जिसको हिन्दू-मुसलमान दोनो मानें, जिसको आम जनता समझे, वह है हिन्दुस्तानी और मेरा ख्याल है कि राष्ट्रभाषा जब कभी भी बनेगी, तो वह हिन्दी-उर्दू को मिलाकर।"[1] परन्तु हरिऔध जी ने संस्कृत-निष्ठ हिन्दी को ही राष्ट्र-भाषा के सर्वथा अनुकूल समझा था और इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे संस्कृत के तत्सम शब्दो की भरमार करते हुए इस काव्य का निर्माण किया। इसके बारे मे आपने स्पष्ट लिखा है—"भारतवर्ष भर मे संस्कृत भाषा आदृत है। बँगला, मरहठी, गुजराती, वरन् तामिल और पंजाबी तक मे संस्कृत शब्दो का बाहुल्य है। इन संस्कृत शब्दो को यदि अधिकता से ग्रहण करके हमारी हिन्दी भाषा उन प्रान्तो के सज्जनो के सम्मुख उपस्थित होगी, तो वे साधारण हिन्दी से उसका अधिक समादर करेंगे, क्योकि उसके पठन-पाठन मे उनको सुविधा होगी और वे उसको समझ सकेंगे। अन्यथा हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने मे दुरूहता होगी, क्योकि सम्मिलन के लिए भाषा और विचार का साम्य ही अधिक उपयोगी होता है।"[2] अत अपनी विचारधारा के अनुकूल हिन्दी को राष्ट्रभाषा पद पर आसीन करने के लिए तथा सभी प्रान्तो मे उसे उचित आदर प्राप्त कराने के लिए आपने संस्कृत-गर्भित हिन्दी को अपनाते हुए इस काव्य का प्रणयन किया।

इस महाकाव्य के निर्माण का छठा कारण यह है कि हरिऔध जी हिन्दू-समाज मे प्रचलित पौराणिक गाथाओ को आधुनिक वैज्ञानिक युग के अनुकूल एवं बुद्धिग्राह्य बनाना चाहते थे। वे यह नही चाहते थे कि हिन्दू समाज में प्रचलित गाथाओ को अनर्गल एव असम्भव घटना-सम्पन्न अति-मानवीय कथाएँ मानकर आधुनिक व्यक्ति तिरस्कारपूर्ण दृष्टि से देखें, उनके प्रति उपेक्षा का बर्ताव करें और उन्हे पौराणिक काल की असम्बद्ध बातें कह कर छोड़दें। इसलिए उन्होंने पौराणिक गाथाओ को आधुनिक युग के अनुकूल

---

१ प्रेमचद घर मे—पृ० ६५

२ प्रियप्रवास की भूमिका—भाषा शैली, पृ० ६

बनाकर उनमे वर्णित घटनाओ की तर्कसम्मत व्याख्या करने के लिए इस 'प्रियप्रवास' नामक ग्रथ का प्रणयन किया। वे अवतारवाद को मानते थे और उन्होंने श्रीकृष्ण के महत्व का निरूपण करते हुए 'प्रेमाम्बु-प्रस्रवण', 'प्रेमाम्बु-प्रवाह' और 'प्रेमाम्बु-वारिधि' नामक ग्रथो का निर्माण किया था। परन्तु वे अवतारवाद के मूल मे यह मानते थे कि जो महापुरुष ससार मे दिखाई देते हैं वे सभी अवतारी पुरुष हैं, क्योकि उनमे असाधारणता है और वे परमब्रह्म के तेज का ही अश रूप हैं।[1] अत अपने अवतार सम्बन्धी इसी दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए अथवा श्रीकृष्ण को भी एक साधारण महापुरुष के रूप मे अंकित करने के लिए उन्होने 'प्रियप्रवास' का निर्माण किया, जिससे आधुनिक वैज्ञानिक युग के व्यक्ति भी उनकी महत्ता का समझकर उनके तुल्य ही लोकोपकारी कार्यों में रत हो सकें। साथ ही उनकी अति-मानवता-से-परिपूर्ण घटनाओ को भी इस तरह तर्कसम्मत एव बुद्धिग्राह्य रूप मे प्रस्तुत किया, जिससे कोई भी व्यक्ति यह न कह सके कि पौराणिक गाथायें सर्वथा अनर्गल एव असम्भव होती हैं, उनमे जन-जीवन के लिए कोई प्रेरणा नही होती और उनका सम्बन्ध सर्वसाधारण से नही होता।

इसके अतिरिक्त सातवां कारण यह है कि कवि ने सस्कृत-वृत्तो का प्रयोग हिन्दी भाषा मे भी प्रचलित करने की इच्छा से तथा अपने इस कवि-कौशल को प्रदर्शित करने की लालसा से 'प्रियप्रवास' का निर्माण किया। उस समय तक हिन्दी मे प्राय कवित्त, सवैये, दोहा, छप्पय आदि ही अधिक प्रचलित थे। यदि कोई कवि इन वृत्तो को अपनाकर कोई अतुकान्त कविता लिखता था, तो वह अत्यन्त नीरस, कृत्रिम तथा आडम्बरपूर्ण-सी जान पडती थी और सस्कृत के वृत्तो मे कविता लिखना अत्यन्त श्रम-साध्य भी था। अतः उस समय हिन्दी के कवि सस्कृत के छन्दो या वृत्तो का प्रयोग नही करते थे। इसका आनन्द सस्कृत-साहित्य मे ही था वहाँ मन्दाक्रान्ता, भुजग-प्रयात, मालिनी, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी आदि छन्दो मे अत्यन्त रमणीय एव मनोहर रचनाएँ मिलती हैं। परन्तु इन छन्दो को अपनाते हुए हिन्दी के कवि डरते थे। अत. इस अभाव की पूर्ति के लिए 'प्रियप्रवास' का प्रणयन हुआ। महाकवि हरिऔध ने इसके बारे मे सकेत करते हुए स्पष्ट लिखा है—"भिन्न तुकान्त कविता लिखने के लिए सस्कृत-वृत्त बहुत ही उपयुक्त हैं। इसके अतिरिक्त भाषा-छन्दो मे मैंने जो एक आध अतुकान्त कविता देखी, उसको

---

१ प्रियप्रवास की भूमिका—ग्रथ का विषय, पृ० ३०

बहुत ही भद्दी पाया, यदि कोई कविता अच्छी भी मिली तो उसमे वह लावण्य नही मिला, जो संस्कृत-वृत्तो में पाया जाता है। अतएव मैंने इस ग्रंथ को संस्कृत-वृत्तो मे ही लिखा है।"[१] अत भाषा के गौरव की वृद्धि के लिए उसमे नूतन छन्दों एव ललित-वृत्तो का समावेश करने के लिए 'प्रियप्रवास' लिखा गया।

निष्कर्ष यह है कि खडी बोली मे उस समय तक जो-जो अभाव कवि को दिखाई दिये, उन सभी अभावों पर दृष्टिपात करते हुए उनकी पूर्ति के हेतु इस महाकाव्य 'प्रियप्रवास' की रचना हुई। यह दूसरी बात है कि उन अभावों की पूर्ति किस सीमा तक हुई अथवा उससे हिन्दी-साहित्य के भंडार की कितनी श्रीवृद्धि हुई। परन्तु यह तो निर्विवाद सत्य है कि 'प्रियप्रवास' की रचना ने तत्कालीन महाकाव्य के अभाव को पूरा किया, खडी बोली में अतुकान्त संस्कृत-वृत्तो में महाकाव्य लिखने का श्रीगणेश किया, पूर्व प्रचलित पौराणिक गाथाओं की अनर्गलता एव असम्बद्धता को हटाकर उन्हे वैज्ञानिक तथा तर्क-प्रधान युग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया तथा मानव समाज के लिए नवीन आदर्शों की स्थापना करते हुए लोकोपकार एव लोकानुरंजन की भावना का प्रचार किया। अत 'प्रियप्रवास' का सृजन हिन्दी साहित्य के इतिहास मे एक युगान्तरकारी घटना है।

'प्रियप्रवास' का नामकरण—इस महाकाव्य का आद्योपान्त अनुशीलन करने के उपरान्त पाठक इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि इसमें यशोदा, गोप, गोपी आदि के विलाप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। सभी-सर्गो मे, श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने के कारण व्रज के सभी प्राणी विलाप करते हुए दिखाई देते हैं। अत इसी सत्य को हृदय मे धारण करते हुए महाकवि हरिऔध ने पहले इस काव्य का नाम "व्रजांगना विलाप" रखा था।[२] वैसे भी इस ग्रंथ मे व्रजांगनाओं अर्थात् यशोदा, गोपी आदि के विलाप की ही भरमार है और वे श्रीकृष्ण के वियोग मे व्यथित होकर रात दिन शोकमग्ना ही अंकित की गई हैं। परन्तु आगे चलकर व्रज के उस करुण-क्रंदन मे अथवा वियोग-जन्य विलाप के अवसर पर श्रीमती राधा को विरह व्यथित होकर भी अत्यत सयत दिखलाया गया है तथा शोकातुर होकर भी उन्हें सदैव व्रज के

१ प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० ५

२. वही, पृ० २

पीडित व्यक्तियों की सेवा करते हुए अंकित किया गया है। इस युगान्तरकारी परिवर्तन के कारण यह काव्य कोरा 'व्रजांगनाओ का विलाप' नही हो सकता, अपितु इसका नामकरण 'प्रियप्रवास' ही सर्वथा उचित जान पडता है। क्योंकि श्रीकृष्ण के प्रवास के कारण ही गोप-गोपियो के हृदय मे विरह-जन्य शोक-सागर उमडा था और इसी कारण श्रीमती राधा के लोकानुरंजनकारी चरित्र की सृष्टि हुई। साथ ही यदि इसका नाम 'व्रजागना-विलाप' रहता, तो फिर इसमें तो गोपो के भी विरह-जन्य विलाप का वर्णन आया है और नन्द बाबा के भी विलाप का वर्णन है। अत यहाँ व्रज की नारियो का ही केवल विलाप-वर्णन नही है, अपितु पुरुषो के भी विलाप का उल्लेख मिलता है। ऐसी दशा मे 'व्रजागना-विलाप' नाम किसी प्रकार भी सार्थक नही दिखाई देता। अब रही बात 'प्रियप्रवास' नाम की सार्थकता के बारे मे तो इस विषय मे यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि काव्य की सम्पूर्ण कथा का केन्द्र व्रज के प्रियतम भगवान् श्रीकृष्ण का मथुरा प्रवास ही है। माता यशोदा, नन्दबाबा, गोपी एव गोपजनो के परम प्रिय श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं और फिर व्रज मे कभी लौटकर नही आते। जो व्रज-प्रदेश उनके मुखारविंद का दर्शन करके ही नित्य अपना अहोभाग्य समझता था, उसमें उनके जाते ही शोक का अथाह सागर हिलोरें लेने लगता है। सभी गोप-गोपियाँ उनके लोकोपकारी कार्यों का स्मरण करते हुए रातदिन शोकमग्न रहे आते हैं। नन्द और यशोदा भी अपने लाडले पुत्र का स्मरण करके कभी मूर्च्छित होते हैं, कभी रुदन करते हैं और कभी उसकी लोक-कल्याणकारी लीलाओ का स्मरण करते हुए बेचैन हो उठते है। ऐसे शोक-विह्वल व्रज को समझाने के लिए उद्धव जी भी आते हैं, परन्तु उनके आगमन से भी कोई लाभ नही होता। वे भी अपने ज्ञान को गँवाकर उसी प्रिय कृष्ण के प्रेम मे लीन हो जाते हैं। परन्तु ऐसे भयकर विषाद के अवसर पर भी अपने प्रियतम की भावनाओ का पूर्णतया अनुसरण करने वाली राधा सारे व्रज को सँभालने का भार अपने कंधो पर वहन करती है। वह अपने शोक, प्रेम एव वेदना को छिपाकर सम्पूर्ण व्रज की परिचर्या, सेवा एव सुश्रूषा मे लगी रहती है। समस्त गोप-गोपियो को ढाढ़स बँधाती है और उनके शोक सताप को दूर करने के लिए श्रीकृष्ण के गुणानुवाद गाती हुई प्रेमविभोर हो जाती है। उसकी लोक-सेवा, उसके परोपकार एव उसके अन्त करण की उदारता को जन्म देने वाला भी उसके प्रिय का प्रवास ही है। अत सम्पूर्ण काव्य इसी एक प्रमुख घटना के चारो ओर मकडी के जाल की तरह फैला हुआ है। यही घटना काव्य का श्रीगणेश

करने वाली है, इसी घटना से कथावस्तु का विकास हुआ है और इसी घटना के कारण कवि ने कथित घटनायें दिखाते हुए एक नवीनतम काव्य लिखने की प्रेरणा प्राप्त की है। अत सभी दृष्टियों से इस महाकाव्य का नाम 'प्रिय-प्रवास' ही सर्वथा सार्थक है।

प्रकरण २

प्रियप्रवास की वस्तु

कथा-सार—'प्रियप्रवास' की कथा वैसे तो अत्यत लघु है, क्योकि यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के गमनोपरान्त ब्रज की करुण-दशा का ही वर्णन किया है, परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति एव नूतन प्रणाली द्वारा हरिऔध जी ने उस कथा को १७ सर्गो मे अभिव्यक्त किया है। कथा का श्रीगणेश सध्या की पुनीत एव प्रेममयी अलौकिक छटा का वर्णन करते हुए किया गया है। सध्या की उस पुनीत वेला मे ब्रजजीवन श्रीकृष्ण अपने ग्वाल-बालो के साथ गायें चराकर वन से लौटते हुए बडी धूमधाम से गोकुल ग्राम मे आते हैं। श्रीकृष्ण की उस दिव्य छटा को देखते ही सम्पूर्ण गोकुल आनन्द-विभोर हो उठता है। सहसा रात्रि हो जाती है और फिर ब्रज के अन्दर ऐसे रमणीक दृश्य के देखने का सुअवसर किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं होता। क्योकि उसी दिन दो घडी रात व्यतीत होते ही एक घोषणा सुनाई पडती है, जिसमे यह कहा जा रहा था कि कल प्रात ही श्रीकृष्ण मथुरा जाने वाले हैं, वहाँ राजा कस ने उन्हे धनुष यज्ञ देखने के लिए बुलाया है। अतः सभी गोपजनो को प्रात ही प्रस्थान करने के लिए तैयार होजाना चाहिये। यह घोषणा नद बाबा की ओर से की गई थी। इसे सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम मे खलबली मच गई, उनके रग मे भग हो गया और वे श्रीकृष्ण के जाने के बारे में नाना प्रकार की शकायें करने लगे। इतना ही नहीं उन्हें इस निमत्रण मे भी कस की कोई कुचाल दिखाई देने लगी, क्योकि श्रीकृष्ण के जन्म से ही पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर, दुर्जयवत्स आदि ने अनेक बाधायें कस के आग्रह पर ही उपस्थित की थीं। अत इस घोषणा के सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम विषाद की मूर्ति बन गया।

इधर नद बाबा बडे विषम सकट मे पड गये। वे भी जानते थे कि कस का निमत्रण किसी न किसी षड्यत्र से अवश्य भरा हुआ है परन्तु निषेध

भी नही कर सकते थे। अत. उनकी सारी रात सकल्प-विकल्पो मे ही व्यतीत होने लगी। घर मे दासियाँ प्रस्थान की तैयारी कर रही थी। यदि इनमे से किसी दासी का रुदन नद बाबा के कान मे पड जाता था तो वे और भी व्यथित हो उठते थे। उधर यशोदा जी श्रीकृष्ण की शैया के समीप बैठी-बैठी शोक, विषाद एव सशय मे डूबी जारही थी। वे बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती कि कस के यहाँ मेरे लाल को किसी प्रकार का अनिष्ट न हो और वह सकुशल घर लौट आवे। श्रीकृष्ण के गमन की यह सूचना उसी रात मे बरसाने के अन्दर गोपराज वृषभानु के महलो मे भी पहुँच गई। वहाँ अत्यत सुकुमारी एव सौंदर्यमयी राधा ने जैसे ही यह समाचार सुना, वह विधि के विधान की भर्त्सना करने लगी और कहने लगी कि यदि कल श्रीकृष्ण मथुरा चले जायेंगे, तो फिर मेरा जीना सर्वथा असम्भव है। राधा के हृदय मे भी कस की क्रूरता के कारण अनेक प्रकार की आशकाये उठने लगी। रह-रहकर उसे अपने प्रेम का स्मरण होने लगा और वह सोचने लगी कि वैसे तो मैं अपना हृदय श्रीकृष्ण के चरणो मे अर्पित कर चुकी हूँ, केवल अब विधिपूर्वक वरण करने की मेरी कामना और शेष रही है, परन्तु अब मुझे वह सफल होती हुई दिखाई नही देती। ठीक ही है जो कुछ भाग्य मे लिखा है वह भला कब टलता है! इस तरह सोचते-विचारते राधा भी अत्यत शोक मे निमग्न हो गई।

जैसे-तैसे वह काल-रात्रि व्यतीत हुई। प्रभात हुआ और सभी ब्रज-जन नद बाबा के द्वार पर आकर एकत्रित हो गये। इतने में ही श्रीकृष्ण भी तैयार होकर द्वार पर आगये। तब सभी गोपजन व्याकुल होकर अक्रूर जी से विनय करने लगे कि जैसे भी हो आप हमारे जीवन-धन को मथुरा न ले जायें। कृष्ण के गमन का समाचार पाकर सारी गायें भी न तो वन को गईं, न उन्होंने तृण खाये और न अपने बछडो को दूध ही पिलाया, अपितु वे भी आकर नद-द्वार पर इकट्ठी हो गई। घर के शुक-सारिका आदि भी शोक मे लीन हो गये। ऐसा करुण दृश्य देखकर श्रीकृष्ण माता से आज्ञा लेने के लिए अन्दर गये। फिर माता के चरण छूकर तथा भाई बलराम को साथ लेकर रथ पर आ बैठे। उस क्षण यशोदा का हृदय भर आया। वे नद बाबा से आग्रह करते हुए कहने लगीं कि मेरे दोनो लाल बडे सुकुमार हैं। इसलिए मार्ग मे किसी प्रकार का कष्ट मत होने देना। उस समय ब्रज-जन इतने प्रेम-विह्वल हो गये कि कुछ तो रथ के पहिये पकड कर बैठ गये, कुछ आगे लेट गये और कुछ व्यक्तियो ने घोडो की रासें पकडली। जैसे-तैसे श्रीकृष्ण के

प्रकरण २

प्रियप्रवास की वस्तु

कथा-सार—'प्रियप्रवास' की कथा वैसे तो अत्यत लघु है, क्योकि यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के गमनोपरान्त व्रज की करुण-दशा का ही वर्णन किया है, परन्तु अपनी कल्पना-शक्ति एव नूतन प्रणाली द्वारा हरिऔध जी ने उस कथा को १७ सर्गो मे अभिव्यक्त किया है। कथा का श्रीगणेश सध्या की पुनीत एव प्रेममयी अलौकिक छटा का वर्णन-करते-हुए किया गया है। सध्या की उस पुनीत वेला मे व्रजजीवन श्रीकृष्ण अपने ग्वाल-बालो के साथ गायें चराकर वन से लौटते हुए बडी धूमधाम से गोकुल ग्राम मे आते हैं। श्रीकृष्ण की उस दिव्य छटा को देखते ही सम्पूर्ण गोकुल आनन्द-विभोर हो उठता है। सहसा रात्रि हो जाती है और फिर व्रज के अन्दर ऐसे रमणीक दृश्य के देखने का सुअवसर किसी भी प्राणी को प्राप्त नहीं होता। क्योकि उसी दिन दो घडी रात व्यतीत होते ही एक घोषणा सुनाई पडती है, जिसमे यह कहा जा रहा था कि कल प्रात ही श्रीकृष्ण मथुरा जाने वाले हैं, वहाँ राजा कस ने उन्हे धनुष यज्ञ देखने के लिए बुलाया है। अत. सभी गोपजनो को प्रात ही प्रस्थान करने के लिए तैयार होजाना चाहिये। यह घोषणा नद बाबा की ओर से की गई थी। इसे सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम मे खलबली मच गई, उनके रग मे भग हो गया और वे श्रीकृष्ण के जाने के बारे मे नाना प्रकार की शकायें करने लगे। इतना ही नहीं उन्हें इस निमत्रण मे भी कस की कोई कुचाल दिखाई देने लगी, क्योकि श्रीकृष्ण के जन्म से ही पूतना, तृणावर्त, शकटासुर, बकासुर, दुर्जयवत्स आदि ने अनेक बाधायें कस के आग्रह पर ही उपस्थित की थीं। अत इस घोषणा के सुनते ही सम्पूर्ण गोकुल ग्राम विषाद की मूर्ति बन गया।

इधर नद बाबा बडे विषम सकट में पड गये। वे भी जानते थे कि कस का निमत्रण किसी न किसी षड्यत्र से अवश्य भरा हुआ है परन्तु निषेध

भी नही कर सकते थे। अत उनकी सारी रात सकल्प-विकल्पो मे ही व्यतीत होने लगी। घर मे दासियाँ प्रस्थान की तैयारी कर रही थी। यदि इनमे से किसी दासी का रुदन नद बाबा के कान मे पड जाता था तो वे और भी व्यथित हो उठते थे। उधर यशोदा जी श्रीकृष्ण की शैया के समीप बैठी-बैठी शोक, विषाद एव सशय मे डूबी जारही थी। वे बार-बार भगवान् से प्रार्थना करती कि कस के यहां मेरे लाल को किसी प्रकार का अनिष्ट न हो और वह सकुशल घर लौट आवे। श्रीकृष्ण के गमन की यह सूचना उसी रात मे बरसाने के अन्दर गोपराज वृषभानु के महलो मे भी पहुँच गई। वहाँ अत्यत सुकुमारी एव सौंदर्यमयी राधा ने जैसे ही यह समाचार सुना, वह विधि के विधान की भर्त्सना करने लगी और कहने लगी कि यदि कल श्रीकृष्ण मथुरा चले जायेंगे, तो फिर मेरा जीना सर्वथा असम्भव है। राधा के हृदय मे भी कस की क्रूरता के कारण अनेक प्रकार की आशकाये उठने लगी। रह-रहकर उसे अपने प्रेम का स्मरण होने लगा और वह सोचने लगी कि वैसे तो मैं अपना हृदय श्रीकृष्ण के चरणो मे अर्पित कर चुकी हूँ, केवल अब विधिपूर्वक वरण करने की मेरी कामना और शेष रही है, परन्तु अब मुझे वह सफल होती हुई दिखाई नही देती। ठीक ही है जो कुछ भाग्य मे लिखा है वह भला कब टलता है! इस तरह सोचते-विचारते राधा भी अत्यत शोक मे निमग्न हो गई।

जैसे-तैसे वह काल-रात्रि व्यतीत हुई। प्रभात हुआ और सभी ब्रज-जन नद बाबा के द्वार पर आकर एकत्रित हो गये। इतने मे ही श्रीकृष्ण भी तैयार होकर द्वार पर आगये। तब सभी गोपजन व्याकुल होकर अक्रूर जी से विनय करने लगे कि जैसे भी हो आप हमारे जीवन-धन को मथुरा न ले जायें। कृष्ण के गमन का समाचार पाकर सारी गायें भी न तो वन को गईं, न उन्होंने तृण खाये और न अपने बछडो को दूध ही पिलाया, अपितु वे भी आकर नद-द्वार पर इकट्ठी हो गई। घर के शुक-सारिका आदि भी शोक मे लीन हो गये। ऐसा करुण दृश्य देखकर श्रीकृष्ण माता से आज्ञा लेने के लिए अन्दर गये। फिर माता के चरण छूकर तथा भाई बलराम को साथ लेकर रथ पर आ बैठे। उस क्षण यशोदा का हृदय भर आया। वे नद बाबा से आग्रह करते हुए कहने लगीं कि मेरे दोनो लाल बडे सुकुमार हैं। इसलिए मार्ग मे किसी प्रकार का कष्ट मत होने देना। उस समय ब्रज-जन इतने प्रेम-विह्वल हो गये कि कुछ तो रथ के पहिये पकड कर बैठ गये, कुछ आगे लेट गये और कुछ व्यक्तियो ने घोड़ो की रासें पकडली। जैसे-तैसे श्रीकृष्ण के

समझाने पर तथा दो दिन मे ही लौट आने का आश्वासन देने पर वे लोग रथ को छोड सके। तब सभी प्रियजनो को बिलखता छोड़कर श्रीकृष्ण मथुरा को चले गये।

श्रीकृष्ण को मथुरा गये हुए कई दिन व्यतीत हो गये। परन्तु जब न तो कोई और ही लौटा और न वे ही आये, तब सारे व्रज मे स्थान-स्थान पर उनके बारे में आशकायें प्रकट करते हुए प्रतीक्षा होने लगी। कुछ प्रेमीजन तो नित्य पेडो पर चढकर, उनकी राह देखने लगे। कुछ गोपियाँ छतो पर चढकर, झरोखो या मोखो मे से अथवा गवाक्षो से अपने प्रियतम कृष्ण के आने का पथ निहारने लगी। इस तरह सारे व्रज मे बडी उत्कठा के साथ श्रीकृष्ण की प्रतीक्षा होने लगी और सभी व्यक्ति उनकी प्रतीक्षा मे पागल होकर घूमने लगे। राधा की भी दशा ऐसी ही होगई। वह भ्रान्ता होकर कभी प्रात. पवन को अपनी दूती बनाकर श्रीकृष्ण के पास अपने विरह का सदेश देने के लिए भेजती, तो कभी किसी सखी को अपने पास बैठाकर विरह-जन्य वेदना को व्यक्त करती थी।

एक दिन अकेले नद बाबा लुकते-छिपते गोकुल लौट आये। उन्हें एकाकी देखकर यशोदा माता तो मूर्च्छित हो गईं। होश आने पर फिर कृष्ण की कुशल के बारे में प्रश्न पर प्रश्न करने लगी। परन्तु जब उन्हे नद जी ने यह बताया कि श्रीकृष्ण ने कुवलय हाथी, मल्लकूटादि को मारकर कस का भी वध कर दिया है, तबतो यशोदा जी अपने पुण्यो को सराहने लगी और ईश्वर को कोटि-कोटि धन्यवाद देने लगी। परन्तु श्रीकृष्ण लौटकर क्यो नही आये, यह बात फिर उन्हे व्यथित करने लगी। जब नद जी ने यह समझाया कि अब दो दिन पश्चात् वे भी यहाँ आजायेंगे, तब कहीं यशोदा जी को थोडी सी शान्ति मिली। परन्तु जब दो दिन भी निकल गये और बलराम जी को छोडकर अन्य सभी गोपजन भी मथुरा से लौट आए, तब सम्पूर्ण व्रज-जनो को धीरे-धीरे विश्वास सा होने लगा कि अब श्रीकृष्ण गोकुल में लौटकर कभी नहीं आवेंगे। अब उनके हृदय मे शोक और वेदना गहनता के साथ व्याप्त हो गयी और वे स्थान-स्थान पर बैठ कर श्रीकृष्ण के बाल-जीवन की मधुर लीलाओं का वर्णन करते हुए अपने-अपने प्रेम भाव को व्यक्त करने लगे।

जब मथुरा मे श्रीकृष्ण को रहते हुए बहुत दिन व्यतीत हो गये, तब उन्हे व्रज-जनो के वियोग-जन्य दुख का ध्यान आया और उन्होने अपने प्रिय-सखा उद्धव को व्रज-जनो को समझाने के लिये भेजा। उद्धव जी बडे ही ज्ञानी एव प्रकांड पडित थे। वे निर्गुण मार्ग के मानने वाले तथा ब्रह्म के

उपासक थे। वे रथ मे बैठकर ब्रज की अनुपम छटा निहारते हुए सध्या के समय गोकुल ग्राम मे प्रविष्ट हुए। रथ को आया हुआ देखकर सारी जनता उद्धव जी के रथ के पास आकर एकत्रित हो गई, पशु चरना छोडकर वहाँ आ गये और सभी वहाँ रथ को घेर कर खड़े हो गये। परन्तु रथ मे उद्धव जी को बैठा हुआ देखकर सभी निराश हो गये तथा यह आशका करने लगे कि ऐसा ही एक व्यक्ति पहले आकर हमारे अनूठे रत्न को ले गया था। अब न जाने यह कौनसा रत्न यहाँ से लेने आया है? तदुपरान्त उद्धव जी नद के भवनो मे पधारे। वहाँ मार्ग की थकावट दूर करके भोजन किया, फिर उन्होने श्रीकृष्ण के वियोग मे दुखी नद एव यशोदा को बडे आदर एव प्रेम के साथ समझाया। यशोदा जी ने सारी बातें सुनकर अपने हृदय की वेदना का वर्णन करना आरम्भ कर दिया, श्रीकृष्ण और बलराम की कुशल भी पूँछी और अपने पुत्र-प्रेम को प्रकट करते हुए पर्याप्त रुदन किया। यशोदा जी की व्यथा-कथा सुनते-सुनते सारी रात व्यतीत होगई, सवेरा हो गया, फिर भी वह कथा समाप्त न हुई। तब उद्धव जी नद-गृह से उठकर बाहर चले आये। वहाँ से चलकर वे यमुना के किनारे बैठे हुए गोपजनो के मध्य आए। गोपो ने भी अपने कृष्ण-प्रेम का वर्णन करते हुए उद्धव जी को काली नाग के विनाश, दावानल मे से गोप एव गायो की रक्षा, प्रलयकारी वर्षा से ब्रज-जनो के उद्धार आदि से सम्बन्धित श्रीकृष्ण की लोकोपकारी लीलाओ को कहकर सुनाया तथा अपने रोम-रोम मे व्याप्त श्रीकृष्ण के विरह का निवेदन किया। उनकी कथायें सुनकर उद्धव जी भी प्रेम-विभोर होने लगे।

एक दिन उद्धव जी वृन्दावन की अनुपम छटा देखते हुए गोप-मडली मे आ बैठे। वहाँ गोपो ने श्रीकृष्ण का गुणगान करते हुए उनके अलौकिक चरित्र का वर्णन किया, उनके वन-विहार का रहस्य समझाया तथा विशालकाय अघोपनामी क्रूर-सर्प से किस तरह श्रीकृष्ण ने गोपो एव गायो की रक्षा की थी– यह सम्पूर्ण कथा प्रेम-विभोर होकर वर्णन की। इतना ही नहीं उन्होने भयकर अश्व, व्योम नाम के प्रवचक पशुपाल, आदि की लोमहर्षणकारी कथायें भी सुनाई और श्रीकृष्ण के अलौकिक कार्यों की भूरि-भूरि प्रशसा की। तदनन्तर एक दिन उद्धव जी यमुना के किनारे बैठकर वियोग-विधुरा गोपियो की वेदनापूर्ण बातें सुनते रहे। फिर उन्होने दुखी गोपियो को समझाने का भी प्रयत्न किया, लोकोपकार एव लोक सेवा करते हुए विश्व प्रेम में लीन होने का उपदेश दिया तथा योग द्वारा अपने हृदय को

(३) वर्षा के प्रकोप के कारण गोवर्द्धन धारण करने की कथा।

(४) अघोपनामी सर्प की कथा।

(५) विशाल अश्व की कथा।

(६) व्योम पशुपाल की कथा।

इन कथाओं के अतिरिक्त हरिऔध जी ने निम्नलिखित प्रसगो का वर्णन भी 'प्रियप्रवास' में किया है—

(१) गोचारण के उपरान्त सध्या के समय श्रीकृष्ण का सजधज के साथ गोकुल मे प्रवेश।

(२) अक्रूर के साथ मथुरा गमन और ब्रज-वासियो का विलाप।

(३) श्रीकृष्ण की बाल-क्रीडाओ का वर्णन।

(४) उद्धव का योग-सदेश।

(५) महा रास का वर्णन।

(६) गोपियो का विरह-निवेदन।

(७) भ्रमर-गीत।

(८) मुरली-माहात्म्य।

(९) राधा की महत्ता।

कृष्ण-कथा के मूल स्रोत—श्रीकृष्ण सबधी कथाओ का सर्वप्रथम उल्लेख महाभारत मे मिलता है। महाभारत मे श्रीकृष्ण के द्वारिका चले जाने के उपरान्त की कथाओ का ही विशद वर्णन किया गया है, जब कि महाभारत के अशरूप 'हरिवश पुराण' मे श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर अन्य सभी कथाओ का उल्लेख विस्तार के साथ मिलता है। अत 'हरिवश पुराण' ही ऐसा प्रथम ग्रथ है, जिसमे श्रीकृष्ण के बाल्य-जीवन से सम्बन्धित सभी कथाये आई है। परन्तु विद्वानो की राय है कि यह 'हरिवश पुराण' महाभारत के बहुत पीछे लिखा गया है और महाभारत मे श्रीकृष्ण का वर्णन अधूरा रहने के कारण उसे पूरा करने के लिए पीछे से 'हरिवश पुराण' को उसमे जोडा गया है। इसी कारण इस पुराण की गणना १८ पुराणो मे नही है, अपितु इसे उपपुराण माना गया है।[१] इस 'हरिवशपुराण' के 'विष्णु-पर्व' मे श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका गमन की कथायें विस्तार के साथ दी हुई है।[२]

---

१ हिन्दुत्व, पृ० ४०९

२ देखिए हरिवश पुराण, विष्णुपर्व सर्ग ४ से ५६ तक

परन्तु यहां राधा, यशोदा, गोपियो, नद तथा गोपजनों के विरह का वर्णन नही मिलता।

ब्रह्मपुराण के १८२ वें अध्याय से लेकर २१२ वें अध्याय तक भगवान् कृष्ण की सम्पूर्ण-कथा विस्तार के साथ मिलती है। इसमे कृष्ण-जन्म से लेकर द्वारिका मे श्रीकृष्ण-गमन तथा प्रभास क्षेत्र मे जाकर यादवो के विध्वस तक का वर्णन बडी विशदता के साथ किया गया है। यहां पर भी कृष्ण जी की उन सभी लीलाओ का उल्लेख मिलता है, जो उन्होने गोकुल, वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानो पर ब्रज-प्रदेश मे की थी। तदनन्तर पद्मपुराण मे "स्वर्ग-खड" के अन्तर्गत ६९ वें अध्याय से श्रीकृष्ण चरित्र आरम्भ होता है और ७७ वें अध्याय तक चलता है। यहां श्रीकृष्ण की मथुरा-वृन्दावन मे की हुई लीलाओ का विशद वर्णन नही है, परन्तु वृन्दावन की छटा एव उसकी महिमा तथा मथुरा आदि ब्रज के क्षेत्रो की महिमा का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है।[1] यही श्रीकृष्ण के परब्रह्म स्वरूप की बडी विशद व्याख्या की गई है[2] तथा गोपिका, राधा, गोप आदि के माहात्म्य का भी अत्यन्त सजीव वर्णन किया गया है।[3] इसके उपरान्त विष्णुपुराण के पांचवें अश मे प्रथम अध्याय से लेकर ३८ वें अध्याय तक श्रीकृष्ण की सम्पूर्ण कथा अत्यत विस्तार के साथ दी हुई है। यहां अन्य सम्पूर्ण कथाओ के अतिरिक्त महारास का वर्णन भी बडी सजीवता के साथ विस्तारपूर्वक दिया गया है।[4] अन्य सभी लीलाओ का वर्णन और पुराणो जैसा ही है।

तदनन्तर श्रीमद्भागवत पुराण के दशम स्कन्ध मे श्रीकृष्ण जी का चरित्र अत्यत विस्तार के साथ ९० अध्यायो मे दिया गया है। सर्वप्रथम इसी पुराण मे श्रीकृष्ण की लीलाओ का विस्तार के साथ उल्लेख मिलता है। यहां श्रीकृष्ण सबधी प्रत्येक घटना का सागोपाग उल्लेख किया गया है। यहां रासलीला का वर्णन भी अत्यन्त मार्मिक है[5] और महारास का विशद विवेचन किया गया है।[6] श्रीकृष्ण के विरह मे व्यथित गोपियो की दीनावस्था,

---

१ पद्मपुराण, स्वर्गखड, अध्याय ६९ तथा ७१
२ वही, अध्याय ७०
३ वही, अध्याय ७०, ७१ और ७२
४ विष्णुपुराण, पचम अश, अध्याय १३
५ श्रीमद्भागवत पुराण, स्कध १०, अध्याय २९
६. वही, अध्याय ३३

उद्धव का उन गोपियो को समझाने के लिए ब्रज यात्रा करना, उद्धव-गोपी सवाद, भ्रमर-गीत आदि का वर्णन जितनी मार्मिकता, सजीवता एव गम्भीरता के साथ इस पुराण मे मिलता है, उतना अन्यत्र कही नही दिखाई देता।[1] उद्धव जी की यात्रा के समय ब्रज के प्राकृतिक सौंदर्य का विस्तार-पूर्वक वर्णन भी इसी पुराण में सर्वप्रथम मिलता है।[2] यही पुराण समस्त कृष्ण-भक्त कवियो एव कृष्ण-चरित्र वर्णन करने वालो का मूलाधार है।

अग्निपुराण के १२ वें अध्याय मे भी सक्षिप्त श्रीकृष्ण-कथा दी गई है। यह पुराण तो सकलन-काव्य है। इसमे रामायण, महाभारत आदि की सभी कथायें सक्षेप मे दी गई हैं। यहाँ श्रीकृष्ण से सम्बन्धित सभी कथायें एव उनकी सम्पूर्ण लीलायें वर्णित हैं। किन्तु यहाँ महारास, गोपी-विरह, उद्धव-गोपी सम्वाद, राधा-माहात्म्य आदि का वर्णन नही दिया गया है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे प्रथम ब्रह्मखड के अन्तर्गत श्रीकृष्ण के गोलोकस्थित परब्रह्म स्वरूप का बडा ही विशद वर्णन मिलता है।[3] यहाँ राधा का भी अत्यन्त महत्व प्रदर्शित किया गया है तथा राधा जी के गण्डप्रदेश से कोटिसंख्यक गोपियो की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। इतना ही नहीं इस पुराण मे गो, गोप एव गोपियों तथा श्रीकृष्ण के पारस्परिक सम्बन्ध की भी बडी ही सुन्दर दार्शनिक व्याख्या की गई है।[4] आगे चलकर 'श्रीकृष्ण जन्म-खड' मे भगवान् कृष्ण के जन्म से लेकर युवावस्था तक ब्रज-प्रदेश मे की हुई विभिन्न लीलाओ का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ किया गया है। यहाँ रास-क्रीडा का वर्णन अत्यन्त मार्मिक है।[5] यहाँ पर राधा-उद्धव सवाद भी बडे विस्तार के साथ दिया गया है, तथा राधा के कुशल-प्रश्न करने पर उद्धव द्वारा श्रीकृष्ण के कुशल-समाचार पाते ही राधा की मूर्च्छावस्था, उद्धव का उन्हे समझाना, राधा की अत्यन्त विरह-कातर अवस्था आदि का वर्णन यहाँ बडा ही मार्मिक है।[6] यहाँ उद्धव द्वारा राधा जी की भक्ति का वर्णन भी बडा ही अद्वितीय

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, स्कध १०, अध्याय ४६, ४७

२ वही, अध्याय ४६

३ ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखड, अध्याय २, ३

४ वही, अध्याय ५

५ वही, श्रीकृष्ण जन्मखड, अध्याय २८

६ वही, अध्याय ९३

है।[1] इस पुराण मे एक विशेषता यह है कि भगवान् कृष्ण अपने विरह में व्यथित नन्दादि व्रजजनो को आश्वासन देने के लिए गोकुल पधारते हैं और भाडीर वन मे एकत्रित समस्त गोप, गोपी, नन्द, यशोदा आदि को ब्रह्मा जी के शाप से यादवों के विनाश, द्वारिका नगरी का समुद्र मे विलय, पाण्डवों के मोक्ष आदि की कथायें सुनाते हुए समस्त व्रजजनों का समाधान करते हैं तथा अन्त में अपने धाम को लौट जाते हैं।[2] यहाँ श्रीमद्भागवत पुराण से अन्तर इतना ही है कि वहाँ पर तो समस्त व्रजजनों से भगवान् कृष्ण सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र मे मिलते हैं,[3] जबकि यहाँ उनका मिलन व्रज मे ही कराया गया है।

वराहपुराण मे श्रीकृष्ण की कथा का तो उल्लेख नही मिलता, परन्तु यहाँ मथुरा माहात्म्य के साथ-साथ काम्यक वन, वृन्दावन, भद्रवन, भांडीर वन महावन, लोहजघ वन, वकुल वन आदि व्रज के विभिन्न वनो की रमणीय शोभा एव उनके प्रभाव का वर्णन अत्यन्त विस्तार के साथ मिलता है।[4] देवी-भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण-कथा अत्यन्त सक्षेप मे मिलती है। यहाँ केवल पाँच अध्यायो में ही भगवान् कृष्ण के जन्म एव अन्य लीलाओ का उल्लेख कर दिया गया है। वैसे यहाँ सभी घटनाओं एव लीलाओं का सकेत सक्षेप मे मिल जाता है। क्योकि कृष्णजन्म, वसुदेव का गोकुल गमन, कस द्वारा देवकी के हाथो से कन्या का छीनना और उसका आकाश में चला जाना, पूतना, वकासुर, वत्सासुर, धेनुकासुर, प्रलम्वासुर, अघासुर केशी आदि का वध, कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि का विनाश, जरासध का आक्रमण, कृष्ण जी का द्वारिका गमन आदि सभी प्रसगो की ओर यहाँ सकेत किया गया है।[5]

इसके अतिरिक्त जैनियो के जिनसेन कृत अरिष्टनेमि पुराण मे भी श्रीकृष्ण की कथा मिलती है। यहाँ श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर द्वारिका गमन तक की कथा ४४ अध्यायो मे बड़े विस्तार के साथ दी गई है। इस कथा में कृष्ण द्वारा केशी, गज, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि के वध का वर्णन है,

---

१ ब्रह्मवैवर्त पुराण, श्रीकृष्ण जन्म-खंड, अध्याय ९६

२. वही, अध्याय १२९

३ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कध, अध्याय ८२

४ वराहपुराण, अध्याय १५३

५. देवीभागवत पुराण, चतुर्थ स्कंध, अध्याय १०–२५

जरासध के मथुरा पर आक्रमण का भी उल्लेख है और उसी के भय से श्रीकृष्ण का द्वारिका मे पलायन करने का भी वर्णन मिलता है।[1] परन्तु यहाँ गोप-गोपियो की विरहावस्था, उद्धव-गोपी सवाद आदि का वर्णन नही मिलता।

इस तरह श्रीकृष्ण सम्बन्धी कथायें महाभारत से लेकर विभिन्न पुराणो मे फैली हुई हैं। भारत मे विष्णु के अवतारो मे मे राम और कृष्ण के ही नाम सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं और इनसे सम्बन्ध रखने वाली गाथायें ही अधिक से अधिक भारतीय ग्रथो मे सगृहीत मिलती हैं। इन ग्रथो मे से कृष्ण-कथा के लिए सर्वाधिक महत्व श्रीमद्भागवत पुराण को दिया जाता है। यही पुराण कृष्ण-भक्तो की परमनिधि है और इसी के आधार पर महात्मा सूरदास, नददास, कृष्णदास आदि अष्टछाप के कवियो ने अपनी रचनायें प्रस्तुत की हैं। भक्तिकाल के अधिकाश कृष्ण-भक्त कवि इसी पुराण से प्रभावित हैं। रीतिकाल की कृष्ण-कथाओं पर भी बहुत कुछ इसी पुराण का प्रभाव है। वैसे रीतिकालीन कवि गाथा सप्तशती, अमरुक शतक, आर्या सप्तशती आदि से भी प्रभावित हुए हैं। आधुनिक युग में भी कृष्ण-सम्बन्धी वे ही कथायें अधिक प्रभावित हुई हैं, जिनका उल्लेख भक्तिकाल के कवियो ने भागवत पुराण के दशम स्कध से प्रभावित होकर किया है। आधुनिक युग का 'कृष्णायन' नामक महाकाव्य भी प्रमुख रूप से महाभारत एव श्रीमद्भागवत पुराण के आधार पर ही लिखा गया है। इस तरह भारतीय कृष्ण-कथाओ पर श्रीमद्-भागवत पुराण का प्रभाव सर्वोपरि है।

'भागवत' और 'प्रियप्रवास' की कथाओ मे रूपान्तर—

(१) तृणावर्त की कथा—श्रीमद्भागवत मे लिखा है कि तृणावर्त नाम का एक दैत्य था। वह कम का निजी सेवक था। कस की प्रेरणा से ही बवडर के रूप में वह गोकुल मे आया और बैठे हुए बालक श्रीकृष्ण को उडाकर आकाश में ले गया। उसने गोकुल मे आते ही भयकर बवडर का रूप धारण कर लिया, परन्तु जब वह श्रीकृष्ण को आकाश मे ले गया, तब श्रीकृष्ण ने भी अपना भार बढा लिया। अत: कृष्ण जी के भार को न सह सकने के कारण उस दैत्य का वेग रुक गया और कृष्णजी ने उसका गला ऐसा पकडा कि वह अपने को न छुडा सका। अन्त मे उसकी बोलती बन्द हो गई और वह मर गया।[2] इस कथा मे अतिमानवीय बातें अधिक है।

---

१. अरिष्टनेमि पुराण, अध्याय ३५-४०

२. श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कध, अध्याय ७

हरिऔध जी ने इस अतिमानवीय रूप को निकाल कर उसको बुद्धिसंगत बनाने का प्रयत्न किया है और इस कथा को सरल और सीधे ढंग से रखा है। आपने तृणावर्त को दैत्य नहीं माना है, अपितु उसे अचानक ही उठने वाली भयंकर आंधी कहा है, जिसकी भयंकर गर्जना ने समस्त दिशाओं को कंपा दिया था। जिसके प्रबल वेग के कारण सर्वत्र घनघोर बादल छागये, अनेक वृक्ष उखड गये, छत उड गई, भवन हिल गये तथा समस्त व्रजजनों की बुरी दशा हो गई। परन्तु तृणों के इस आवर्त्त या भ्रमर की यह विडम्बना कुछ क्षणों में ही इस तरह समाप्त हो गई, जिस तरह प्रायः आंधियाँ कुछ देर चलने के बाद स्वयं ही रुक जाती हैं। उस समय कृष्ण भी अनायास घर में कहीं छिपकर बैठ गये थे, परन्तु आंधी के समाप्त होते ही हँसते और किलकते हुए घर में से निकल आये। अतः यह कोई दैत्य की लीला या अतिमानव का कार्य नहीं था, अपितु प्रकृति का प्रकोप था, जो प्रायः होता ही रहता है।[1]

(२) **कालिय नाग की कथा**—श्रीमद्भागवत में कालिय नाग को रमणक द्वीप में रहने वाला एक महान् सर्प माना गया है। वह बडा विषैला था और गरुड तक की परवा नहीं करता था। एक बार गरुण और कालिय नाग में युद्ध हो गया। कालिय नाग अपने एक सौ एक फन फैलाकर गरुण को डसने के लिए उन पर टूट पडा। परन्तु गरुड ने अपने पंख से ऐसा प्रहार किया कि उसकी चोट खाकर कालिय नाग रमणक द्वीप से भागकर यमुना के कुंड में आकर रहने लगा था। इस कुण्ड में गरुड जी शापवश आ नहीं सकते थे।[2] अतः यहाँ वह स्वच्छंदतापूर्वक अपने विषैले प्रभाव से यमुना के उस कुण्ड के जल को विषाक्त बनाकर रहा आता था। उस जल को जो कोई प्राणी पीता, वही तुरन्त मर जाता था। एक दिन श्रीकृष्ण ने खेल ही खेल में उस कालिय दह में कूदकर उस नाग को पकड लिया और अपने पैरों की चोट से उसके एक सौ एक फनों को कुचल डाला। इससे उस नाग की जीवनी-शक्ति क्षीण हो चली, वह मुंह और नथुनों से खून उगलने लगा तथा अंत में चक्कर काटकर मूर्च्छित हो गया। अन्त में उसकी पत्नियों ने प्रार्थना करके उस नाग के प्राण बचाये। परन्तु श्रीकृष्ण ने कहा कि अब इसे इस यमुना कुण्ड को छोडकर अपने रमणक द्वीप में ही चला जाना चाहिए। अन्त में कालिय नाग और उसकी पत्नियों ने श्रीकृष्ण की पूजा की और वे सब अपने

---

१ प्रियप्रवास २।३६-४५

२. श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय १७

परिवार सहित रमणक द्वीप को चले गये।[1] हरिऔध जी ने इस कथा मे यह परिवर्तन किया है कि उस नाग को सदैव उसी कुण्ड में रहने वाला लिखा है और अपनी जाति एव लोक-हित की रक्षा के लिए श्रीकृष्ण को उस नाग के भगाने का कार्य करते हुए बताया है। ब्रज-जनो की आकुलता, यशोदा-नन्द की अधीरता, सभी के रोदन आदि का वर्णन तो दोनो स्थानो पर समान ही है। परन्तु उस नाग को वश मे करने की पद्धति मे हरिऔध जी ने परिवर्तन प्रस्तुत किया है। 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण पहले वेणु-नाद के द्वारा बडी सावधानी से उस भयकर नाग को वश में करते हैं और फिर युक्तियो के साथ उसे निकटवर्ती पर्वत के समीप एक गहन वन मे निकाल देते हैं। साथ ही कवि ने यह भी लिखा है कि बहुत से व्यक्ति यह भी कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने उस नाग को सपरिवार मार डाला था। कुछ मनीषी यह भी विचार करते हैं कि वह नाग अभी तक किसी गड्ढे में छिपा पडा है और बहुत से जनो से यह भी सुना गया है कि वह नाग विष-दंतहीन होकर इस ब्रज-भूमि को छोडकर कहीं अन्यत्र चला गया है।[2] इस तरह इस कथा मे से भी कवि ने कृष्ण जी के प्रति मानवीय रूप को हटाकर एक साधारण व्यक्ति के रूप की प्रस्थापना की है।

(३) **दावानल की कथा**—श्रीमद्भागवत पुराण में दावानल का वर्णन करते हुए लिखा है कि एक दिन जिस समय सभी गायें वन मे चर रही थी, उसी समय अचानक दावाग्नि लग गई। साथ ही बडी जोर से आँधी भी चलने लगी। उस समय समस्त गोप, गायें तथा अन्य वन के प्राणी श्रीकृष्ण सहित उस भयकर दावाग्नि में फँस गये। तब अपने सखा ग्वाल-बालो की असहाय अवस्था देखकर भगवान् कृष्ण बोले—"डरो मत, तुम अपनी आँखें बद करलो।" इतना सुनते ही समस्त गोपो ने अपनी-अपनी आँखें बद करली। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने उस भयकर आग को अपने मुँह से पी लिया और सभी प्राणियो को उस घोर सकट से बचा लिया। इतना ही नही तदनन्तर आँखें खोलते ही समस्त गोपो ने अपने को भाडीर वट के पास पाया। इस तरह सभी प्राणियो को दावानल से बचा देख सभी ग्वाल-बाल बडे विस्मित हुए और श्रीकृष्ण की योगसिद्धि एव योगमाया के प्रभाव से अपनी

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय १६

२ प्रियप्रवास ११।११-५४

रक्षा देखकर सब यही समझने लगे कि श्रीकृष्ण कोई देवता हैं।[1] हरिऔध जी ने भी इस भयंकर दावानल का ऐसा ही वर्णन किया है। परन्तु ग्वाल-वालो, गायो आदि की अत्यत कारुणिक दशा देखकर श्रीकृष्ण ने उनके उद्धार का जो उपाय यहाँ किया है, वह भागवत से सर्वथा भिन्न है। भागवत में तो वे आग को पी जाते हैं। परन्तु यहाँ अपने बन्धु-वर्ग एव अपनी गायो की रक्षा के लिए वे आग मे कूद पड़ते हैं तथा अपनी अलौकिक स्फूर्ति दिखाते हुए समस्त ग्वालो एव गायो को उस भयकर दावानल मे से एक दुरूह पथ द्वारा निकाल लाते हैं।[2] यहाँ भी उस अतिमानवीय कार्य को साधारण जनोचित बनाने का प्रयत्न किया गया है।

(४) गोवर्द्धन-धारण की कथा—श्रीमद्भागवत पुराण मे लिखा है कि पहले ब्रजजन इन्द्र के लिए यज्ञ किया करते थे। परन्तु कृष्ण जी के कहने से एक बार इन्द्र के लिए किया जाने वाला यज्ञ ब्रज में बन्द कर दिया गया। अपनी पूजा के बन्द हो जाने से इन्द्र क्रुद्ध हो गये और उन्होंने प्रलयकारी मेघो को बुला कर ब्रज पर मूसलाधार वर्षा करने की आज्ञा दी। सहसा ब्रज मे घनघोर घटायें छा गईं और भयकर वर्षा हुई, जिसमे सारा ब्रज डूबने लगा। तब भगवान् कृष्ण ने अपने ब्रज-प्रदेश की रक्षा करने के लिए खेल ही खेल में एक ही हाथ से गिरिराज गोवर्द्धन को उखाड़ लिया और जैसे छोटे-छोटे बालक बरसाती छत्ते के पुष्प को उखाड़कर हाथ पर रख लेते हैं, वैसे ही उन्होने उस महान पर्वत को धारण कर लिया। तदनन्तर भगवान ने समस्त गोपो, गायो एव अन्य प्राणियो को सम्पूर्ण सामग्री के साथ उस पर्वत के गड्ढे मे आराम से स्थापित कर दिया। इस तरह व सात दिन तक बराबर उस पर्वत को धारण करते रहे। अत मे जब इन्द्र का कोप शान्त हो गया, वर्षा सम्बन्धी सारी बाधा दूर हो गई, तब उस पर्वत को भगवान् ने सब प्राणियो के देखते-देखते पूर्ववत् उसके स्थान पर ही रख दिया।[3] हरिऔध जी ने इस कथा को भी बुद्धिसगत बनाने के लिए यह परिवर्तन किया है कि ब्रज मे होने वाली उस भयकर वर्षा से अपने बन्धु-बाधवों, गायो, ग्वाल-बालों आदि को बचाने के लिए श्रीकृष्ण ने सबसे यह कहा कि यह आपत्ति तो शीघ्र दूर हो नहीं सकती, अत आप सभी लोग घर छोड़कर गोवर्द्धन पर्वत

१ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कध, अध्याय १९
२ प्रियप्रवास, ११।५६-८६
३ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कध, अध्याय २५

की कदराओ, दरियो अथवा गुफाओ मे आकर रहने लगो। इसमे बहुत सी कदरायें अत्यत दिव्य हैं, बहुत विस्तृत हैं और वे पुर-ग्राम के निकट भी हैं। कृष्ण जी की यह प्रिय वात सुनकर सभी व्रजजन तुरन्त ही उस पर्वत मे रहने के लिए चल दिये। वहाँ कृष्ण जी ने उनके लिए सभी प्रकार की सुविधायें प्रस्तुत कर दी थीं और रोगी, वृद्ध एव दुखी जनो को लेजाने के लिए उन्होने वहुत से सहायक लगा दिये थे। इस तरह सम्पूर्ण व्रज श्रीकृष्ण के कहने पर गिरिराज गोवर्द्धन की कदराओ मे जाकर रहने लगा था और उस पर्वत पर श्रीकृष्ण दिनरात घूम-घूम कर समस्त व्रज-जनो की सुख-सुविधा मे लगे रहते थे। अत उनका इतना अधिक प्रसार देखकर सभी यह कहने लगे कि श्याम ने पर्वत को उगली पर उठा लिया है।[1]

(५) अघासुर की कथा—भागवत मे लिखा है कि अघासुर पूतना और वकासुर का छोटा भाई था तथा कस के द्वारा व्रज मे कृष्ण एव गोपो को नष्ट करने के लिए भेजा गया था। एक दिन वह भयकर अजगर का रूप धारण कर के उस मार्ग मे लेट गया, जहाँ से गोप-मडली गायें चराने के लिए वन मे जाया करती थी। उसका शरीर एक योजन लम्वा तथा पर्वत के समान विशाल एव मोटा था। उसका विचार था कि जैसे ही ग्वाल-वाल यहाँ से निकलेंगे, मै तुरन्त ही उन्हे निगल जाऊँगा। इसीलिए वह अपने चौडे मुख को फाडे हुए मार्ग मे लेट गया। जव ग्वाल-वालो ने उसे देखा, तो वे उसके वारे मे नाना प्रकार की कल्पनायें करने लगे। तव श्रीकृष्ण स्वय उसके मुख मे घुस गये और मुख मे जाकर अपने शरीर को इतना वडा वना लिया कि उसका गला ही रुँध गया। आँखें उलट गई और वह व्याकुल होकर छटपटाने लगा। अत मे उसे मार कर भगवान कृष्ण उसके मुख से वाहर निकल आये और सभी ग्वाल-वालो को उस दैत्य से वचा लिया।[2] हरिऔध जी ने इस कथा को साधारण रूप देते हुए उस भीषण सर्प को वहीं पर्वत की कदराओ मे रहता हुआ वताया है और लिखा है कि वह कभी-कभी अपनी भूख शान्त करने के लिए वाहर निकल आता था। एक दिन श्रीकृष्ण ने एक पेड पर चढकर उस भीषण सर्प को देख लिया और तुरन्त उसके समीप पहुँच कर अपने वेणु को इतनी सुन्दर रीति से धीरे-धीरे वजाने लगे कि वह सर्प वेणुनाद पर मोहित हो गया। तव वडे कौशल के साथ श्रीकृष्ण ने श्रेष्ठ अस्त्र-

१ प्रियप्रवास १२।१८-६८
२ श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कध, अध्याय १२

गोपियो के समझाने के लिए गोकुल मे आगमन, (२) उद्धव का गोप-गोपियो को योग मार्ग का उपदेश देना तथा स्वयं राधा के भक्त होकर मथुरा लौटना और (४) जरासंध के आक्रमण एव श्रीकृष्ण का द्वारिकागमन। इन चार घटनाओ का वर्णन तो कवि ने ठीक-ठीक क्रम से किया है, परन्तु श्रीकृष्ण सबधी शेष घटनाओ को आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र विरह-व्यथित गोप-गोपियो के मुख से कहलवाकर कथा-वस्तु की नवीन ढग से योजना की है।

वस्तु मे नवीन उद्भावनायें—अभी तक 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु से सम्बन्धित उन घटनाओ पर विचार किया गया है, जिनका उल्लेख कथाओ के रूप मे प्राचीन ग्रन्थो मे भी मिल जाता है। परन्तु अब देखना यह है कि उन प्राचीन कथाओ के अतिरिक्त हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे वस्तु सम्बन्धी और कौन-कौन सी नवीन उद्भावनायें की हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता और जो कवि की अपनी देन मानी जाती हैं। उनमे से निम्नलिखित तीन प्रसग प्रमुख हैं —

(१) पवन-दूती प्रसग, (२) श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप और (३) राधा का लोक-सेविका रूप।

(१) **पवन-दूती प्रसग**—'प्रियप्रवास' मे विरह-विधुरा राधा श्रीकृष्ण के वियोग मे अत्यन्त दु खी होकर अपनी वेदना को श्रीकृष्ण तक पहुँचाने के लिए प्रातः पवन को दूती बनाकर भेजती है। प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की प्रथा भारतीय काव्यो मे अत्यन्त प्राचीन है। इसका श्रीगणेश हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद मे ही मिल जाता है, क्योकि ऋग्वेद मे प्रकृति के पदार्थों को अपना सदेश देवताओ तक लेजाने वाला माना गया है। उदाहरण के लिए 'अग्नि सूक्त' मे ही यह कहा गया है कि "अग्नि प्राचीन एव नवीन ऋषियो द्वारा प्रार्थना एव स्तुति करने योग्य है। वह अग्नि समस्त देवताओ को यहाँ बुलाकर लावे, जिससे वे हमारे यज्ञ को पूर्ण करें।"[1] यहाँ स्पष्ट ही अग्नि को देवताओ के पास यज्ञ का सदेश लेजाने वाला माना गया है। इसी आधार पर आगे चलकर काव्यो मे पशु, पक्षी, वानर, मेघ आदि को सदेश लेकर जाता हुआ चित्रित किया गया है। उपनिषद् की कथाओ मे नचिकेता को इसीलिए बैल, अग्नि, पक्षी आदि से ब्रह्म का सदेश प्राप्त होता है। रामायण मे भगवान् राम का सदेश एक वानर हनुमान लेकर जाता है और

---

१ अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋग्वेद १।१।२

समय यह व्योमासुर ग्वाल का वेप धारण करके वहाँ आ मिला और जो ग्वाल चोर बने हुए थे उनके साथ चोर बन कर ही खेलने लगा। अब वह चोर बन कर बहुत से ग्वालो को चुरा-चुराकर एक पहाड की गुफा मे ले जाकर डाल देता और उस गुफा के दरवाजे को एक बडी चट्टान से ढक देता था। इस तरह जब केवल चार-पाँच ग्वाल ही शेप रह गये, तब भगवान् कृष्ण को उसकी करतूत पता चल गई और जिस समय वह ग्वाल-बालो को लिए जा रहा था, उसी समय उन्होने जैसे सिंह भेडिये को दबोच ले उसी तरह उसे घर दबाया। व्योमासुर भी बडा बली था। परन्तु श्रीकृष्ण ने उसे अपने शिकजे मे फाँसकर तथा दोनो हाथो से भूमि पर गिराकर उसका गला घोट दिया। कुछ ही देर बाद राक्षस मर गया। तब भगवान् कृष्ण ने गुफा के द्वार पर लगी चट्टान को तोड कर ग्वाल-बालो को सकट से छुड़ाया।[1] हरिऔध जी ने इस कथा को पूर्णत बदल दिया है। आपने व्योम को एक पशुपाल माना है, जो प्राणियो को पीडा देकर अपना मनोविनोद किया करता था। वह कभी बैल, बछडे या गायें चुरा लेजाता था, कभी उन्हें जल मे डुबा देता था और कभी उन्हें भारी डडे से आघात करके भगहीन कर देता था। कभी-कभी वह वृथा ही वन मे आग लगाकर निरीह गायें और बछडो को जला देता था। उसके इन दुष्कर्मों एव दुराचारों से सारी व्रजभूमि पीडित थी। तब श्रीकृष्ण ने एक भारी एव लम्बी सी यष्टि (छडी) लेकर उस नीच को मार डाला और अपने व्रजजनो को उस खल की क्रूरता से बचा लिया।[2] कवि का ध्यान यहाँ पर भी कथा को न्यायसगत एव तर्कसम्मत बनाने की ओर रहा है।

इन कथाओ के अतिरिक्त जितनी भी अन्य कथाओ के सकेत प्रियप्रवास' मे मिलते हैं, उनका न तो कवि ने विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ौर न कुछ उनमे परिवर्तन ही प्रस्तुत किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि थाओ का जो क्रम होना चाहिए था, वह क्रम कवि ने अपने इस काव्य मे ही रखा है। यहाँ जन्म से लेकर जरासघ के आक्रमण तक की घटनाओ को ़वि ने आभीरो या ग्वाल-बालो या गोपियो के स्मरण के रूप मे ही प्रस्तुत ़या है। केवल क्रम से चार घटनाओ का ही वर्णन मिलता है—(१) ..क्रूर के साथ श्रीकृष्ण एव बलराम का मथुरा गमन, (२) उद्धव का गोप-

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण—दशम स्कंध, अध्याय ३७

२ प्रियप्रवास १३।६८-८४

गोपियों के समझाने के लिए गोकुल मे आगमन, (३) उद्धव का गोप-गोपियो को योग मार्ग का उपदेश देना तथा स्वयं राधा के भक्त होकर मथुरा लौटना और (४) जरासध के आक्रमण एव श्रीकृष्ण का द्वारिकागमन। इन चार घटनाओ का वर्णन तो कवि ने ठीक-ठीक क्रम से किया है, परन्तु श्रीकृष्ण सबधी शेष घटनाओ को आवश्यकतानुसार यत्र-तत्र विरह-व्यथित गोप-गोपियों के मुख से कहलवाकर कथा-वस्तु की नवीन ढग से योजना की है।

वस्तु मे नवीन उद्भावनायें—अभी तक 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु से सम्बन्धित उन घटनाओ पर विचार किया गया है, जिनका उल्लेख कथाओ के रूप मे प्राचीन ग्रन्थो में भी मिल जाता है। परन्तु अब देखना यह है कि उन प्राचीन कथाओ के अतिरिक्त हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे वस्तु सम्बन्धी और कौन-कौन सी नवीन उद्भावनायें की हैं, जिनका उल्लेख अन्यत्र नही मिलता और जो कवि की अपनी देन मानी जाती हैं। उनमे से निम्नलिखित तीन प्रसग प्रमुख हैं —

(१) पवन-दूती प्रसग, (२) श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप और (३) राधा का लोक-सेविका रूप।

(१) **पवन-दूती प्रसग**—'प्रियप्रवास' मे विरह-विधुरा राधा श्रीकृष्ण के वियोग में अत्यन्त दु खी होकर अपनी वेदना को श्रीकृष्ण तक पहुँचाने के लिए प्रात पवन को दूती बनाकर भेजती है। प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की प्रथा भारतीय काव्यो मे अत्यन्त प्राचीन है। इसका श्रीगणेश हमें सर्वप्रथम ऋग्वेद मे ही मिल जाता है, क्योकि ऋग्वेद मे प्रकृति के पदार्थों को अपना सदेश देवताओ तक लेजाने वाला माना गया है। उदाहरण के लिए 'अग्नि सूक्त' मे ही यह कहा गया है कि "अग्नि प्राचीन एवं नवीन ऋषियो द्वारा प्रार्थना एव स्तुति करने योग्य है। वह अग्नि समस्त देवताओ को यहाँ बुलाकर लावे, जिससे वे हमारे यज्ञ को पूर्ण करें।"[1] यहाँ स्पष्ट ही अग्नि को देवताओ के पास यज्ञ का सदेश लेजाने वाला माना गया है। इसी आधार पर आगे चलकर काव्यो मे पशु, पक्षी, वानर, मेघ आदि को सदेश लेकर जाता हुआ चित्रित किया गया है। उपनिषद् की कथाओ मे नचिकेता को इसीलिए बैल, अग्नि, पक्षी आदि से ब्रह्म का सदेश प्राप्त होता है। रामायण मे भगवान् राम का सदेश एक वानर हनुमान लेकर जाता है और

---

१ अग्नि. पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत।
स देवाँ एह वक्षति ॥ ऋग्वेद १।१।२

सीताजी को उनकी सारी व्यथा-कथा सुनाता है। महाभारत मे 'नलोपाख्यान' के अतगत हस पक्षी निषध देश के राजा नल का सदेश लेकर दमयन्ती के पास जाता है।[1] महाकवि कालीदास रचित 'मेघदूत' काव्य मे तो स्पष्ट ही मेघ विरही यक्ष का सदेश अलकापुरी मे स्थित यक्ष की पत्नी के पास ले जाता हुआ चित्रित किया गया है, क्योकि वहाँ यक्ष मेघ से कहता है कि "हे मेघ! आप सतप्त जीवो को शरण देने वाले हैं अर्थात् जो धूप से दु खी हैं अथवा जो प्रवास-विरह से दु खी है, उन्हे क्रमश जल से और अपने स्थान पर जाने की प्रेरणा करके आप उनकी रक्षा करते है। मैं भी भगवान् कुबेर के क्रोध से अपनी प्रिया से वियुक्त हो गया हूँ। अत मेरे सदेश को मेरी विरहिणी प्रिया के समीप ले जाइये। मेरी वह प्रिया यक्षेश्वर की नगरी उस अलकापुरी मे निवास करती है, जिसके बाहरी उद्यान मे विराजमान शिवजी के शिर की चन्द्रिका से वहाँ के धनिको के गृह सदैव देदीप्यमान रहते हैं।"[2] कालिदास के 'मेघदूत' के ही अनुकरण पर आगे चलकर धोई का पवनदूत' लिखा गया। इसी आधार पर 'नेमिदूत', 'हसदूत', 'उद्धवदूत' आदि काव्य लिखे गये।

हिन्दी-साहित्य मे भी यह दूत-प्रणाली प्रारम्भ से प्रचलित है। हिन्दी भाषा के सर्वप्रथम महाकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' मे महाराज पृथ्वीराज का सदेश लेकर एक तोता पद्मावती के पास समुद्र-शिखर नामक दुर्ग मे जाता है और वह तोता महाराज पृथ्वीराज का सदेश देता हुआ उनके यश, वैभव आदि के बारे मे अनेक कथायें सुनाता है।[3] महाकवि विद्यापति ने भी अपने पदो मे विरहिणी नायिका के समीप काग को उसके प्रिय का सदेश लेकर आने वाला माना है, क्योकि एक दिन विरहिणी अपने आँगन मे चन्दन के वृक्ष पर बैठकर बोलते हुए काग से कहती है कि यदि तुम्हारे बोलने से आज मेरे

---

१. महाभारत, वन पर्व, अध्याय ५२।२१-३२

२ सतप्ताना त्वमसि शरण तत्पयोद प्रियाया
सदेश मे हर धनपतिक्रोध विश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणा
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या ॥
—मेघदूत, पूर्वमेघ, ७

३ सुकसमीप मन कुँवरि को लग्यो वचन के हेतु।
अति विचित्र पडित सुआ कथत जु कथा अनेत ॥
—पद्मावती, विवाह समय—१३

प्रियतम घर आजायें, तो मैं तेरी चोंच सोने से मढवा दूंगी ।[1] सूफी कवियो में तो यह प्रणाली अत्यधिक प्रचलित दिखाई देती है। उनके काव्यो मे प्राय सभी विरहिणी नारियाँ अपना-अपना सदेश तोता, परेवा, भौंरा, काग आदि के द्वारा ही भेजती हैं। सूफी कवि जायसी के 'पदमावत' मे पद्मावती का सदेश लेकर तोता आता है, जो राजा रतनसेन को पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करके अपने साथ ही लिवा ले जाता है। आगे चलकर राजा रतनसेन के वियोग मे व्यथित उनकी पहली रानी नागमती अपना विरह-सदेश भौंरा एव काग द्वारा भेजती है और कहती है कि प्रियतम से कह देना कि तुम्हारी प्रिया तुम्हारे वियोग की अग्नि मे जलकर मर गइ, उसी का धुंआ हम लगा, जिससे हम काले हो गये और घबडाकर तुम्हारे पास आए हैं।[2] सूफी कवि उसमान ने अपने 'चित्रावली' काव्य में चित्रावलि के विरह का सदेश लेकर परेवा को राजकुमार के पास भेजा है। वह परेवा राजकुमार को सदेश सुनाता है तथा उसे चित्रावलि मे मिलाने की पूरी-पूरी व्यवस्था करता है।[3] सूफी कवि कासिमशाह ने अपने 'हस जवाहिर' काव्य मे जवाहिर हस पक्षी को अपने प्रियतम का नाम स्मरण करते हुए सुनती है, जिसे सुनकर वह चकित हो जाती है और उसके द्वारा अपने विरह का सदेश भेजने की इच्छा प्रकट करती है।[4] अत मे उसी के द्वारा अपना सदेश भेजती है। सूफी कवियो के काव्यो मे अनेक पक्षी सदेहवाहक का कार्य करते हुए दिखाई देते हैं।

---

१ मोरा रे अँगनवाँ चनन केरि गछिआ ताहि चढ़ि कुरुरय काग रे।
सोने चोंच बाँधि देव तोयँ वायस जओं पिआ आओत आज रे॥

—विद्यापति पदावली—भावोल्लास—२२२

२. पियसों कहेउ सदेसड़ा, हे भौंरा हे काग।
सो धनि विरहे जरि मुई, तेहिक धुंआ हम लाग॥

—नागमती विरहखड

३. चला परेवा कहि यह बाता। आवा जहँ जोगी रगराता॥
कहेसि कुंवर दुख रैनि विहानी। उठि चलु अव सुख घरी तुलानी॥

—सूफी काव्य सग्रह, पृ० १३८

४. कहो नाँव तुम आपनो, कहो वसो ज्यहि देश।
सुमरिन करों सो हिये महँ, पठवों तहाँ सदेश॥

—सूफी काव्य सग्रह, पृ० १५६

महाकवि तुलसीदास ने भी अपने काव्यो मे प्राकृतिक जीव-जन्तुओ को सदेशवाहक के रूप मे कार्य करते हुए अकित किया है। सर्वप्रथम वे गृद्धराज जटायु नामक पक्षी के द्वारा अपने पिता के पास सदेश भेजते हैं और कहते हैं कि तुम सीताहरण की बात पिताजी से मत कहना, क्योकि यह सुनकर पिताजी को अत्यत दुख होगा। यह सब समाचार तो दशानन स्वय अपने परिवार के सहित स्वर्ग मे आकर पिताजी को सुनायेगा।[1] तदनन्तर 'वाल्मीकि रामायण' की भाँति तुलसी के 'रामचरित मानस' मे हनुमान तथा अगद जैसे वानर राम का सदेश लेकर क्रमश सीताजी के पास और रावण के दरबार मे जाते हैं। रीतिकाल के स्वच्छन्द कवि घनानद ने विरहिणी का विरह-निवेदन करते हुए पवन को उसके विरह का सदेश लेजाने के लिए आग्रह किया है और बताया है कि "हे पवन! तू सब जगह आती-जाती रहती है, तनिक मुझ पर भी कृपा कर और मेरे प्राणप्रिय श्रीकृष्ण के पैरो की धूल तनिक मेरे लिए लाकर दे दे, जिसे मैं अपनी विरह-व्यथा को दूर करने के लिए अपनी आँखो मे धारण कर लूँगी।"[2]

इस प्रकार हरिऔध जी के सामने प्राकृतिक पदार्थों को दूत या दूती बनाकर भेजने की एक दीर्घ परम्परा विद्यमान थी। उसी परम्परा के अनुकूल प्रसग देखकर आपने अपने 'प्रियप्रवास' मे पवन को दूती बनाकर भेजने की

---

१ मेरी सुनियो, तात! सदेसो।
सिया-हरन जनि कह्यो पितासो, होइहै अधिक अँदेसो।
रावरे पुन्य प्रताप, अनल महँ अलप दिननि रिपु दहिहै।
कुल-समेत सुर सभा दसानन समाचार सब कहिहै॥
—गीतावली, अरण्यकाड

२ ए रे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन,
बीर तोसो और कौन मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े को समान,
घन-आनन्द-निधान सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अति मोहि प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
विरह-विथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन्हैं पायन की हा! हा! नैकु आनि दै।
—घनानद कवित्त

कल्पना की। अब यदि इस 'पवन-दूती' प्रसग के बारे मे विचार करें तो पता चलेगा कि इस वर्णन पर कालिदास के 'मेघदूत' का अत्यधिक प्रभाव है। अंतर केवल इतना ही है कि कालिदास ने जिन भावो एव उद्गारो को यक्ष के द्वारा मेघ के सामने व्यक्त कराया है, उन्ही भावो एव उद्गारो को यहा राधा पवन के सम्मुख प्रकट करती है। उदाहरण के लिए 'मेघदूत' मे यक्ष कहता है कि "हे मेघ ! मेरे प्रिय कार्य को शीघ्र पूरा करने की उत्कट लालसा तुम्हारे हृदय मे विद्यमान है, फिर भी मैं यह देख रहा हूँ कि विकसित कुटज के पुष्पो से परिपूर्ण सुगध वाला प्रत्येक पर्वत तुम्हे आकर्षित करके मार्ग मे तुम्हारे विलम्ब का कारण होगा। अत आँसुओं से परिपूर्ण नयन वाले मयूरो की वाणियो का स्वागत करके तुम किसी रीति से शीघ्र ही जाने की चेष्टा करना।"[१]

हरिऔध जी ने उक्त भाव को अपने 'पवन-दूती' प्रसग में तनिक सा परिवर्तन करते हुए इस तरह व्यक्त किया है—

"ज्यो ही मेरा भवन तज तू अल्प आगे बढेगी।
शोभावाली अमित कितनी कुज-पुजें मिलेंगी।
प्यारी छाया मृदुल स्वर से मोह लेंगी तुझे वे।
तो भी मेरा दुख लख वहाँ तू न विश्राम लेना॥"

इसके अतिरिक्त 'मेघदूत' मे यक्ष मेघ से कहता है—"हे मेघ ! कृषि कार्य का फल तुम्हारे ही अधीन है। इसलिए भ्रुकुटि विलासो से अनभिज्ञ कितनी ही कृषक रमणियाँ बडे प्रेम के साथ तुम्हे आँखो मे पीती हुई देखेंगी। उस समय हल के जोतने से उत्पन्न सुरभि वाले उन्नत क्षेत्र मे जलवृष्टि करके तुम शीघ्र ही उत्तर दिशा की ओर चल देना।"[२] 'मेघदूत' के इस भाव को

---

१ उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासो
कालक्षेप ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः सजलनयनैः स्वागतीकृत्य केका
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान्गन्तुमाशु व्यवस्येत्।
—मेघदूत, पूर्व मेघ, २२

२ त्वय्यायत्त कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञै
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनै पीयमान।
सद्य सीरोत्कषणसुरभि क्षेत्रमारुह्य माल
किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण॥
—वही, पृ० १६

हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' में राधा पवन के सम्मुख इस तरह व्यक्त करती है —

कोई क्लान्ता कृषक ललना खेत में जो दिखावे।
धीरे-धीरे परस उसकी क्लान्तियों को मिटाना।
जाता कोई जलद यदि हो व्योम में तो उसे ला।
छाया द्वारा सुखित करना, तप्त भूतांगना को॥

इसके साथ ही 'मेघदूत' में यक्ष कहता है—"हे मेघ! तुम विदिशा-नगरी की गुफाओं में आराम करके, वन की नदियों के तटवर्ती बगीचों में उत्पन्न मागधी कुसुमों को नूतन जल के बिन्दुओं से सींचकर, कपोलों पर के पसीने के बिन्दुओं को पोंछ देने के कारण जिन महिलाओं के कमल पत्रों के बने कर्ण-भूषण मलिन पड़ गये हैं, उन फूलों को तोड़ने वाली रमणियों को छायादान देकर कुछ देर तक उनसे परिचय प्राप्त करना।"[1] 'प्रियप्रवास' में राधा इसी भाव को पवन के सम्मुख इस तरह प्रकट करती है —

तू पावेगी कुसुम गहने कान्तता साथ पैन्हे।
उद्यानों में वर नगर के सुन्दरी मालिनों को।
वे कार्यों में स्वप्रियतम के तुल्य ही लग्न होंगी।
जो श्रान्ता हो सरस गति से तो उन्हें मोह लेना।
जो इच्छा हो सुरभि तन के पुष्प संभार से ले।
आते जाते स-रुचि उनके प्रीतमों को रिझाना।

'मेघदूत' में यक्ष मेघ से कहता है कि "हे मेघ! यदि तुम महाकाल के मन्दिर में सायंकाल के समय न पहुँचकर किसी अन्य समय पहुँचे, तो कम से कम सायंकाल तक वहाँ अवश्य रुकना, क्योंकि प्रदोष काल में प्रशंसनीय पवित्र पूजा के समय नगाड़े की ध्वनि का कार्य अपनी गर्जना-ध्वनि द्वारा पूर्ण करने के कारण तुम्हें अपनी गंभीर गर्जना का अखंड फल प्राप्त होगा।"[2]

---

१ विश्रान्त. सन्व्रज वननदीतीरजातानि सिंच-
उद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजा क्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात्क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥
—मेघदूत पूर्व मेघ, २६

२. अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः।

'प्रियप्रवास' मे इसी भाव को राधा पवन के सम्मुख इस तरह प्रकट करती है—

देख पूजा समय मथुरा मन्दिरो-मध्य जाना।
नाना वाद्यो मधुर-स्वर की मुग्धता को बढ़ाना।
किम्वा ले के रुचिर तरु के शब्दकारी फलो को।
धीरे-धीरे मधुर रव से मुग्ध हो हो बजाना।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हरिऔध जी के 'पवन-दूती' प्रसग पर 'मेघदूत' का प्रभाव पर्याप्त मात्रा मे पड़ा है। इसके अतिरिक्त घनानद का भी प्रभाव इस वर्णन पर दिखाई देता है। क्योंकि घनानद ने जहाँ विरहिणी नायिका के द्वारा पवन से यह कहलवाया है —

"एरे वीर पौन ! तेरो सबै ओर गौन,
वीर तोसो और कौन मनै ढरकौही बानिदै।

× × ×

विरह-विथा की मूरि आँखिन मैं राखौं पूरि
धूरि तिन्ह पायन की हा ! हा ! नैकु आनिदै।"

वहाँ हरिऔध जी की राधा भी पवन से यही याचना करती है —

यो प्यारे को विदित करके सर्व मेरी व्यथायें
धीरे-धीरे वहन करके पाँव की धूलि लाना।
थोडी सी भी चरणरज जो ला न देगी हमे तू।
हा ! कैसे तो व्यथित चित को बोध मैं दे सकूँगी।
जो ला देगी चरणरज तो तू बडा पुण्य लेगी।
पूता हूँगी भगिनि उसको अग मे मैं लगाके।
पोतूँगी जो हृदय-तल मे वेदना दूर होगी।
डालूँगी मैं शिर पर उसे आँख मे ले मलूँगी।

इस तरह हरिऔध जी के इस पवनदूती-प्रसग पर अपने पूर्ववर्ती ा पर्याप्त प्रभाव विद्यमान है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि

ावलिपटहता शूलिन श्लाघनीया-
गामन्द्राणा फलमविकल लप्स्यसे गर्जितावम्।
—मेघदूत, पूर्व मेघ ३४

इसमे कुछ नवीनता एव मलिकौता ही नही है। कवि ने राधा के मुख से पवन को विरह-व्यथा का सदेश देने के लिए जो-जो मार्मिक युक्तियाँ एव क्रियायें कहलवाई हैं, उनमे पर्याप्त नवीनता एव मौलिकता के दर्शन होते हैं। कालिदास ने तो केवल मेघोचित कार्यकलापो का दिग्दर्शन कराके अन्त मे यक्ष-पत्नी के अनुपम सौंदर्य की छटा अकित की है, जब कि हरिऔध जी ने पवनोचित क्रियाओ का उल्लेख करके नाना-प्रकार से दूत कार्य करने की युक्तियाँ दी हैं, तथा अन्त मे श्रीकृष्ण के समीप से उनकी चरण-धूल, मृदुल-स्वर, नवल-तन की सुगधि, अगराग के पतित कण अथवा पुष्पमाला का कोई विकच पुष्प मे से कोई एक पदार्थ लाने का आग्रह किया है। यदि इनमे से कोई भी पदार्थ वह न ला सके, तो उससे यह कहा है कि—

पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा॥
छू के प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आ जा।
जी जाऊँगी हृदय तल मे मैं तुझी को लगा के॥

कवि की इन उक्तियो मे सजीवता एव मार्मिकता के साथ पर्याप्त नवीनता के भी दर्शन होते हैं। परन्तु इस पवनदूती-प्रसग मे राधा एक विरहिणी नायिका न रह कर अत्यन्त नीति-निपुणा, युक्ति-कुशला, स्वभाव से ही अतीव चतुरा नायिका के रूप मे दिखाई देती है। वह ऐसी ज्ञात नही होती कि उसके हृदय मे विरह की विह्वलता हो व्यथा की कसक हो, वेदना की तीव्रता हो और चेतन-अचेतन मे अन्तर जानने की क्षमता न हो। साथ ही वह ऐसी भी नही दिखाई देती कि 'भ्रान्ता होके परम दुख औ भूरि उद्विग्नता से' नित्य ही वेदनायें प्रकट करने वाली विक्षिप्त नारी हो,[1] क्योकि भ्रान्ता नारी पवन को कभी इतनी युक्तियाँ नही बता सकती। अत पवनदूती-प्रसग तो मार्मिक है, परन्तु यहाँ राधा के विरह-निरूपण मे अस्वाभाविकता आगई है और वियोग की सुन्दर व्यजना नही हुई है। राधा का यह विरह कुछ-कुछ कृत्रिम एव आरोपित सा हो गया है, क्योंकि नवीन-नवीन उक्तियों के घटाटोप में विरह की गभीरता एव मार्मिकता नष्ट होगई है तथा उसमे 'मेघदूत' के यक्ष जैसी स्वाभाविकता नही आसकी है।

(२) श्रीकृष्ण का महापुरुष रूप—श्रीकृष्ण को ईश्वर का रूप मानकर उनके प्रति श्रद्धा-भक्ति का विधान तो बहुत पीछे हुआ है। पहले श्रीकृष्ण का

---

१ प्रियप्रवास १६।८३

नाम ऋग्वेद के अष्टम मडल मे एक वैदिक ऋषि के रूप मे मिलता है। वेदो की अनुक्रमणिका मे उन ऋषि कृष्ण को आगिरस गोत्र का वतलाया गया है। तदनन्तर छादोग्य उपनिषद मे कृष्ण देवकी-पुत्र के रूप मे अकित किये गए हैं और वे घोर आगिरस के शिष्य वताए गये है।[1] यदि वैदिक-ऋषि कृष्ण तथा उपनिषद के कृष्ण आगिरस गोत्र के या आगिरस के शिष्य हैं, तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवकी-पुत्र श्रीकृष्ण उपनिषद् काल तक एक मत्रद्रष्टा ऋषि के रूप मे प्रसिद्ध थे।

ऋग्वेद मे इन्द्र के अनेक नामो का उल्लेख करते हुए उसे हरि, केशव, वृष्णीपति, वृषण, वासुदेव आदि कहा गया है।[2] यह वासुदेव नाम तृतीय आरण्यक मे भी मिलता है। ब्राह्मणकाल के अनतर जव 'सात्वत धर्म' का प्रचार हुआ, तव उस धर्म के अराध्य देव वासुदेव कृष्ण ही थे। जातक कथाओ मे वासुदेव को मथुरा के समीपवर्ती एक राजा कहा है तथा महाभारत मे तो कृष्ण को स्पष्ट ही वासुदेव, यादव, वार्ष्णेय आदि कह कर वसुदेव-देवकी का पुत्र, वृष्णिवशी, यदुवशी आदि स्वीकार किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त छादोग्य उपनिषद् मे भी जव "तद्धैतद् घोर आगिरस. कृष्णाय देवकी पुत्राय" आदि वाक्यो मे देवकी-पुत्र कृष्ण की चर्चा मिल जाती है, तव वसुदेव-देवकी के पुत्र वासुदेव और कृष्ण के साम्य की कल्पना निराधार नही जान पडती। ऐसा प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल तक ऐसी जन-श्रुतियाँ अवश्य प्रचलित रही होगी, जिनमे वासुदेव तथा कृष्ण को एक माना जाता रहा होगा। फिर 'सात्वत धर्म' का प्रचार होने पर जव वासुदेव को देवत्व पद प्राप्त हुआ, तव श्रीकृष्ण को भी अनायास ही देवत्व पद प्राप्त हो गया। डा० रामकुमार वर्मा ने एक और मत की ओर सकेत किया है। आपने लिखा है कि "जातको की गाथा के भाष्यकार का मत है—कि कृष्ण एक गोत्र नाम है और यह क्षत्रियो द्वारा भी यज्ञ-समय मे धारण किया जा सकता था। इस गोत्र का पूर्णरूप है कार्ष्णायन। वासुदेव उसी कार्ष्णायन गोत्र के थे। अत. उनका नाम कृष्ण हो गया।"[4]

इसके अतिरिक्त महाभारत मे नारायण के चार अवतार माने गये

१ छादोग्य उपनिषद् ३।१७

२. वैष्णव धर्म, पृष्ठ १४

३. महाभारत—भीष्मपर्व, अध्याय ३५

२ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—पृ० ४६३

संस्थापक एव सहारक माना गया था। जयदेव ने 'भागवत' के आधार पर विलासपूर्ण लीलायें करने वाले कृष्ण को जनता के सम्मुख तनिक अधिक प्रकाश रूप मे लाने की चेष्टा की थी, जिससे भक्तिकाल मे कृष्ण के तीनो मिश्रित रूपो का वर्णन किया गया, अर्थात् उन्हें परात्पर ब्रह्म भी माना गया, प्रेमाभक्ति का आलम्बन भी स्वीकार किया गया और गोपियो के साथ विलास-क्रीडायें करने वाला भी अकित किया गया। परन्तु हिन्दी के रीतिकाल मे आकर कृष्ण के अन्य रूपो की अपेक्षा विलास-क्रीडा वाले रूप की ही अधिक चर्चा हुई और उन्हे सभी प्रकार की शृगारिक चेष्टाओ का नायक मानकर राधा के साथ निरन्तर विलास-क्रीडायें करने वाला ही चित्रित किया गया। हो सकता है कि रीतिकाल पर आभीर युग के लिखे हुए गाथा सप्तशती, आर्या सप्तशती, अमरुक-शतक आदि का प्रभाव हो, परन्तु कृष्ण के इस विलासमय रूप के लिए गीतगोविदकार जयदेव तथा मैथिली कवि विद्यापति अधिक उत्तरदायी हैं, क्योंकि इन दोनो की रचनाओ मे भक्ति की अपेक्षा विलास का ही प्राधान्य है और दोनो की रचनाओ से कृष्ण के देवत्व की उतनी अभिव्यजना नही होती, जितनी कि विलासी, लम्पट, कामुक एव रसिक नायक की अभिव्यजना होती है। वैसे दोनो ही उच्चकोटि के कृष्ण-भक्त जान पडते हैं, परन्तु दोनो को हम कृष्ण के माधुर्य रूप मे ही तल्लीन देखते हैं और उसी तल्लीनता के कारण दोनो ने कृष्ण के विलासप्रिय जीवन की मधुर झाकी अकित की है।

आधुनिक युग के प्रारभिक कवियो मे कृष्ण का मिला-जुला रूप प्रचलित रहा। कुछ कवि भक्ति-काल से प्रभावित होकर कृष्ण की सरस एव मधुर क्रीडाओ को देवत्व का आवरण चढ़ाकर वर्णन करते रहे और कुछ कवि रीतिकाल से प्रभावित होकर केवल उनकी शृगारमयी लीलाओ मे मग्न होकर उनका चित्रण करते रहे। स्वय हमारे हरिऔध जी ने भी पहले 'प्रेमाम्बु प्रश्रवण' 'प्रेमाम्बु प्रवाह', 'प्रेमाम्बु वारिधि' आदि ग्रथो मे श्रीकृष्ण के प्रेम एव माधुर्य से रिपूर्ण ब्रह्मरूप का ही निरूपण किया था। परन्तु 'प्रियप्रवास' तक आते-ाते कवि का विचार पूर्णतया बदल गया। अब उन्हे यह बात उचित नही ातीत हुई कि किसी देवता या अवतारी पुरुष का चित्रण इस तरह किया ावे कि उसके चरित्र मे कामुकता, विलासिता एवं अश्लीलता की गध ाने लगे। इसके अतिरिक्त वह करणीय, अकरणीय अथवा अन्यथा करणीय ाभी प्रकार के कार्य कर सकता है, उसमे असभव कार्यो के करने की ही ामता होती है अर्थात् उसके किए हुए सम्भव कार्यो को भी व्यर्य ही असभव

वनाकर चित्रित किया जाय यह उन्हे समीचीन नही ज्ञात हुआ।[1] इसलिए कवि ने 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण के समस्त प्राचीन रूपो का निराकरण करते हुए उन्हे महाभारत के महापुरुष की भांति चित्रित करने का बीडा उठाया। यद्यपि महाभारत मे श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कार्यों की ही चर्चा अधिक है, तथापि कही-कही भीष्म, अर्जुन, आदि के मुख से कृष्ण के ब्रह्मरूप की चर्चा भी पर्याप्त मात्रा मे मिल जाती है। परन्तु 'प्रियप्रवास' मे हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण को समाज सुधारक, परोपकारी, लोक-सेवक, जाति-उद्धारक, सफल-सगठन कर्त्ता, विश्व प्रेमी, सच्चे नेता आदि रूपो मे अकित किया है। वे अपने वैयक्तिक स्वार्थों को तिलाजलि देकर समष्टि की ओर अपना ध्यान लगा देते हैं, अत्याचारियो का विनाश करके समाज मे सुव्यवस्था स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं, अपने सुख, आनन्द एव प्रियजनो के अटूट प्रेमक त की परवा नही करते तथा विश्व-प्रेम मे लीन होकर और सम्पूर्ण जगत के त्रस्त प्राणियो की पुकार सुनकर अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार हो जाते हैं। इस तरह हरिऔध जी ने कृष्ण के परम्परागत रूप का आमूल-चूल परिवर्तन करके युगानुकूल सच्चे मानव के आदर्श रूप मे अकित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया। यहाँ आकर कृष्ण न तो विलासी एव परकीया-प्रेम मे लीन होकर गोपियो के साथ विहार करने वाले ही रहे और न ब्रह्मरूप को प्राप्त होकर केवल आराधना की ही वस्तु रहे, अपितु कवि ने उन्हे एक ऐसे महापुरुष के रूप मे चित्रित किया है, जो समाज का अपना व्यक्ति है, जिसे हमारे दुख-दर्द का ध्यान है, जो हमारी दुर्बलताओ को जानता है, जो हमारी सहायता के लिए कठिन से कठिन कष्ट सहकर भी आ सकता है और जिसके आचरण, व्यवहार, रीति-नीति, प्रेम, दया, सेवा, मनुजोचित कार्य आदि से हम अपना जीवन भी उन्नत बना सकते हैं।

(३) राधा का लोक-सेविका रूप—राधा के बारे मे अभी तक यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि राधा का विकास कब और कैसे हुआ ? श्रीमद्भागवत मे श्रीकृष्ण से अनन्य भाव के साथ प्रेम करने वाली गोपियो का वर्णन तो मिलता है, जो महारास के अवसर पर कृष्ण की मुरली के बजते ही अपने-अपने समस्त कार्यों को छोडकर कृष्ण जी के पास सभी वन मे भागी चली आती है,[2] तनिक कृष्ण जी के आँखो से ओझल हो जाने पर विरह

---

१. प्रियप्रवास, भूमिका, पृ० ३०

२ श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कध, अध्याय २९

के कारण करुण-क्रन्दन करने लगती हैं,[1] तथा जो उद्धव जी से बातें करते समय भ्रमर को सम्बोधन करते हुए उन्हें पर्याप्त व्यग्य पूर्ण उलाहने देती हैं।[2] परन्तु वहाँ राधा का नाम नही मिलता। कुछ विद्वान राधा को मध्य एशिया से चलकर आये हुए भ्रमणशील आभीरो की प्रेम-देवी मानते हैं। कुछ उन्हे द्रविड जाति की उपास्य देवी कहते हैं और उनका अस्तित्व वेदो से भी प्राचीन सिद्ध करते हैं। कुछ विद्वान् मनीषियो की राय मे राधा किसी अज्ञातनामा कवि की मधुर कल्पना है, जो कवि के विलुप्त हो जाने पर भी आज तक विद्यमान है तथा सदैव विद्यमान रहेगी। कुछ भी हो राधा का नाम सर्वप्रथम नवी शताब्दी के अतर्गत आनदवर्द्धनाचार्य द्वारा रचित 'ध्वन्यालोक' नामक साहित्य-ग्रथ मे मिलता है। वहाँ एक उद्धरण देते हुए 'राधा' नाम आया है।[3] इसके अतिरिक्त गाथासप्तशती, पचतत्र, ब्रह्मवैवर्त-पुराण आदि मे भी राधा का नाम मिल जाता है। परन्तु कविवर जयदेव के 'गीतगोविद' मे राधा सबसे पहले अपने दिव्य सौंदर्य के साथ भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वश्रेष्ठ प्रेमिका एव वियोग-विधुरा के रूप मे अकित की गई है। यहाँ राधा वासन्ती-कुसुम के समान सुकुमार अवयवो से सुरक्षित होकर एक विक्षिप्त की भाँति अपने प्रियतम कृष्ण को ढूंढती फिरती है। यही पर राधा मे विलास-प्रियता, वियोग-कातरता तथा सच्ची प्रेमिका के दर्शन होते हैं।[4]

---

१ श्रीमद्भागवत पुराण, दशमस्कध, अध्याय ३०

२ वही, अध्याय ४७

३. तेषां गोपवधूविलाससुहृदो राधारह साक्षिणा।
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनया तीरे लतावेश्मनाम् ॥
—हिन्दीध्वन्यालोक, उद्योत २, पृ० १२६

४. स्तन विनिहितमपि हारमुदारम्।
सा मनुते कृशतनुरिति भारम्।
राधिका तव विरहे केशव !
सरसमसृणमपि मलयज पकम्।
पश्यति विषमिव वपुषि सशकम्।
श्वसित पवनमनुपम परिणाहम्।
मदन दहनमिव वहति सदाहम्।

तदनन्तर चडीदास की राधा का स्वरूप हमारे सामने आता है। चडीदास ने राधा को परकीया नायिका के रूप मे चित्रित किया है। यही राधा श्रीकृष्ण के साथ विहार करने वाली, सकेत स्थल पर उत्सुक होकर मिलने वाली, अभिसार के लिए लुक-छिपकर जाने वाली, मान करने वाली प्रेम की कसक से विह्वल होने वाली आदि-आदि कितने ही रूपो मे चित्रित की गई है। चडीदास के अनन्तर विद्यापति की राधा हमारे सम्मुख आती है जिसमे विरह-वेदना की अपेक्षा काम-पीडा अधिक है, जो कुतूहल एव विलास की पुतली बनी हुई है तथा जो चपलता एव अनुराग की उद्भ्रान्त लीला से परिव्याप्त रहती है। वह श्रीकृष्ण के साथ रास-लीला मे मग्न होकर निरन्तर विहार करने वाली परकीया नायिका है। उसमे क्रिया-चातुरी, वाग्वैदग्ध्य, मिलन-कौशल अपेक्षाकृत अधिक हैं तथा वह काम-क्रीडा मे प्रवीण एव विरह मे भी इच्छापूर्ति न होने के दुःख से दुःखी ही अधिक चित्रित की गई है कृष्ण की प्रतीक्षा मे मार्ग देखते-देखते उसके नेत्र अधे हो जाते हैं, नाखूनो से दिन लिखते-लिखते उसके नाखून घिस जाते हैं और उसे यही पश्चाताप रहता है कि जिस समय वह श्रीकृष्ण के साथ भ्रमण किया करती थी, उस समय तो वह निरी बालिका ही थी, अब उसके यौवन का भी पूर्ण विकास हो गया है, परन्तु ऐसे अवसर पर कृष्ण अब आते ही नही। उस समय जिन फलो को वे कच्चा ही देख गये थे, अब वे पूर्णत परिपक्व हो गये हैं और आँचल मे भी नहीं समाते।[1] राधा के इन मनोभावो के कारण विरह मे भी कामुकता का ही प्राधान्य दिखाई देता है।

विद्यापति के उपरान्त सूर तथा अन्य कृष्ण-भक्त कवियो की राधा के दर्शन होते है। यहाँ राधा का स्वरूप अत्यन्त मर्यादा के साथ चित्रित किया गया है। वह सयोग के समय कृष्ण के साथ आनन्द-क्रीडायें करने वाली

हरिरिति हरिरिति जपति सकामम्।
विरह विहित मरणेव निकामम्।
श्रीजयदेव भणित मिति गीतम्।
सुखयतु केशवपद मुपनीतम्।"
—गीत गोविन्दम्, चतुर्थसर्ग ९।१-९

१ आसकलता लगाओल सजनी नयनक नीर पटाय।
से फल अब तरुनत भेल सजनी आँचर तर न समाय॥
—विद्यापति की पदावली, १९५

तथा वियोग के अवसर पर अत्यन्त शोक एव वेदना मे विह्वल होकर निरतर कृष्ण-प्रेम मे निमग्न चित्रित की गई है। यहाँ आकर राधा एक उपास्य देवी की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेती है। यहाँ "जयदेव की राधा के समान उसमे प्रगल्भ व्याकुलता नही है, विद्यापति की राधा के समान उसमे मुग्ध कौतूहल और अनभिज्ञ प्रेम-लालसा नही है, चडीदास की राधा के समान उनमे अधीर कर देने वाली गलद् वाष्पा भावुकता भी नही है, पर कोई सहृदय इन सभी वातो का उसमे एक विचित्र मिश्रण के रूप मे अनुभव कर सकता है।"[1]

कृष्ण-भक्त कवियो के उपरान्त रीतिकालीन कवियो ने भी राधा के स्वरूप का चित्रण किया है। यहाँ आकर राधा पुन अत्यत रूप-सुन्दरी, काम-क्रीडा-निपुण, कामिनी एव अल्हड़ यौवना हो गई है। उसके चित्रण मे पवित्रता एव शुद्ध प्रेम के स्थान पर विलासिता एव कामुकता का रग अधिक गहरा हो गया है। यहाँ आकर राधा "कुछ रसिका, कुछ मुखरा कुछ विलासिनी, कुछ चचल, कुछ नि शका और कुछ-कुछ वाल-तरुणी है। वह कृष्ण के साथ गलवहियाँ डाले गली से निकल जाती है, कृष्ण के वतरस के लिए तरह-तरह का उत्पात मचाती है, पनघट पर हाथापाई करती है, कभी हँसती है, कभी मचलती है, कभी छिपती है, कभी वाहर निकल आती है—अर्थात् कैशोर प्रेम की साक्षात् रूपा है, उसमे न लोक के उत्तरदायित्व की चिन्ता है, न परलोक वनाने की परवा—वह अल्हड किशोरी है। यही उसका सच्चा रूप है। उसे हम वियोगिनी के रूप मे पाते हैं, मगर यह वियोग शायद इसलिये उस पर लाद दिया गया है कि प्रेमिका को वियोगिनी वनना जरूरी है। इस जवर्दस्ती से उसका कोमल प्रफुल्लचित्त भाराक्रान्त जरूर हो जाता है, पर स्पष्ट ही जान पडता है कि यह वियोग की गर्मी आगन्तुक है।"[2]

रीतिकाल के उपरान्त भी कुछ समय तक व्रजभाषा की कविताओ मे राधा का रीतिकालीन रूप ही चित्रित होता रहा, परन्तु द्विवेदी-काल की नैतिकता, लोक-हित आदि की भावनाओ ने मानव-जीवन मे एक आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया, तथा कवियो की स्त्री सम्वन्धिनी भावना मे भी क्रान्ति उत्पन्न की। नारी-जीवन का सुधार ही इस युग की प्रमुख देन है। युग की इसी भावना से प्रभावित होकर हरिऔध जी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे लोक-रक्षक कृष्ण की भाँति राधा के चरित्र मे भी परोपकार, लोक-सेवा, विश्व-प्रेम आदि

---

१ हरिऔध अभिनन्दन ग्रथ—पृ० ४६१

२. वही, पृ० ४३४

का समावेश किया। इसी कारण यहाँ राधा सूर की राधा की तरह कृष्ण के विरह में व्याकुल होकर इधर-उधर मारी-मारी नहीं फिरती, अपितु वह अन्य विरह-कातर गोपियो, गोपो तथा दीन-हीन, रोगी, असहाय प्राणियो की सेवा-सुश्रूषा मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है।[1] वह नन्द एव यशोदा की भी देखभाल करती है तथा उन्हे शोकमग्न देखकर भली प्रकार सात्वना दिया करती है।[2] उसके जीवन मे वियोग की कातरता ने विश्व-प्रेम एव सेवा-भावना को जाग्रत कर दिया है। उसे अब श्रीकृष्ण के व्रज मे लौट आने की भी चिन्ता नही है। वह तो यही चाहती है कि उसके प्रियतम कृष्ण भले ही घर आवें या न आवें, परन्तु जहाँ भी रहे कुशल से रहें, और विश्व के कल्याण मे लगे रहे।[3] वह उद्धव जी के मुख से कृष्ण का सदेश सुनकर और यह जानकर कि श्रीकृष्ण 'सर्वभूत हिताय' लोकमगलकारी कार्यों मे लगे हुए हैं, तो वह भी अपनी विरह-जन्य छटपटाहट को दृढता के साथ दबाती हुई यही कहती है कि "अब ससार मे जितनी भी वस्तुएँ मुझे दिखाई देती हैं, उनमे सर्वत्र मुझे अपने प्रिय कृष्ण का ही रग और रूप दिखाई देता है, फिर मैं उन सबको हृदय से प्यार क्यों नही करूँगी ? अब तो निस्सदेह मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जाग्रत हो गया है।"[4] इसी विश्व-प्रेम के वशीभूत होकर राधा निरन्तर लोक-हित एव लोक-सेवा मे लीन हो जाती है और अपने इन्ही भावो एव कार्यो के कारण वह व्रज मे मानवी से एक आराध्या देवी के प्रतिष्ठित पद पर आसीन दिखाई देती है। हरिऔध जी ने राधा के ऐसे ही लोक-कल्याणकारी स्वरूप की प्रतिष्ठा 'प्रियप्रवास' मे की है, जिसमे राधा के पूर्ववर्ती रूपो से पूर्णतया भिन्नता है, नवीनता है, भव्यता है और जिसमे एक आदर्श नारी के जीवन की दिव्य झाँकी विद्यमान है।

---

१ प्रियप्रवास १७।४६–५१

२ वही, १७।३६–४१

३. "प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।" १६।६८

४ पाई जाती विविध जितनी वस्तुयें हैं सबो मे।
जो प्यारे की अमित रंग औ रूप मे देखती हूँ।
तो मैं कैसे न उन सबको प्यार जी से करूँगी।
यों है मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जागा।

—प्रियप्रवास १६।१०५

चौथे, उस समय तक हिन्दी-साहित्य मे श्रीकृष्ण दो रूपो मे विशेष रू
से चित्रित हुए थे—(१) परब्रह्म, (२) परकीया के उपपति। भक्तिकाल वे
समस्त कृष्ण-भक्त कवियो ने उन्हे अजर, अमर, अनादि, अगोचर आदि कह
कर परब्रह्म के रूप मे चित्रित किया था और रीतिकाल मे आकर श्रीकृष्ण
को प्राय परकीया राधा से प्रेम करने वाले तथा गोपियो के साथ अठखेलिय
करने वाले एक उपपति के रूप मे चित्रित किया गया था। उक्त दोनो रूप
का गहन अनुशीलन करने के उपरान्त हरिऔध जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे
कि जिसे हम अवतारी पुरुष मान कर परब्रह्म कहते हैं, उसी को परकीयाओं
का शृगारी एव विलासी उपपति बनाना कहाँ तक उचित है। वे कला मे
उपयोगितावाद एव नैतिकता के समर्थक थे तथा श्रीकृष्ण को ब्रह्म का रूप भी
मानते थे, क्योकि आपने 'प्रेमाम्बु-प्रश्रवण', 'प्रेमाम्बु-प्रवाह', एव 'प्रेमाम्बु-
वारिधि' मे उन्हे परब्रह्म के रूप मे ही अकित किया है। परन्तु उनका विचार
था कि वह परब्रह्म अवतार लेकर ईसाई या मुसलमानो की तरह ईश्वर तथा
मनुष्य के बीच की कडी नही बनता और न ईश्वर का सदेश ही देने के लिए
यहाँ आता है, अपितु वह मानव के आदर्श उपस्थित करके उन्हे ईश्वर के पथ
पर अग्रसर होने की शिक्षा देने आता है अथवा मानव को ईश्वर बनाता हुआ
इस भूतल को स्वर्ग बनाने के लिए अवतीर्ण होता है।[1] अपने युग की इसी
विचारधारा को साकार रूप देने के लिए अथवा राधा और श्रीकृष्ण को
आदर्श मानवी एव मानव के रूप मे अकित करने के लिए आपने कथाओं मे
रूपान्तर किया है और नवीन उद्भावनायें की है।

पाँचवें, इस युग मे जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट प्रेम की जो
लहर सर्वसाधारण के मानस मे हिलोरें ले रही थी, उसे किसी महाकाव्य मे
अभी तक साकार रूप नहीं दिया गया था। हरिऔध जी ने इस भावना को
व्यक्त करने के लिए राधा और श्रीकृष्ण का चरित्र सर्वथा उचित समझा,

---

१ 'साकेत' मे राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने भी इसीलिए राम के मुख से
यह कहलवाया है —

"भव मे नव वैभव व्याप्त कराने आया,
नर को ईश्वरता प्राप्त कराने आया।
संदेश यहाँ मै नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।"

—साकेत, अष्टम सर्ग, पृ० २३४-२३५

क्योंकि श्रीकृष्ण ने अनेक ऐसे कार्य किए थे, जिनका संबंध अपनी दुखिया जन्मभूमि के उद्धार से था। इसी कारण आपने सभी कथाओं में जननी-जन्मभूमि के उद्धार का वर्णन करते हुए भारतीय जनता के हृदय में भी अपनी जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति जाग्रत करने के लिए ये रूपान्तर प्रस्तुत किये हैं और नवीन उद्भावनायें की हैं।

छठे, अभी तक किसी भी महाकाव्य में नारी को समाज-सेवा, लोकोपकार, दीनों के प्रति सहानुभूति, विश्व प्रेम में लीन आदि दिखाने की चेष्टा नहीं हुई थी। इस युग में पुरुष के साथ नारी को भी सामाजिक कार्यों में भाग लेने के लिए प्रोत्साहन दिया जा रहा था। वह राजनीतिक जीवन में भी पुरुष के कंधे से कंधा मिलाकर कार्य कर रही थी। परन्तु नारी के ऐसे रूप को कवियों ने अभी तक उपेक्षित ही समझा था। अतः नारी के इस क्रान्तिकारी एवं जन-हितकारी रूप की झाँकी प्रस्तुत करने के लिए कवि ने कथाओं में रूपान्तर करते हुए नवीन उद्भावनायें की और कृष्ण के साथ-साथ राधा को भी विश्व-प्रेम में लीन दिखाने की चेष्टा की।[1]

कथा वस्तु का शास्त्रीय-विधान

वस्तु-विश्लेषण—साहित्य-शास्त्र में वस्तु दो प्रकार की मानी गई है—(१) अधिकारिक और (२) प्रासंगिक। काव्य की प्रमुख वस्तु अधिकारिक होती है, क्योंकि 'अधिकार' से अभिप्राय फल के स्वामित्व से है और अधिकारी वह कहलाता है, जो फल का स्वामी होता है। इस प्रकार अधिकारी या प्रधान नायक से सम्बद्ध इतिवृत्त आधिकारिक वस्तु कहलाता है। दूसरी प्रासंगिक वस्तु वह होती है, जो अधिकारिक वस्तु की सहायक अथवा उपयोगी हुआ करती है।[2] यह प्रासंगिक वस्तु भी पुनः दो प्रकार की होती है—(१) पताका और (२) प्रकरी। पताका वह प्रासंगिक वस्तु है जो व्यापक होती है तथा प्रधान फल की सहायक होकर अंत तक चलती है और प्रकरी उस प्रासंगिक वस्तु को कहते हैं, जो अल्पदेश व्यापक होती है तथा मध्य में ही समाप्त हो जाती है।[3] इस दृष्टि से जब 'प्रियप्रवास' की कथा-वस्तु पर विचार

१. मेरे जी में हृदय-विजयी विश्व का प्रेम जागा।

—षोडस सर्ग, पृ० २५४

२. साहित्य दर्पण-व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह, पृ० ३८२-३८१

३. वही, पृ० ४००-४०१

करते हैं तो पता चलता है कि यहाँ राधा-कृष्ण की कथा प्रमुख रूप से वर्णित है, क्योंकि उनके पारस्परिक प्रेम की चरम परिणति विश्व-प्रेम मे दिखाई गई है। अत राधाकृष्ण की कथा अधिकारिक वस्तु है। इसमे श्रीकृष्ण के जीवन से सबधित कितनी ही प्रासगिक कथायें आई हैं, जिनमे से प्रमुख प्रासगिक कथा गोप-गोपी एव नन्द-यशोदा के विरह की कथा है, जो काव्य के पचमसर्ग से लेकर अन्त तक चलती है। अत. यह 'पताका' वस्तु के अतर्गत आती है। इसके अतिरिक्त अक्रूर-आगमन तथा कृष्ण का मथुरा गमन, उद्धव का मथुरा आगमन एव गोप-गोपियो से वार्त्तालाप, गोप-गोपी का श्रीकृष्ण की नाना कथाओ का वर्णन आदि 'प्रकरी' वस्तु के अन्तर्गत आते है, क्योकि इन विभिन्न कथाओ मे से प्रत्येक कथा काव्य के अल्प देश मे ही व्याप्त है।

साहित्य-शास्त्रो मे कथा-वस्तु का ऐतिहासिक एव कल्पित दृष्टि से भी विचार किया गया है। ऐतिहासिक वस्तु 'प्रख्यात' कहलाती है और कवि कल्पित वस्तु को 'उत्पाद्य' कहते हैं। यदि वस्तु का कुछ भाग ऐतिहासिक एव कुछ कल्पित हो, तो उसे 'मिश्र' वस्तु कहते हैं।[१] इस दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि 'प्रियप्रवास' की वस्तु पूर्णतया ऐतिहासिक होने से 'प्रख्यात' है। इतिहास से अभिप्राय किसी देश या राष्ट्र की उन सास्कृतिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सामाजिक मनोवृत्तियो एव धारणाओ से भी है, जो युग के अनुसार बनती-बिगडती रहती हैं तथा जिनकी परम्परा राष्ट्र मे व्याप्त होकर नवजीवन का सचार किया करती है। आज 'इतिहास' का अर्थ केवल भूतकालीन कुछ घटनायें ही मान लिया गया है। परन्तु भारतीय दृष्टिकोण इसके सर्वथा विपरीत है। यहाँ तो वैदिक काल से लेकर आजतक हमारे धर्म-ग्रथो मे भी जो कुछ वर्णन मिलता है, वह भी इस देश का सच्चा इतिहास है। पुराणो के बारे मे भी पहले बडी तुच्छ भावना थी। परन्तु अब भारतीय ही क्या, पाश्चात्य विद्वान् भी मानने लगे हैं कि सभी पुराण भारतीय इतिहास की अक्षय निधि हैं। 'प्रियप्रवास' काव्य ऐसे ही इतिहास को आधार बनाकर लिखा गया है, जिसमे पौराणिक आख्यान के साथ-साथ युग की परिवर्तित धारणा एव मनोवृत्ति को भी काव्य रूप प्रदान किया गया है। अत. यह काव्य देश के सच्चे इतिहास को आधार बनाकर लिखा गया है। इसी कारण उसकी कथावस्तु 'प्रख्यात' है।

---

१ दशरूपक १।१५

साहित्यशास्त्रियों ने कथावस्तु का विभाजन एक और आधार पर किया है। उनका विचार है कि जिस कथा में देवताओं का वर्णन हो वह दिव्य कथावस्तु होती है और जिसमें मर्त्यलोक के पुरुषों का वर्णन हो वह 'मर्त्य' कहलाती है।[१] इस आधार पर 'प्रियप्रवास' की कथावस्तु पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पौराणिक दृष्टि से तो श्रीकृष्ण अवतारी पुरुष हैं और वे देवों से भी बढ़कर हैं। अत उनकी कथा 'दिव्य' होनी चाहिए। परन्तु कवि ने उन्हें एक मर्त्यलोक के महात्मा या महापुरुष के रूप में ही चित्रित किया है। इस आधार पर उनकी यह कथा 'मर्त्य' की कोटि में आती है। यह विभाजन उस समय का है, जिस समय प्राय दो ही प्रकार की कथायें काव्यों में चित्रित होती थीं अर्थात् या तो लेखक किसी देवता या अवतारी पुरुष का वर्णन करते थे या किसी राजा, महाराजा, सूर-सामन्त आदि का वर्णन किया जाता था। अब युग बदल गया है। अब देवता, ईश्वर एव राजाओं के स्थान पर श्रमिकों, देशप्रेमियों एव महापुरुषों का भी वर्णन किया जाता है। इनकी कथाओं को भले ही 'मर्त्य' कहा जाय, परन्तु वे सभी समाज के असाधारण व्यक्ति होते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण मर्त्यलोक के प्राणी होकर भी समाज की सेवा, लोकोपकार, विश्व-प्रेम आदि से ओतप्रोत दिखाये गये हैं। अत भले ही उनको देवता या ईश्वर की कोटि में न रखा गया हो, फिर भी वे देवोमय गुणों से युक्त हैं, उनमें असाधारण व्यक्तित्व है और वे समाज के अलौकिक महापुरुष हैं। अत उनकी यह कथा भी 'दिव्य' वस्तु की ही कोटि में आती है।

पताकास्थानक—पताकास्थानकों की योजना कथावस्तु में सौंदर्य-वर्द्धन के हेतु की जाती है। इसके साथ ही इनके द्वारा आगामी कथा की सूचना भी बड़े चमत्कारपूर्ण ढग से व्यजनात्मक शैली में दी जाती है। इन पताकास्थानकों द्वारा प्रमुख रूप से दो प्रकार से आगामी कथा सूचित की जाती है—(१) तुल्य सविधान द्वारा अथवा अन्योक्ति द्वारा और (२) तुल्य विशेषणों द्वारा अथवा समासोक्ति द्वारा।[२] इसी आधार पर दो प्रकार के पताकास्थानक माने गये हैं—अन्योक्तिमूलक तथा समासोक्तिमूलक। परन्तु साहित्यदर्पणकार ने चार प्रकार के पताकास्थानकों का उल्लेख किया है।[३]

---

१ दशरूपक १।१६
२ वही १।१४
३ साहित्य-दर्पण-व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह पृ० ३८६—३८८

फिर भी दो पताकास्थानक प्रमुख माने गये हैं। इनमें से प्रथम अन्योक्तिमूलक पताका स्थानक का रूप 'प्रियप्रवास' की इन पंक्तियों में विद्यमान है —

"अरुणिमा–जगती–तल-रंजिनी ।
वहन थी करती अब कालिमा ।
मलिन थी नव-राग-मयी-दिशा ।
अवनि थी तमसावृत हो रही ।[1]

यहाँ संध्याकालीन मनोहर लालिमा के स्थान पर कालिमा के घिर आने का वर्णन करते हुए कवि ने नवराग-पूरित दिशाओं एवं पृथ्वी को अन्धकार से परिपूर्ण बताया है। इस कथन द्वारा संकेत किया गया है कि ब्रजभूमि में अब तक श्रीकृष्ण के रहने से जो सर्वत्र अनुराग सहित आनन्द छाया हुआ था, अब कुछ ही क्षणों के उपरान्त घोर विषाद छा जायेगा। अतः प्राकृतिक पदार्थों के वर्णन द्वारा अन्योक्ति का सहारा लेते हुए कवि ने यहाँ आगामी घटना का वर्णन अत्यन्त मार्मिकता के साथ किया है।

दूसरे समासोक्तिमूलक पताकास्थानक को हम 'प्रियप्रवास' की निम्न-लिखित पंक्तियों में देख सकते हैं —

"सारा नीला-सलिल सरि का शोक-छाया पगा था।
कंजों में से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानो खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अनवन-मुखी कान्तिहीना मलीना।[2]

इन पंक्तियों में कवि ने कृष्ण-विरह की खोटी घड़ी आने का अनुमान करके यमुना के नीले जल को शोक-पूर्ण कहा है, कमलों में से निकलकर भ्रमरों को भ्रमित-सा होकर घूमता हुआ बतलाया है और कुमुदिनी को शोभाहीन एवं मलीन होकर मुख नीचा किए हुए अंकित किया है। यहाँ कवि ने श्लिष्ट पदावली का प्रयोग करते हुए यह संकेत किया है कि अब कृष्ण-विरह की खोटी घड़ी आने वाली है, जिसके कारण मधुकर जैसे प्रेमी गोप-गोपीजन अपने-अपने कमल जैसे गृहों से निकल कर कृष्ण के विरह में नित्य भ्रमित से होकर घूमते फिरेंगे और कुमुदिनी जैसी सुकुमार राधा कृष्ण के गमन का समाचार पाते ही कान्तिहीन एवं मलिन होकर अवनत-मुखी बन जायेगी,

---

१ प्रियप्रवास १।३५
२ वही ५।१०

जैसा कि आगामी छठे सर्ग में राधा की वेदना का वर्णन करते हुए कवि ने 'पवनदूती प्रसग' मे उसकी दशा का वर्णन किया भी है। इतना ही नहीं कृष्ण के जाते ही यमुना के जल की ही भाँति सारी व्रजभूमि भी शोक-छाया मे डूब जायेगी। अत: यहाँ "शोकछायापगा", 'भ्रमे से घूमते थे', 'अवनत-मुखी' आदि पद श्लिष्ट हैं और इनके द्वारा समासोक्ति की व्यंजना हो रही है, जिससे समस्त पद समासोक्तिमूलक पताकास्थानक का उदाहरण उपस्थित करते हैं।

अर्थ-प्रकृतियाँ—कथानक के अन्तर्गत प्रयोजन की सिद्धि के हेतु पांच अर्थ-प्रकृतियों की योजना की जाती है—(१) बीज, (२) बिन्दु, (३) पताका, (४) प्रकरी और (५) कार्य। बीज अर्थप्रकृति वह है जो मुख्य हेतु होता है। धान्य के बीज की भाँति प्रबन्धकाव्य का यह 'बीज' आरम्भ मे अत्यन्त सूक्ष्म रूप मे उपस्थित रहता है तथा उत्तरोत्तर विकसित एव वृद्धिशील होता चला जाता है।[1] इस दृष्टि से 'प्रियप्रवास' में यह 'बीज' अर्थ-प्रकृति इन पंक्तियों मे मिलती है —

यह अलौकिक-बालक-बालिका।
जब हुए कल-क्रीडन-योग्य थे।
परम तन्मय हो बहु प्रेम से।
तब परस्पर थे मिल खेलते।[2]

क्योंकि राधा और श्रीकृष्ण का यही बाल्य-प्रेम पहले प्रणय का रूप धारण करता है और तदनन्तर विश्व प्रेम मे परिणत हो जाता है, जो कि कवि का प्रतिपाद्य विषय है और जिसका उत्तरोत्तर विकास इस काव्य मे दिखाया गया है।

दूसरी 'बिन्दु' अर्थप्रकृति वह होती है, जो प्रबन्धों के अवान्तर वृत्त-विच्छेद की सम्भावना मे अविच्छेद का कारण बनती है अर्थात् जो कथा के समाप्त होने की सम्भावना के अवसर पर उस कथा को पुन: अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ाया करती है।[3] 'प्रियप्रवास' मे षष्ठ सर्ग के अन्तर्गत राधा के विलाप पर कथा समाप्त सी होती दिखाई देती है, परन्तु 'पवन दूती प्रसग' ने उस कथा को पुनः आगे बढ़ा दिया है। जैसे —

---

१ साहित्य-दर्पण डॉ० सत्यव्रत सिंह, पृ० ३९८

२ प्रियप्रवास, ४।१३

३ साहित्य-दर्पण, पृ० ३९९

"बैठी खिन्ना यक दिवस वे गेह मे थी अकेली ।
आके आँसू दृग-युगल मे थे धरा को भिगोते ।
आई धीरे इस सदन मे पुष्प-सद्गध को ले ।
प्रात वाली सुपवन इसी काल वातायनो से ।[1]

और उसके आते ही राधा पहले उस पर कुपित होती है, परन्तु फिर उसी के द्वारा अपना सदेशा भेजने के लिए तैयार हो जाती है। अन विच्छिन्न कथा को अविच्छिन्न करने का कार्य इस पवन ने आकर किया है। इसी से यहाँ 'बिन्दु' अर्थप्रकृति है।

तीसरी पताका तथा चौथी प्रकरी अर्थप्रकृतियो का उल्लेख कथावस्तु का विश्लेषण करते हुए पहले ही किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त पांचवी अर्थप्रकृति—'कार्य' कहलाती है। 'कार्य' उस अर्थप्रकृति को कहते है, जिसके उद्देश्य से नायक के कृत्यो का आरम्भ हुआ करता है और जिसकी सिद्धि मे नायक का कृत्यानुष्ठान समाप्त माना जाया करता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे इस अर्थप्रकृति का स्वरूप निम्नलिखित पक्तियो मे दिखाई देता है —

"वे छाया थी सुजन शिर की शासिका थी खलो की ।
कगालो की परम निधि थी औषधी पीडितो की ।
दीनो की थी बहिन, जननी थी अनथाश्रितो की ।
माराध्या थी ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थी ।[3]

इस तरह अन्तिम सर्ग मे जाकर नायिका के अभीष्ट फल की प्राप्ति दिखाई गई है। यह काव्य वैसे नायिका प्रधान है, क्योंकि श्रीकृष्ण के विश्व-प्रेम सम्बन्धी कार्यो का राधा भी अनुसरण करती हैं—यही कवि ने यहाँ चित्रित किया है। इस तरह समस्त काव्य मे अर्थप्रकृतियो की योजना अत्यन्त विशद रूप मे मिल जाती है।

सधियाँ तथा कार्यावस्थायें—किसी भी प्रबन्ध काव्य की कथावस्तु को सुव्यवस्थित ढग से प्रस्तुत करने के लिए आचार्यों ने सधियो एव कार्यावस्थाओ की योजना बताई है। सधियाँ पांच होती हैं—(१) मुख, (२) प्रतिमुख, (३) गर्भ, (४) विमर्श और (५) उपसहृति या निर्वहण। कार्यावस्थायें भी

---

१ प्रियप्रवास, ६।२७

२ साहित्यदर्पण, पृ० ४०२

३. प्रियप्रवास, १७।४६

पाँच होती है—(१) आरम्भ, (२) यत्न, (३) प्राप्त्याशा, (४) नियताप्ति और (५) फलागम। इनमे से प्रत्येक सधि मे क्रमश एक कार्यावस्था भी रहती है अर्थात् मुख सधि मे आरम्भ, प्रतिमुख में यत्न, गर्भ मे प्राप्त्याशा, विमर्श मे नियताप्ति तथा उपसहृति मे फलागम कार्यावस्था रहती है। पाश्चात्य विद्वानो ने वस्तु मे ६ कार्यावस्थायें मानी हैं—(१) आरम्भ या व्याख्या (Exposition), (२) प्रारम्भिक सधर्षमयी घटना (Incident), (२) कार्य की चरम सीमा की ओर प्रगति (Rising Action), (४) चरम सीमा (Crisis), (५) निगति या कार्य की ओर झुकाव (Denoument) और (६) अन्तिम फल (Catastrophe)। परन्तु भारतीय आलोचको की राय मे पाँच ही प्रमुख कार्यावस्थायें हैं, क्योंकि तीसरी प्राप्त्याशा नामक कार्यावस्था मे पाश्चात्य विद्वानो द्वारा स्वीकृत कार्य की चरम सीमा की ओर प्रगति तथा चरमसीमा नाम की दोनो कार्यावस्थायें आ जाती हैं।[1] अत अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' मे इनकी योजना किस प्रकार मिलती है।

साहित्य-शास्त्र मे मुख सधि कथावस्तु के उस भाग को कहते है, जिसमे नायक की प्रारम्भावस्था का वर्णन रहता है, इसके अन्तर्गत 'बीज' नामक अर्थप्रकृति और प्रारम्भ नामक कार्यावस्था रहती है और यह सधि भिन्न-भिन्न रस-भावो की अभिव्यजना से परिपूर्ण रहती है।[2] यह 'आरभ' अवस्था कहलाती है, जिसमे फल की सिद्धि के लिए औत्सुक्य का वर्णन किया है।[3] 'प्रियप्रवास' मे यह 'मुख सधि' प्रथम सर्ग से लेकर पचम सर्ग तक चलती है, क्योंकि इन पाँच सर्गो के अन्तर्गत कवि ने कथानायक श्रीकृष्ण के गमन-सबधी कथा के प्रारम्भिक अवतरण का वर्णन किया है। इन सर्गो मे पहले एक सध्या के समय श्रीकृष्ण गोचारण से लौटते हैं, सध्या के व्यतीत होते ही कस का निमत्रण लेकर अक्रूर जी के आने का समाचार सुनाई पडता है और प्रभात होते ही वे बलराम, नद बाबा तथा अन्य साथियो के साथ मथुरा चल देते हैं। उनकी 'विश्व-प्रेम' सबधी यात्रा का प्रारम्भ इन्ही सर्गो मे वर्णित है। ये सभी वर्णन विभिन्न रस-भावो से युक्त है। प्रथमसर्ग मे सयोग शृगार का

---

१ काव्य के रूप पृ० १७-१८

२ साहित्य दर्पण (हिन्दी व्याख्या), पृ० ४०६

३. वही, पृ० ४०५

अत्यत मनोरजक वर्णन है द्वितीय सर्ग मे भीषण घोषणा के सुनते ही विषाद की काली छाया सारे गोकुल मे छा जाती है। अत. यहाँ भय, शोक, चिन्ता दैन्य, मोह, ग्लानि, स्मृति, आवेग आदि भावो का अत्यत सजीवता के साथ वर्णन किया गया है। तृतीय सर्ग वात्सल्य भाव का अतीव समुज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है। चतुर्थ सर्ग मे राधा के प्रेमभाव मे सयोग एव वियोग शृगार की सजीव झाँकी मिल जाती है तथा पचम सर्ग गोप-गोपियो के करुण-विलाप, विरह-जन्य वेदना आदि से परिपूर्ण है। इस तरह मुख-सधि मे नाना रसो एव भावो की सु दर अभिव्यक्ति हुई है तथा नायक श्रीकृष्ण तथा नायिका राधा जिस 'विश्व-प्रेम' सवधी फल को आगे चलकर प्राप्त करते हैं, उसके औत्सुक्य का वर्णन भी इन सर्गों मे मिल जाता है। इसी कारण इन पाँच सर्गों मे 'वीज' अर्थप्रकृति एव 'प्रारम्भ' कार्यावस्था के साथ मुख सधि विद्यमान है।

प्रतिमुख सधि वह कहलाती जिसमे मुख सधि के अन्तर्गत निवेशित वीज का ऐसा उद्भेद दिखाया जाता है, जो कभी दिखाई देता है और कभी दिखाई नही देता[1] तथा 'प्रयत्नावस्था' वह कहलाती है, जिसे फल प्राप्ति के लिए सत्वर उद्योग के रूप मे देखा जाता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे षष्ठ सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग के अत तक प्रतिमुख सधि है, क्योकि इन तीन सर्गो मे कवि ने उस 'विश्व-प्रेम' सवधी वीज का उद्भेद कृष्ण के मथुरा जाकर चाणूर, कुवलय, कस आदि का वध करके वही मथुरा मे रहकर सत्वर उद्योगो के द्वारा दिखाया है और राधा के हृदय मे उस प्रेम का वर्णन 'पवनदूती प्रसग' द्वारा किया है। इतना ही नही यहाँ उस वीज का उद्भेद गोपो एव नद के कथनो मे भी कही-कहीं दिखाई देता है, और कही उनके रुदन मे लुप्त भी हो जाता है। इसी कारण इन तीन सर्गो मे 'विन्दु' अर्थप्रकृति एव 'प्रयत्न' कार्यावस्था के साथ प्रतिमुख सधि है।

गर्भ सधि वहाँ होती है, जहाँ 'मुख' और 'प्रतिमुख' सधि मे क्रमश किंचिन्मात्र उद्भिन्न प्रमुख कार्य रूपी वीज का ऐसा समुद्भेदन कहा जाया करता है, जिसमे वीज के ह्रास और विकास की चिन्ता साथ-साथ चला करती है।[3] इसमे 'प्राप्त्याशा' नामक कार्यावस्था रहती है और 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था वह है

---

१ साहित्यदर्पण, पृ० ४१०

२ वही, पृ० ४०५

३ वही, पृ० ४११

जिसमे फल-सिद्धि के साधक और प्रतिबन्धक के पारस्परिक द्वन्द्व मे फल-सिद्धि की आशा अथवा सभावना का वर्णन किया जाता है।[1] 'प्रियप्रवास' मे यह गर्भ सधि नवम सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक चलती है, क्योकि इन सर्गों मे उद्धव जी मथुरा में गोकुल आते हैं तथा गोकुल मे आकर वे नद, यशोदा, गोप, गोपियो आदि समस्त व्रज-जनो को कृष्ण-प्रेम मे डूबा हुआ देखते हैं। इतना ही नही नवम सर्ग मे कृष्ण को भी गोप-गोपियो के प्रेम मे लीन देखने के कारण पहले 'विश्व-प्रेम सबधी बीज के ह्रास का सा आभास मिलता है कि कही कृष्ण ही गोकुल न लौट जायें और विश्व-कल्याण के कार्य न करें। परन्तु उद्धव के भेजने मे यह आशका समाप्त हो जाती है, फिर भी व्रज-जनो की प्रेम-विभोर वार्त्तायें सुन-सुनकर उद्धव को बराबर यह चिन्ता बनी रहती है कि कही इनका प्रेम कृष्ण को यहाँ पुन न खीच लावे। इसी कारण त्रयोदश सर्ग तक फल-सिद्धि के साधक एव प्रतिबधको मे पारस्परिक द्वन्द्व चलता रहता है और 'विश्व-प्रेम' सबधी फल-सिद्धि की सभावना ही बनी रहती है। अत इन पाँच सर्गों मे गोप-गोपी तथा नद-यशोदा के विरह की कथा सम्बन्धी 'पताका' अर्थप्रकृति और 'प्राप्त्याशा' कार्यावस्था के साथ-साथ गर्भ सधि मिलती है।

विमर्श सधि वहाँ होती है जहाँ गर्भ सधि मे उद्भिन्न प्रमुख कार्यरूपी बीज और भी अधिक उद्भिन्न प्रतीत हुआ करता है और साथ ही साथ जिसमे बाह्य परिस्थिति (जैसे-शाप, अमगलकारी घटना आदि) के कारण आने वाली विघ्न-बाधाओ का भी समावेश होता है।[2] इसमे 'नियताप्ति' कार्यावस्था रहती है। 'नियताप्ति' कार्य की वह अवस्था है जिसमे विघ्न-बाधा की निवृत्ति मे फल-प्राप्ति की सभावना का निश्चित वर्णन किया जाता है।[3] 'प्रियप्रवास' मे यह विमर्श सधि चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग के प्रारम्भिक आठ छदो तक मिलती है, जहाँ मथुरा से भी आगे द्वारिका मे श्रीकृष्ण के चले जाने का वर्णन किया गया है।[4] यहाँ तक कवि ने 'विश्व-प्रेम' सम्बन्धी कार्य के बीज को

---

१ साहित्य दर्पण, पृ० ४०६

२ वही, पृ० ४१२

३ वही, पृ० ४०७

४ ज्यो होता है शरद ऋतु के बीतने मे हताश।
स्वाती-सेवी अतिशय तृषावान प्रेमी पपीहा।
वैसे ही श्री कुवर-वर के द्वारिका मे पधारे।
छाई सारी ब्रज-अवनि मे सर्वदेशी निराशा॥—प्रियप्रवास, १७।८

और भी अधिक उद्भिन्न होता हुआ दिखाया है, क्योकि श्रीकृष्ण इस कार्य के हेतु अब मथुरा छोडकर द्वारिका चले जाते है। इसके साथ ही राधा के हृदय मे जाग्रत विश्व-प्रेम का वर्णन भी इन्ही सर्गो मे किया गया है, क्योकि षोडश सर्ग मे वह भी कृष्ण के विश्व-प्रेम मे अनुरक्त होकर यही कहती है—

"यो है मेरे हृदय-तल मे विश्व का प्रेम जागा।"

इसके साथ ही जरासध के सत्तरह बार के आक्रमणो द्वारा कवि ने यहाँ अमगल एव अशुभ विघ्न-बाधाओ का भी उल्लेख किया है, जो बाह्य परिस्थिति के कारण उत्पन्न हुई है, परन्तु उस विघ्न-बाधा से न श्रीकृष्ण के हृदय मे विश्व-प्रेम कम हुआ है और न राधा के हृदय मे। श्रीकृष्ण तो उस बाधा से बचकर द्वारिका चले जाते है और राधा उनके द्वारिका चले जाने पर लोक-हित मे लीन होने का निश्चय कर लेती है। अत चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग के आरम्भ तक विमर्श सधि की योजना की गई है, जिसमे 'नियताप्ति' कार्यावस्था तथा जरासध की कथा सम्बन्धी 'प्रकरी' अर्थप्रकृति भी विद्यमान हैं।

निर्वहण या उपसहृति सधि वह कहलाती है, जिसमे पूर्व नियोजित चारो सधियो मे उपन्यस्त बीजादि रूप कथा-भाग प्रधान फल के निष्पादक बनते हुए दिखाई देते है। इनमे कथा का उपसहार दिखाया जाता है।[1] इसके अतर्गत 'फलागम' नामक कार्यावस्था रहती है, जिसमे समग्र फल की प्राप्ति का उल्लेख किया जाता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे यह सधि सप्तदश सर्ग के नवम छद की "प्राणी आशा-कमल-पग को है नही त्याग पाता" पक्ति से लेकर काव्य के अन्त तक चलती है, क्योकि यहाँ से कवि ने द्वारिका-गमन द्वारा कृष्ण के हृदय मे व्याप्त विश्व-प्रेम की पुष्टि करके राधा के लिए हृदय मे उत्थित विश्व-प्रेम का भी व्यावहारिक रूप से वर्णन किया है। अब राधा भी निरतर गोप, गोपी, नद, यशोदा आदि की सेवा-सुश्रूषा के अतिरिक्त सदैव लोकहितकारी कार्यो मे लीन रही आती है, उसने अपनी सखियो का एक दल भी बना लिया है, जो यत्र-तत्र जाकर व्रज मे शान्ति का विस्तार करता है, दुखीजनो को धैर्य बँधाता है और व्रज की हित-साधना मे लगा रहता है। इसकी सस्थापिका श्रीमती राधा हैं, जो विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत है। इसी कारण कवि ने अन्त मे यही कामना की है—

---

१ साहित्य दर्पण, पृ० ४१३-४१४

२ वही, पृ० ४०७

सच्चे स्नेही अवनिजन के देश के श्याम जैसे।
राधा जैसी सदय-हृदया विश्व प्रेमानुरक्ता।
हे विश्वात्मा! भरत-भुव के अंक मे और आवे।
ऐसी व्यापी विरह-घटना किन्तु कोई न होवे।"[1]

अत: उक्त पंक्तियो तक कवि ने 'फलागम' कार्यावस्था और 'कार्य' अर्थप्रकृति के साथ-साथ निर्वहण या उपसंहृति नामक पंचम संधि की योजना की है।

कथावस्तु की समीक्षा—'प्रियप्रवास' की समस्त कथा दो भागो मे विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। पूर्वार्द्ध की कथा प्रथम-सर्ग से लेकर अष्टम सर्ग तक चलती है, जिसमे कंस का निमंत्रण लेकर अक्रूर जी गोकुल पधारते हैं और अपने साथ श्रीकृष्ण को ले जाते है और श्रीकृष्ण समस्त ब्रज-जनो को रोता-बिलखता छोड़कर मथुरा मे जा बसते हैं। कथा का उत्तरार्द्ध नवम सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक है, जिसमे श्रीकृष्ण ब्रज-जनो को सान्त्वना देने के लिए उद्धव को भेजते हैं, उद्धव गोकुल मे आकर नंद-यशोदा, गोप-गोपी एवं राधा की व्यथित दशा कुछ दिन ब्रज मे रहकर देखते हैं और कृष्ण का लोकोपकार एवं विश्व-प्रेम से भरा हुआ संदेश समस्त ब्रज-जनो को देते हैं। अन्त मे उद्धव भी मथुरा लौट जाते हैं, श्रीकृष्ण जरासंध के आक्रमणो से घबड़ाकर द्वारिका चले जाते हैं, और राधा विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर ब्रजभूमि की सेवा एवं हित-साधना मे लीन हो जाती है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की कथा तो अत्यन्त अल्प है, किन्तु गोपियो नंद-यशोदा एवं राधा के विलाप-कलाप से ही सारा कलेवर भर दिया गया है। यहाँ श्रीकृष्ण को एक महात्मा एवं महापुरुष के रूप मे अंकित करने का तो प्रयत्न किया गया है, परन्तु वे रंगमंच पर आकर स्वयं कोई पराक्रम नहीं दिखाते और न कोई हित-साधन का ही कार्य करते है, अपितु उनके लोकप्रिय कार्यों का उद्घाटन गोप-गोपियों द्वारा विरह-निवेदन करते समय किया जाता है। वैसे उनकी इस कथा मे घटना-क्रम का अभाव नहीं है, परन्तु वे सभी घटनायें स्मृति के रूप मे आने के कारण पाठको को आकृष्ट करने मे सर्वथा असमर्थ हैं। विरह-वर्णन की प्रधानता होने के कारण पाठक का मन ऊब जाता है तथा इन मार्मिक स्थलो मे उसका मन नहीं रमता। प्रथम सर्ग से लेकर पंचम सर्ग तक तो कथा का तनिक क्रमिक विकास दिखाई देता है, परन्तु षष्ठ सर्ग से जो करुण-क्रंदन प्रारम्भ

१ प्रियप्रवास, १७।५४

हुआ है वह अंत तक बराबर चलता रहता है, जिससे न तो कथानक में प्रवाह रहा है और न प्रस्पंदन, अपितु एकरसता के कारण शिथिलता आ गई है। वैसे कवि ने उस करुण-क्रंदन के बीच कृष्ण के पराक्रम एवं शील का वर्णन करके कथानक में कुछ गति प्रदान करने की चेष्टा की है और स्थान, समय एवं कार्य की अन्विति पर भी ध्यान दिया है, परन्तु बीच-बीच में गोपों के लम्बे-लम्बे भाषणों ने कथा की गति में व्याघात उत्पन्न कर दिया है। एक गोप अपनी व्यथा-कथा समाप्त नहीं करता कि तुरन्त दूसरा गोप दौड़कर रंगमंच पर आ खड़ा होता है और अपने स्वगत-भाषण के मारे चित्त को बेचैन कर देता है। वह औरों को बोलने तक का अवकाश तब तक नहीं देता, जब तक उसकी सारी कथा समाप्त नहीं होती। यहाँ तक कि उद्धव भी उनकी कथायें सुनते हैं और मौन बने रहते हैं। उनका यह मौन रहना और भी कथा को अस्वाभाविक बना देता है तथा कवि की कथा-योजना सम्बन्धी शिथिलता एवं अनभिज्ञता का परिचायक हो जाता है। इससे सारी कथा नीरस और प्रभाव-हीन हो गई है तथा कहीं भी संवाद-जन्य वैचित्र्य के दर्शन नहीं होते।

कथानक की योजना करते समय कवि का विचार यह था कि सर्वत्र श्रीकृष्ण को महा-पुरुष के रूप में ही अंकित किया जावेगा तथा उनके अति-मानुषिक एवं असम्भव कार्यों को बुद्धिसंगत तथा तर्कसम्मत बनाने का प्रयत्न किया जावेगा। परन्तु कवि अपनी इस योजना में सफल नहीं हो सका है। वैसे कवि ने अधिकांश घटनाओं को तर्कसम्मत एवं मानवोचित बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। परन्तु जब हम यह देखते हैं कि एक 'पयोमुख बालक' उन्मत्त गजेन्द्र से लड़ता है या भयंकर मुष्टिक, चाणूर आदि से भिड़ता है और जीत जाता है[1], तब हमें कवि भी परम्परा का पालक ही जान पड़ता। ऐसे ही जब हम बारह वर्ष के बालक कृष्ण को कालियानाग का दमन करने के लिए एक ऊँची कदम्ब की डाल पर चढ़कर उस प्रसिद्ध कालीदह में कूदते देखते हैं और कई पन्नगों एवं पन्नगियों के साथ उस कालीदह में ऊपर आकर तथा फणीश के सिर पर सुशोभित होकर अपने हाथ में वर रज्जु लिए हुए वंशी बजाते देखते है,[2] तब हमारी बुद्धि जवाब दे देती है और तब हमें कवि किसी भी प्रकार कथा को तर्कसंगत या बुद्धिग्राह्य बनाता हुआ नहीं दिखाई

१. प्रियप्रवास ३।६०-६५
२. वही ११।३७-४१

देता। यही बात गोवर्द्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने मे है। वहाँ कवि ने अपनी नवीन उद्भावना द्वारा यह सिद्ध किया है कि गोवर्द्धन पर्वत मे श्रीकृष्ण का प्रसार इतना अधिक था और वे इतनी फुर्ती के साथ सभी लोगो के पास आते-जाते दिखाई देते थे, कि जिससे यह जान पडता था मानो उन्होंने पर्वत को अँगुली पर उठा लिया हो।[1] अत ऐसी-ऐसी नवीन उद्भावनाओं के कारण न तो कवि कथा मे कौतूहल एव आश्चर्य की सृष्टि कर सका है और न रोमांचित करने वाले अप्रत्याशित मोडो को ही स्थान दे सका है, अपितु इस मौलिकता के चक्कर मे पडकर कथा हास्यास्पद हो गई है तथा श्रीकृष्ण का चरित्र भी कुछ मानवोचित और कुछ परब्रह्म जैसा ही हो गया है।

हाँ, इतना अवश्य है कि कवि ने श्रीकृष्ण के विलासी एव लीलामय रूप की अपेक्षा लोक-हितैषी, समाजसेवी तथा विश्व-प्रेमी रूप की अच्छी प्रतिष्ठा की है और जिस प्रकार के नायक की प्रतिष्ठा की है, उसी प्रकार की नायिका भी चित्रित की गई है। इतना ही नहीं, प्रकृति-चित्रण एव उद्धव के आगमन पर व्रज-जनो के व्यवहार-चित्रण मे भी कवि ने बडा कौशल दिखाया है। परन्तु इन सभी वर्णनो पर भागवत का बडा गहरा प्रभाव है। इतना ही नही सूरदास, नन्ददास आदि कृष्ण-भक्त कवियो से प्रभावित होकर भी कवि ने वात्सल्य, भ्रमरगीत एव विरह-प्रसगो की योजना की है। परन्तु करुण-क्रन्दन तथा प्रकृति-चित्रण की बहुलता कथानक के आकर्षण को समाप्त कर देती है और ऐसा जान पडता है कि कवि के पास वर्णन करने के लिए व्यापारो का सर्वथा अभाव है। प्रो० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी ने ठीक ही लिखा है—"हरिऔध ने वर्तमान बुद्धिवाद और सुधारवाद की प्रगति के प्रभाव मे आकर कृष्ण को और राधा को एक आदर्श महात्मा और त्यागिनी के रूप मे चित्रित करने की कोशिश तो की, परन्तु अपनी इस कोशिश के लिए उन्होंने जो क्षेत्र अर्थात् प्रतिपाद्य विषय (Theme) चुना, वह उसके बिलकुल ही अनुपयुक्त था। गोपियो की पुराण सगत परम्परागत रासलीलामूलक वियोग-गाथा की नीव पर आदर्शवाद और बुद्धिवाद की किलेबंदी हो नहीं सकती। हाँ, श्रीकृष्ण-चरित्र की अन्य गाथायें अवश्य है, जिन पर यह किलेबंदी खडी की जा सकती है। महाभारत के सैकडो ऐसे प्रसग है जिनपर वीर, नीतिज्ञ, महापुरुष अथवा योगिराज श्रीकृष्ण पर सुसंगत कविताएँ रची जा सकती हैं।"[2]

---

१. प्रियप्रवास १२।६६-६७

२. महाकवि हरिऔध का प्रियप्रवास, पृ० ९३

सक्षेप मे हम यह कह सकते हैं कि कथानक की योजना तो कवि ने सर्वथा शास्त्रीय नियमानुसार ही की है, इसमे सधियो एव कार्यावस्थाग्रो क ध्यान रखा है, कृष्ण के परम्परागत रूप को परिवर्तित करके उन्हे युगानुकूल समाजसुधारक एव लोक-रक्षक नेता के रूप मे रखा है, प्रकृति की भी ग्रत्यन्त रमणीक झाँकियाँ ग्रकित की है, राधा के लोकहितैषी रूप की ग्रभिव्यक्ति करके नारी-ग्रान्दोलन को भी महत्व प्रदान किया है तथा कथा के कुछ मार्मिक स्थलो—जैसे, कस के निमत्रण पर यशोदा ग्रौर नन्द के हार्दिक भाव का निरूपण, कृष्ण के मथुरा-गमन के ग्रवसर पर व्रज-जनो का करुण-विलाप पवन दूती प्रसग, नद के लौटने पर यशोदा माता का करुण-क्रन्दन, उद्धव-गोपी सवाद मे लोकहित एव विश्व-प्रेम की महत्ता, गोपियो की कृष्ण-वियोग सम्बन्धी विक्षिप्तता, राधा-उद्धव सवाद ग्रादि को चित्रित करने का सफल प्रयत्न किया है। इतना ही नही कृष्ण के लोकोपकारक कार्यों मे जातीय-प्रेम स्वदेश-रक्षा स्वजाति-उद्धार, कर्त्तव्यपालन की ग्रटूट ग्राकाक्षा, जननी-जन्म-भूमि का उत्कट प्रेम, सर्वभूत हित, विश्व-प्रेम ग्रादि का समावेश करके सर्वसाधारण के सम्मुख जीवन उन्नत करने एव ग्रपने चरित्र को उज्ज्वल बनाने का उच्च ग्रादर्श प्रस्तुत किया है। ग्रत भले ही कथानक-ग्रन्यान्य-ग्रभावो से युक्त हो, परन्तु वह ग्राधुनिक वैज्ञानिक युग के सर्वथा ग्रनुकूल है तथा ग्रागामी कवियो के लिए एक सच्चे पथ-प्रदर्शक का कार्य कर रहा है।

प्रकरण ३

प्रियप्रवास का काव्यत्व—भावपक्ष

'प्रियप्रवास' मे प्रबंधात्मकता—भारतीय एव पाश्चात्य विद्वानो ने एक प्रबंध काव्य के लिए कितनी ही बातें आवश्यक बताई हैं,[1] विस्ताररूप से उन सबका उल्लेख न करके हम यहाँ केवल उन्ही बातो का उल्लेख कर देना आवश्यक समझते है, जो सर्वसम्मत हैं, जिनका होना अत्यन्त आवश्यक है और जिनके बिना किसी काव्य को प्रबन्ध काव्य नही कहा जा सकता। वे बातें निम्नलिखित हैं —

(१) प्रबन्ध काव्य मे एक सानुबंध कथा होनी चाहिए, जिसमे प्रकथन की भी प्रधानता हो तथा जहाँ आदि, मध्य और अवसान स्पष्ट हो।

(२) उसमे प्रासगिक कथाओ की सुसम्बद्ध योजना होनी चाहिए।

(३) उसमे आये हुए वस्तु-वर्णनो मे रसात्मकता की प्रधानता होनी चाहिए।

(४) उसके अन्तर्गत प्रासगिक कथाओ और वस्तु-वर्णनो का मुख्य कथा के साथ पूर्णतया सम्बन्ध निर्वाह होना चाहिए।

(५) 'कार्य' की दृष्टि से उसके समस्त कथानक मे एकरूपता होनी चाहिए।

सानुबंध कथा—उक्त विशेषताओ के आधार पर यदि हम 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो पता चलता है कि कवि ने प्रथम सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक कथा की सुसम्बद्ध योजना की है, जिसमे श्रीकृष्ण के गमन द्वारा व्याप्त विरह का वर्णन करते हुए उनके लोकोपकारी कार्यों एव राधा के विश्व-प्रेम का चित्रण किया है। सारी कथा तीन भागो मे विभक्त है। प्रथम सर्ग से लेकर पचम सर्ग तक कथा का आदि भाग है, जिसमे कस

---

१ विस्तार-पूर्वक अध्ययन के लिए देखिए लेखक कृत "कामायनी मे काव्य, सस्कृति और दर्शन", पृष्ठ १३०–१३२

के निमन्त्रण पर अक्रूर जी श्रीकृष्ण को लेकर मथुरा चले जाते हैं और सारी व्रजभूमि श्रीकृष्ण के जाते ही विलखती-विसूरती रह जाती है। कथा का दूसरा भाग षष्ठ सर्ग से लेकर त्रयोदश सर्ग तक है, जिसमे कवि ने कृष्ण के विरह से व्यथित व्रज-जनो की आकुलता एव विषादमयी स्थिति का चित्रण किया है, उन्हे समझाने के लिए मथुरा से उद्धव का आगमन दिखाया है और उद्धव को भी उनकी व्यथा-कथा सुनते-सुनते बेचैन दिखाया है। यह कथा का मध्य भाग है। इसके अनन्तर चतुर्दश सर्ग से लेकर सप्तदश सर्ग तक कथा का अन्तिम भाग या अवसान दिखाया गया है, क्योकि इन सर्गों मे ही उद्धव पहले गोपियो को कृष्ण का विश्व-प्रेम, लोकहित एव स्वार्थ-त्याग सम्बन्धी सन्देश सुनाते हैं, फिर उनसे योग द्वारा चित्त को सँभालने का आग्रह करते हैं और पुन राधा के पास जाकर श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम सम्बन्धी सन्देश सुनाते हुए राधा को भी विश्व-प्रेम से ओत-प्रोत बना देते हैं। इस तरह 'प्रियप्रवास' की कथा आदि, मध्य और अवसान सहित सुसम्बद्ध दिखाई देती है। इतना अवश्य है कि इस कथा मे व्रज-जनो की विषादमयी करुण-स्थिति का चित्रण अधिक हैं, जिससे पाठको का मन पढते-पढते या सुनते-सुनते ऊब जाता है। परन्तु कवि ने इस ऊब एव शिथिलता को दूर करने के लिए बीच-बीच मे श्रीकृष्ण के समाजसेवी एव लोकोपकारी कार्यों एव पराक्रमो का वर्णन किया है, जिससे कथा मे गतिशीलता उत्पन्न हुई है, फिर भी कवि कथा के विषाद-पूर्ण वातावरण की एकरसता को दूर नही कर सका है। इसका कारण यह जान पडता है कि कवि ने पहले इस काव्य का नाम 'व्रजागना विलाप' रखा था[1] और इसी के अनुसार कथा की योजना की थी। 'प्रियप्रवास' नाम तो पीछे दिया गया है। इसी से कथा मे विलाप या विषाद की प्रधानता होना स्वाभाविक ही है। यह समस्त कथा प्रकथन-पूर्ण भी है, क्योकि यहाँ अधिकाश स्थल इतिवृत्तात्मक प्रकथन प्रणाली को अपनाते हुए ही लिखे गये हैं। अत. इस काव्य मे प्रकथनपूर्ण सुसम्बद्ध कथा की योजना मिलती है।

प्रासगिक कथा-योजना—'प्रियप्रवास' मे जितनी भी प्रासगिक कथायें आई हैं, उनमे से अधिकाश कथायें तो स्मृति के रूप मे ही वर्णित हैं, परन्तु अक्रूर का आगमन तथा श्रीकृष्ण का मथुरा-गमन, उद्धव का आगमन और गोप-गोपी, नद-यशोदा तथा राधा को श्रीकृष्ण का सन्देश सुनाना, जरासध के आक्रमण तथा श्रीकृष्ण का द्वारिका-गमन आदि कुछ ऐसी प्रासगिक कथायें

1 प्रियप्रवास की भूमिका, पृ० २

है, जिनको कवि ने घटित होता हुआ दिखाया है। साधारणतया प्रासंगिक कथाओं एवं घटनाओं की दृष्टि से दो प्रकार के काव्य देखे जाते हैं—प्रथम तो वे हैं जिनमें कवि की दृष्टि व्यक्ति पर रहती है और नायक की गौरव-वृद्धि या गौरव-रक्षा के लिए ही उसके जीवन की मुख्य-मुख्य घटनायें दी जाती हैं तथा दूसरे वे हैं जिनमे कवि की दृष्टि व्यक्ति पर न रह कर किसी मुख्य घटना पर रहती है और उसी घटना के उपक्रम के रूप मे सारा वस्तु-विन्यास किया जाता है। प्रथम कोटि मे रघुवंश, बुद्धचरित्र, विक्रमांकदेव चरित्र आते हैं तथा दूसरी कोटि मे कुमार-संभव, किरातार्जुनीय, शिशुपाल-वध आदि आते हैं।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि इस वर्गीकरण के आधार पर 'प्रियप्रवास' की गणना द्वितीय कोटि के महाकाव्यो मे की जा सकती है, क्योंकि यहाँ कवि की दृष्टि विश्व-प्रेम एवं लोकहित के कारण श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन एवं राधा के हृदय में भी विश्व-प्रेम की व्यंजना करने की ओर रही है और इसी कारण कवि ने यहाँ केवल उन घटनाओं का वर्णन ही किया है जिनका सम्बन्ध कृष्ण के जातीय, राष्ट्रीय एवं सार्वभौम हित से है। इन्हीं घटनाओं मे कालियनाग, दावानल, गोवर्द्धन पर्वत को उठाना, अघासुर, व्योमासुर आदि के वृत्तान्त आते है। ये सभी प्रासंगिक कथायें मुख्य कथा से पूर्णतया सुसम्बद्ध हैं और कृष्ण के लोकहित एवं विश्व-प्रेम की परिचायिका हैं। अतः उक्त सभी प्रासंगिक कथाओं को मुख्य कथा का अंग माना जा सकता है। हाँ, इतना अवश्य है कि उन कथाओं मे परम्परागत कथाओं से भिन्नता प्रस्तुत करते हुए कवि ने जो परिवर्तन किया है, वह अधिक तर्क-सम्मत एवं बुद्धिग्राह्य नहीं बन सका है, परन्तु कवि की योजना सर्वथा प्रबन्ध काव्य के ही अनुकूल है।

वस्तु-वर्णनो की रसात्मकता—हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे कितने ही स्थल ऐसे चुने हैं, जिनके वर्णन मे अद्भुत कौशल दिखाते हुए सरसता का संचार किया है। 'प्रियप्रवास' के प्रथम सर्ग मे आया हुआ सन्ध्याकालीन गोचारण का दृश्य कितना आकर्षक एवं मनोमोहक है। उस समय सन्ध्या की अरुणिमा से रंजित, गो-रज से विभूषित, विविध धेनु एवं ग्वालबालों के मध्य अलंकृत श्रीकृष्ण से सुशोभित तथा नाना वंशी-वेणु आदि वाद्यो से निनादित व्रज-भूमि की सन्ध्याकालीन छटा किसे विमुग्ध नहीं करती।[2] इतना ही नहीं

१ जायसी-ग्रन्थावली भूमिका, पृ० ७१

२ प्रियप्रवास १।१-१२

उस ग्वाल-मडली का दर्शन करने के लिए जिस समय गोकुल ग्राम की अपार जनता उमड पडती है तथा सम्पूर्ण जन-मडली नद-गृह तक बडे हर्ष एव उल्लास के साथ पहुँचती है—ये सम्पूर्ण दृश्य पाठको के हृदय मे सरसता का सचार करते हुए हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यही बात श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर दिखाई देती है। हरिगमन की वेला के आते ही खिन्नता, विषाद, शोक एव करुणा का सागर व्रज मे उमड पडता है और प्रत्येक प्राणी कृष्ण-प्रेम मे लीन होकर अपने-अपने कार्य छोडकर वहाँ आ उपस्थित होता है। कवि ने उस समय के विषादपूर्ण वातावरण का इतना सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है कि उसे सुनकर निस्सदेह पत्थर भी रो सकते है। कवि ने तो लिखा भी है —

"घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बाते दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
हा हा खाया बहु विनय की औ कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।"[1]

उस शोक मे सम्मिलित होने के लिए तथा श्रीकृष्ण का अन्तिम दर्शन करने के लिए उनके प्रेम के आकर्षण मे खिचकर गायें भी वहाँ भागी चली आती है तथा महर-गृह का काकातूआ भी दुखी हो उठता है।[2] इसके अतिरिक्त व्रज के गोप एव गोपीजनो की दशा का तो वर्णन करना ही सर्वथा असम्भव है। इस तरह कवि ने उस समय के विषाद का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अकित कर दिया है, जिसमे सजीवता एव मार्मिकता के साथ ही पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

इसके अनन्तर मथुरा से अकेले नद के लौट आने पर यशोदा ने अपने वात्सल्यपूर्ण विलाप द्वारा एक ऐसे करुणाप्लावित वातावरण की सृष्टि करदी है कि कठोर से कठोर हृदय भी उसे सुनकर द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। यशोदा के ये शब्द कितने हृदयद्रावक है —

"हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।"[3]

---

१. प्रियप्रवास ५।६६
२ वही ५।३७–४०
३ वही ७।५६

इसी तरह गोप-गोपियो की व्यथा-कथा के चित्रण मे भी कवि ने पर्याप्त सरसता का सचार किया है। साथ ही कृष्ण की लोकोपकार एव लोकहित की भावना से भरी हुई उनके पराक्रम की कथाम्रो के चित्रण मे कवि ने नवीनता की सृष्टि करते हुए भी हृदय को आकृष्ट करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। तदनन्तर पचदश सर्ग मे कुज के पुष्पो, भ्रमर, वायु, मुरली आदि से बातें करती हुई कृष्ण के विरह मे भ्रमित एक विक्षिप्त बाला का चित्रण करके कवि ने पुन विरह-व्यथा की अत्यन्त सजीव एव मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। उद्धव-गोपी संवाद तथा उद्धव-राधा-सवाद भी सरस एव चित्ताकर्षक हैं। इस तरह कवि ने अपने सभी वर्णनो मे सरसता का संचार करते हुए उन्हें चित्ताकर्षक बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। इन्हें हम निस्सदेह ऐसे विराम-स्थल कह सकते हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्‌बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणाम स्वरूप सारे प्रबधकाव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सामूहिक रूप से देखने पर इन रसात्मक वर्णनो मे करुणा एव विषाद की इतनी अधिकता हो गई है कि पाठको का मन इन्हें पढते-पढ़ते ऊब जाता है। इन समस्त वस्तु-वर्णनो मे विप्रलम्भ शृगार की प्रधानता होने के कारण जो एकरसता आगई है, वह कुछ-कुछ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है, जिससे न तो अन्य रस अपना प्रभाव स्थापित कर सके हैं और न विप्रलम्भ शृगार ही स्वाभाविक रूप मे विकसित हो सका है।

सम्बन्ध निर्वाह—'प्रियप्रवास' मे भावात्मक स्थलो का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि कवि ने नद, यशोदा, गोप, गोपी, राधा, पशु, पक्षी आदि सभी को कृष्ण के विरह मे विह्वल दिखाने की चेष्टा की है, फिर भी कवि ने प्रत्येक सर्ग की कथा को परस्पर सम्बद्ध करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। प्रत्येक सर्ग मे पूर्वापर सम्बन्ध विद्यमान है। उदाहरण के लिए जैसे प्रथम सर्ग की समाप्ति सध्याकालीन रमणीक वातावरण के वर्णन के साथ होती है और द्वितीय सर्ग सध्या के उपरान्त दो घडी रात व्यतीत होने पर गोकुल मे कैसे-कैसे आनन्दपूर्ण क्रीडा-कलाप चल रहे थे—उनके वर्णन से प्रारम्भ होता है। फिर द्वितीय सर्ग की समाप्ति कृष्ण के मथुरा-गमन को सूचना से व्याप्त निराशा एव खिन्नता के वर्णन के साथ होती है और तृतीय सर्ग उसी रात्रि मे नद और यशोदा की व्यथित एव आशकापूर्ण स्थिति का दृश्य उपस्थित करते

---

१ जायसी ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ७३।

उस ग्वाल-मडली का दर्शन करने के लिए जिस समय गोकुल ग्राम की अपार जनता उमड पडती है तथा सम्पूर्ण जन-मडली नद-गृह तक वडे हर्ष एव उल्लास के साथ पहुँचती है—ये सम्पूर्ण दृश्य पाठको के हृदय मे सरसता का सचार करते हुए हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यही वात श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर दिखाई देती है। हरिगमन की वेला के आते ही खिन्नता, विषाद, शोक एव करुणा का सागर व्रज मे उमड पडता है और प्रत्येक प्राणी कृष्ण-प्रेम मे लीन होकर अपने-अपने कार्य छोडकर वहाँ आ उपस्थित होता है। कवि ने उस समय के विषादपूर्ण वातावरण का इतना सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है कि उसे सुनकर निस्सदेह पत्थर भी रो सकते हैं। कवि ने तो लिखा भी है —

"घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना वातें दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
हा हा खाया वहु विनय की औ कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।[1]

उस शोक मे सम्मिलित होने के लिए तथा श्रीकृष्ण का अन्तिम दर्शन करने के लिए उनके प्रेम के आकर्षण मे खिचकर गायें भी वहाँ भागी चली आती है तथा महर-गृह का काकातूआ भी दुखी हो उठता है।[2] इसके अतिरिक्त व्रज के गोप एव गोपीजनो की दशा का तो वर्णन करना ही सर्वथा असम्भव है। इन तरह कवि ने उस समय के विषाद का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अकित कर दिया है, जिसमे सजीवता एव मार्मिकता के साथ ही पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

इसके अनन्तर मथुरा से अकेले नद के लौट आने पर यशोदा ने अपने वात्सल्यपूर्ण विलाप द्वारा एक ऐसे करुणाप्लावित वातावरण की सृष्टि करदी है कि कठोर से कठोर हृदय भी उसे सुनकर द्रवित हुए विना नही रह सकता। यशोदा के ये शब्द कितने हृदयद्रावक हैं —

"हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणो के परमप्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले।
हा ! वेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्र-तारे हमारे।"[3]

---

१ प्रियप्रवास ५।६६
२ वही ५।३७–४०
३ वही ७।५६

इसी तरह गोप-गोपियो की व्यथा-कथा के चित्रण में भी कवि ने पर्याप्त सरसता का सचार किया है। साथ ही कृष्ण की लोकोपकार एव लोकहित की भावना से भरी हुई उनके पराक्रम की कथाओ के चित्रण मे कवि ने नवीनता की सृष्टि करते हुए भी हृदय को आकृष्ट करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। तदनन्तर पचदश सर्ग मे कुज के पुष्पो, भ्रमर, वायु, मुरली आदि से बातें करती हुई कृष्ण के विरह मे भ्रमित एक विक्षिप्त बाला का चित्रण करके कवि ने पुन विरह-व्यथा की अत्यन्त सजीव एव मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। उद्धव-गोपी सवाद तथा उद्धव-राधा-सवाद भी सरस एव चित्ताकर्षक हैं। इस तरह कवि ने अपने सभी वर्णनो मे सरसता का सचार करते हुए उन्हे चित्ताकर्षक बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। इन्हे हम निस्सदेह ऐसे विराम-स्थल कह सकते हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणाम स्वरूप सारे प्रबधकाव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सामूहिक रूप से देखने पर इन रसात्मक वर्णनो मे करुणा एव विषाद की इतनी अधिकता हो गई है कि पाठको का मन इन्हे पढते-पढ़ते ऊब जाता है। इन समस्त वस्तु-वर्णनो मे विप्रलम्भ शृगार की प्रधानता होने के कारण जो एकरसता आगई है, वह कुछ-कुछ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है, जिससे न तो अन्य रस अपना प्रभाव स्थापित कर सके हैं और न विप्रलम्भ शृगार ही स्वाभाविक रूप मे विकसित हो सका है।

सम्बन्ध निर्वाह—'प्रियप्रवास' मे भावात्मक स्थलो का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है, क्योकि कवि ने नद, यशोदा, गोप, गोपी, राधा, पशु, पक्षी आदि सभी को कृष्ण के विरह मे विह्वल दिखाने की चेष्टा की है, फिर भी कवि ने प्रत्येक सर्ग की कथा को परस्पर सम्बद्ध करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। प्रत्येक सर्ग मे पूर्वापर सम्बन्ध विद्यमान है। उदाहरण के लिए जैसे प्रथम सर्ग की समाप्ति सध्याकालीन रमणीक वातावरण के वर्णन के साथ होती है और द्वितीय सर्ग सध्या के उपरान्त दो घडी रात व्यतीत होने पर गोकुल मे कैसे-कैसे आनन्दपूर्ण क्रीड़ा-कलाप चल रहे थे—उनके वर्णन से प्रारम्भ होता है। फिर द्वितीय सर्ग की समाप्ति कृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से व्याप्त निराशा एव खिन्नता के वर्णन के साथ होती है और तृतीय सर्ग उसी रात्रि मे नद और यशोदा की व्यथित एव आशकापूर्ण स्थिति का दृश्य उपस्थित करते

---

१ जायसी ग्रथावली—भूमिका, पृ० ७३।

उस ग्वाल-मडली का दर्शन करने के लिए जिस समय गोकुल ग्राम की अपार जनता उमड पड़ती है तथा सम्पूर्ण जन-मडली नद-गृह तक बडे हर्ष एव उल्लास के साथ पहुँचती है—ये सम्पूर्ण दृश्य पाठको के हृदय मे सरसता का सचार करते हुए हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यही बात श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर दिखाई देती है। हरिगमन की वेला के आते ही खिन्नता, विषाद, शोक एव करुणा का सागर ब्रज मे उमड पडता है और प्रत्येक प्राणी कृष्ण-प्रेम मे लीन होकर अपने-अपने कार्य छोडकर वहाँ आ उपस्थित होता है। कवि ने उस समय के विषादपूर्ण वातावरण का इतना सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है कि उसे सुनकर निस्सदेह पत्थर भी रो सकते हैं। कवि ने तो लिखा भी है —

"घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बातें दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
हा हा खाया बहु विनय की औ कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।"[1]

उस शोक में सम्मिलित होने के लिए तथा श्रीकृष्ण का अन्तिम दर्शन करने के लिए उनके प्रेम के आकर्षण मे खिचकर गायें भी वहाँ भागी चली आती हैं तथा महर-गृह का काकातूआ भी दुखी हो उठता है।[2] इसके अतिरिक्त ब्रज के गोप एव गोपीजनो की दशा का तो वर्णन करना ही सर्वथा असम्भव है। इस तरह कवि ने उस समय के विषाद का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अकित कर दिया है, जिसमे सजीवता एव मार्मिकता के साथ ही पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

इसके अनन्तर मथुरा से अकेले नद के लौट आने पर यशोदा ने अपने वात्सल्यपूर्ण विलाप द्वारा एक ऐसे करुणाप्लावित वातावरण की सृष्टि करदी है कि कठोर से कठोर हृदय भी उसे सुनकर द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। यशोदा के ये शब्द कितने हृदयद्रावक हैं —

"हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।"[3]

---

१ प्रियप्रवास ५।६६
२ वही ५।३७–४०
३ वही ७।५६

इसी तरह गोप-गोपियो की व्यथा-कथा के चित्रण मे भी कवि ने पर्याप्त सरसता का सचार किया है। साथ ही कृष्ण की लोकोपकार एवं लोकहित की भावना से भरी हुई उनके पराक्रम की कथाम्रो के चित्रण में कवि ने नवीनता की सृष्टि करते हुए भी हृदय को आकृष्ट करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। तदनन्तर पंचदश सर्ग मे कुज के पुष्पो, भ्रमर, वायु, मुरली आदि से बातें करती हुई कृष्ण के विरह मे भ्रमित एक विक्षिप्त बाला का चित्रण करके कवि ने पुन. विरह-व्यथा की अत्यन्त सजीव एव मार्मिक झाँकी प्रस्तुत की है। उद्धव-गोपी संवाद तथा उद्धव-राधा-सवाद भी सरस एव चित्ताकर्षक हैं। इस तरह कवि ने अपने सभी वर्णनो मे सरसता का सचार करते हुए उन्हे चित्ताकर्षक बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। इन्हें हम निस्सदेह ऐसे विराम-स्थल कह सकते हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्‌बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणाम स्वरूप सारे प्रबन्धकाव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सामूहिक रूप से देखने पर इन रसात्मक वर्णनो मे करुणा एव विषाद की इतनी अधिकता हो गई है कि पाठको का मन इन्हे पढते-पढते ऊब जाता है। इन समस्त वस्तु-वर्णनो मे विप्रलम्भ शृगार की प्रधानता होने के कारण जो एकरसता आगई है, वह कुछ-कुछ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है, जिससे न तो अन्य रस अपना प्रभाव स्थापित कर सके हैं और न विप्रलम्भ शृगार ही स्वाभाविक रूप मे विकसित हो सका है।

सम्बन्ध निर्वाह—'प्रियप्रवास' मे भावात्मक स्थलो का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है, क्योंकि कवि ने नद, यशोदा, गोप, गोपी, राधा, पशु, पक्षी आदि सभी को कृष्ण के विरह मे विह्वल दिखाने की चेष्टा की है, फिर भी कवि ने प्रत्येक सर्ग की कथा को परस्पर सम्बद्ध करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। प्रत्येक सर्ग मे पूर्वापर सम्बन्ध विद्यमान है। उदाहरण के लिए जैसे प्रथम सर्ग की समाप्ति सध्याकालीन रमणीक वातावरण के वर्णन के साथ होती है और द्वितीय सर्ग सध्या के उपरान्त दो घडी रात व्यतीत होने पर गोकुल मे कैसे-कैसे आनन्दपूर्ण क्रीडा-कलाप चल रहे थे—उनके वर्णन से प्रारम्भ होता है। फिर द्वितीय सर्ग की समाप्ति कृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से व्याप्त निराशा एव खिन्नता के वर्णन के साथ होती है और तृतीय सर्ग उसी रात्रि में नद और यशोदा की व्यथित एव आशकापूर्ण स्थिति का दृश्य उपस्थित करते

---

१. जायसी ग्रंथावली—भूमिका, पृ० ७३।

उस ग्वाल-मडली का दर्शन करने के लिए जिस समय गोकुल ग्राम की अपार जनता उमड पडती है तथा सम्पूर्ण जन-मडली नद-गृह तक बडे हर्ष एव उल्लास के साथ पहुँचती है—ये सम्पूर्ण दृश्य पाठको के हृदय मे सरसता का सचार करते हुए हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। यही बात श्रीकृष्ण के मथुरा गमन के अवसर पर दिखाई देती है। हरिगमन की वेला के आते ही खिन्नता, विषाद, शोक एव करुणा का सागर व्रज मे उमड पडता है और प्रत्येक प्राणी कृष्ण-प्रेम मे लीन होकर अपने-अपने कार्य छोडकर वहाँ आ उपस्थित होता है। कवि ने उस समय के विषादपूर्ण वातावरण का इतना सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है कि उसे सुनकर निस्सदेह पत्थर भी रो सकते हैं। कवि ने तो लिखा भी है —

"घेरा आके सकल जन ने यान को देख जाता।
नाना बातें दुखमय कही पत्थरो को रुलाया।
हा हा खाया बहु विनय की औ कहा खिन्न हो के।
जो जाते हो कुँवर मथुरा ले चलो तो सभी को।"[1]

उस शोक मे सम्मिलित होने के लिए तथा श्रीकृष्ण का अन्तिम दर्शन करने के लिए उनके प्रेम के आकर्षण मे खिचकर गायें भी वहाँ भागी चली आती है तथा महर-गृह का काकातूआ भी दुखी हो उठता है।[2] इसके अतिरिक्त व्रज के गोप एव गोपीजनो की दशा का तो वर्णन करना ही सर्वथा असम्भव है। इस तरह कवि ने उस समय के विषाद का अत्यन्त जीता-जागता चित्र अकित कर दिया है, जिसमे सजीवता एव मार्मिकता के साथ ही पर्याप्त सरसता विद्यमान है।

इसके अनन्तर मथुरा से अकेले नद के लौट आने पर यशोदा ने अपने वात्सल्यपूर्ण विलाप द्वारा एक ऐसे करुणाप्लावित वातावरण की सृष्टि करदी है कि कठोर से कठोर हृदय भी उसे सुनकर द्रवित हुए बिना नही रह सकता। यशोदा के ये शब्द कितने हृदयद्रावक है —

"हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परमप्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।"[3]

---

१ प्रियप्रवास ५।६६
२ वही ५।३७-४०
३ वही ७।५६

इसी तरह गोप-गोपियो की व्यथा-कथा के चित्रण मे भी कवि ने पर्याप्त सरसता का सचार किया है। साथ ही कृष्ण की लोकोपकार एवं लोकहित की भावना से भरी हुई उनके पराक्रम की कथाओ के चित्रण में कवि ने नवीनता की सृष्टि करते हुए भी हृदय को आकृष्ट करने का सुन्दर प्रयत्न किया है। तदनन्तर पचदश सर्ग मे कुज के पुष्पो, भ्रमर, वायु, मुरली आदि से बातें करती हुई कृष्ण के विरह मे भ्रमित एक विक्षिप्त बाला का चित्रण करके कवि ने पुन विरह-व्यथा की अत्यन्त सजीव एव मार्मिक झांकी प्रस्तुत की है। उद्धव-गोपी सवाद तथा उद्धव-राधा-सवाद भी सरस एव चित्ताकर्षक हैं। इस तरह कवि ने अपने सभी वर्णनो मे सरसता का सचार करते हुए उन्हे चित्ताकर्षक बनाने का अच्छा प्रयत्न किया है। इन्हे हम निस्सदेह ऐसे विराम-स्थल कह सकते हैं, जो मनुष्य की रागात्मिका प्रकृति का उद्बोधन कर सकते हैं, उसके हृदय को भावमग्न कर सकते हैं तथा जिनके परिणाम स्वरूप सारे प्रबधकाव्य मे रसात्मकता आजाती है।[1] परन्तु इतना अवश्य है कि सामूहिक रूप से देखने पर इन रसात्मक वर्णनो मे करुणा एव विषाद की इतनी अधिकता हो गई है कि पाठको का मन इन्हे पढते-पढ़ते ऊब जाता है। इन समस्त वस्तु-वर्णनो मे विप्रलम्भ शृगार की प्रधानता होने के कारण जो एकरसता आगई है, वह कुछ-कुछ अपनी सीमा का अतिक्रमण कर गई है, जिससे न तो अन्य रस अपना प्रभाव स्थापित कर सके हैं और न विप्रलम्भ शृंगार ही स्वाभाविक रूप मे विकसित हो सका है।

सम्बन्ध निर्वाह—'प्रियप्रवास' मे भावात्मक स्थलो का वर्णन अपेक्षाकृत अधिक है, क्योकि कवि ने नद, यशोदा, गोप, गोपी, राधा, पशु, पक्षी आदि सभी को कृष्ण के विरह मे विह्वल दिखाने की चेष्टा की है, फिर भी कवि ने प्रत्येक सर्ग की कथा को परस्पर सम्बद्ध करने का अत्यन्त सफल प्रयत्न किया है। प्रत्येक सर्ग मे पूर्वापर सम्बन्ध विद्यमान है। उदाहरण के लिए जैसे प्रथम सर्ग की समाप्ति सध्याकालीन रमणीक वातावरण के वर्णन के साथ होती है और द्वितीय सर्ग सध्या के उपरान्त दो घडी रात व्यतीत होने पर गोकुल मे कैसे-कैसे आनन्दपूर्ण क्रीडा-कलाप चल रहे थे—उनके वर्णन से प्रारम्भ होता है। फिर द्वितीय सर्ग की समाप्ति कृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से व्याप्त निराशा एव खिन्नता के वर्णन के साथ होती है और तृतीय सर्ग उसी रात्रि मे नद और यशोदा की व्यथित एव आशकापूर्ण स्थिति का दृश्य उपस्थित करते

---

१ जायसी ग्रथावली—भूमिका, पृ० ७३।

हुए प्रारम्भ हुआ है तथा अन्त तक इसी का वर्णन चलता है। यही बात अन्य सर्गों मे भी विद्यमान है कि प्रत्येक सर्ग अपने से पूर्व सर्ग से पूर्णतया सम्बद्ध है। प्रत्येक सर्ग की कथा नदी की धारा की भाँति अविरल गति से प्रवाहित होती हुई बढती चली जाती है और कही भी कथा विश्रृंखलित होती हुई नही दिखाई देती। इतना अवश्य है कि सर्गों के बीच-बीच मे अन्य कथाओ का समावेश करने के लिए कवि ने एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया है अर्थात् उन कथाओ को स्मृति के रूप मे रखा है, उन्हे घटित होते हुए दिखाने की चेष्टा नही की है। इस नवीन परम्परा के कारण अथवा स्मृति रूप मे कथाओ का उल्लेख करने के कारण कथाओ का क्रम-भग हो गया है। श्रीमद्भागवत पुराण मे श्रीकृष्ण की बाल-कथायें क्रमश इस तरह आई हैं—पूतना-उद्धार, तृणावर्त-उद्धार, अघासुर उद्धार, कालिय नाग की कथा, दावानल से रक्षा, गोवर्द्धन धारण, केशी तथा व्योमासुर का उद्धार तत्पश्चात् मथुरा जाकर कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि का वध। परन्तु हरिऔध जी ने इन कथाओ का वर्णन यथाक्रम न करके इनमे से पहले तो पूतना और तृणावर्त की कथा के उपरान्त कुवलयापीड, चाणूर, मुष्टिक, कस आदि के वध की सूचना दी है और फिर अघासुर-वध की कथा का उल्लेख न करके पहले कालियनाग की कथा का वर्णन बडी सजीवता के साथ किया है। तदुपरान्त आपने दावानल, गोवर्द्धन-धारण, केशी, व्योमासुर आदि की कथायें सुनवाई हैं। इस तरह भागवत से यहाँ क्रम बदलकर कथायें कहलवाई गई हैं। परन्तु यह कोई व्यतिक्रम नही माना जा सकता, क्योकि जब इन कथाओ को काव्य मे घटित होता हुआ दिखाया ही नही गया है, तब फिर उन्हे आगे-पीछे कभी भी किसी के द्वारा कहलवाया जा सकता है। मुख्य कथा तो यहाँ श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम मे लीन होकर मथुरा-गमन तथा उनके गमनोपरान्त उद्धव द्वारा दिये जाने वाले विश्व-प्रेम एव लोकहित सम्बन्धी सदेश को सुनकर राधा का भी विश्व-प्रेम मे लीन होना है। इस कथा की सगति मे कही व्याघात उत्पन्न नहीं होता तथा वह कहीं विश्रृखलित होती हुई नहीं दिखाई देती, अपितु इस कथा के अनुसार सर्गों का विभाजन भी सर्वथा उपयुक्त एव समीचीन जान पडता है। इसके अतिरिक्त मुख्य प्रासगिक कथायें तो यहाँ चार ही हैं—(१) कस के निमत्रण पर श्रीकृष्ण का मथुरा गमन, (२) गोपियो को समझाने के लिए उद्धव का मथुरा से आगमन, (३) उद्धव-गोपी तथा उद्धव-राधा सवाद और (४) कृष्ण का जरासध के आक्रमणो से दुखी होकर मथुरा से द्वारिका चला जाना। इन कथाओ को कवि ने राधा-कृष्ण के विश्व-प्रेम

सम्बन्धी मुख्य कथान से अत्यन्त सुसम्बद्ध करके प्रस्तुत किया है तथा उनमें एकरूपता एव सुसम्बद्धता विद्यमान है।

'कार्य' की दृष्टि से एकरूपता—प्रबन्ध काव्य की सबसे बड़ी विशेपता ही यह होती है कि उसकी सारी कथा एक उद्देश्य, एक ध्येय अथवा एक 'कार्य' की सिद्धि को अपना लक्ष्य बनाकर क्रमश चलती है। इस लक्ष्य-प्राप्ति या कार्य-सिद्धि के लिए ही सारी कथा मे अन्य प्रासगिक कथाओ की योजना की जाती है, उसको सधियो एव कार्यावस्थाओ मे विभक्त करके प्रस्तुत किया जाता है तथा उससे आदि, मध्य एव अवसान की योजना करते हुये कार्य-सकलन पर ध्यान दिया जाता है। इतना ही नहीं आचार्यों की दृष्टि मे चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति भी प्रबध काव्य का उद्देश्य है। अत. प्रबध काव्य की कथावस्तु मे उक्त चतुर्वर्ग की सिद्धि के लिए भी व्यवस्था की जाती है। इन सभी आधारो पर जब हम 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टि डालते हैं तो पता चलता है कि जैसे रामचरितमानस का ध्येय रावण वध, पदमावत का ध्येय पद्मिनी का सती होना और 'कामायनी' का ध्येय मनु को आनद की प्राप्ति है, उसी तरह 'प्रियप्रवास' का ध्येय कृष्ण के लोकहित एव विश्व-प्रेम का सदेश पाकर राधा का विश्व-प्रेम मे लीन होना है। इस ध्येय या कार्य की दृष्टि से ही सारी कथा यहाँ नियोजित है। इसी कारण यहाँ कविने पहले श्रीकृष्ण का विश्व-प्रेम मे लीन होकर अपनी प्रिय क्रीड़ा-भूमि, वात्सल्यमयी माता, दुलारपूर्ण पिता, चिरस्नेही सखा तथा चिरप्रेमिका गोपियो का परित्याग करके मथुरा-गमन का वर्णन किया है और भी फिर इसी लोकहित अथवा विश्व-प्रेम से प्रेरित होकर वे मथुरा नगरी को भी छोड़कर द्वारिका मे जा बसते हैं। उनके इसी लोकहित एव विश्व-प्रेम के सदेश को लेकर उद्धव व्रज मे पधारते हैं और सभी गोप-गोपियो एव राधा को सदेश देते हैं। उस सदेश को सुनते ही राधा अपनी अन्य कुमारी सखियों को लेकर एक सुन्दर सगठित दल स्थापित करती है तथा सारे व्रज प्रदेश मे सुख और शान्ति का प्रचार करती हुई लोकहित एव विश्व-प्रेम मे लीन हो जाती है। इतना ही नहीं इस कथा-विस्तार मे कवि ने कृष्ण और राधा को विश्व-प्रेम मे लीन दिखाकर मोक्ष प्राप्त करते हुए भी अकित किया है। इस तरह सम्पूर्ण कथा का झुकाव एक 'कार्य' की ही ओर है, उसी कार्य को दृष्टि मे रखकर कवि ने कथा का प्रारम्भ कृष्ण के मथुरा-गमन से किया है, उसी 'कार्य' को दृष्टि मे रखकर कवि ने बीच-बीच मे गोप गोपियो के मुख से कृष्ण के लोकहित एव समाज उद्धार के कार्यों का वर्णन किया है और उसी 'कार्य' के कारण अन्त मे राधा भी व्रज के कण-कण मे कृष्ण के स्वरूप की झाँकी देखते हुए उन व्रज-

भूमि की सेवा, परोपकार, हितसाधना एव सुख-शान्ति के प्रसार मे तल्लीन चित्रित किया है। अत 'प्रियप्रवास' की सम्पूर्ण कथा 'कार्य' की दृष्टि से पूर्णतया सुसगठित एवं सुसम्बद्ध दिखाई देती है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रियप्रवास' में प्रबधात्मकता है, उसकी सारी कथा सुन्दरता के साथ नियोजित है तथा उसमे कथा का क्रमिक विकास विद्यमान है। उसकी कथा मे मुक्तक काव्य की तरह पूर्वापर सम्बन्ध कही भी विच्छेद नही हुआ है, अपितु अन्य पूर्वघटित प्रासगिक कथाओ को भी "आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का सग छोडो ···जो ऊवी हैं कथन पहले हूँ उसी का सुनाता"[1] अथवा "निज मनोहर-भाषण वृद्ध ने, जब समाप्त किया बहुमुग्ध हो। अपर एक प्रतिष्ठित गोप यो, तब लगा कहने सु-गुणावली"[2] या "समाप्त ज्यो ही इस यूथ ने किया, अतीव प्यारे अपने प्रसग को। लगा सुनाने उस काल ही उन्हे, स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यो"[3] आदि कहकर परस्पर सम्बद्ध करने का अच्छा प्रयत्न किया है। यद्यपि इस प्रणाली को अपनाने के कारण पाठक ऊब जाते हैं, क्योंकि एक गोप या आभीर अपनी बात समाप्त करता नही कि तुरन्त ही दूसरा गोप रगमच पर आ धमकता है और अपनी गाथा सुनाने लग जाता है, इससे लगातार भाषणों के सुनने से जैसे सर-दर्द होने लगता है, वही दशा इन गाथाओ को सुनते-सुनते भी हो जाती है, फिर भी कवि ने कथाओ को सुसम्बद्ध करके मुख्य कथा से जोडने का अच्छा प्रयत्न किया है और इन कथाओ द्वारा लोकहित, लोकोपकार, विश्व-प्रेम, समाज-सुधार आदि का वातावरण बनाते हुए कृष्ण के आदर्श जीवन की ओर अच्छा सकेत किया है। यहाँ कवि ने नाटकीय प्रणाली को अपनाते हुए सकेतो द्वारा ही कृष्ण के चरित्र का उद्घाटन किया है, परन्तु इसका कारण भी 'कार्य' की लक्ष्य-प्राप्ति ही है, क्योकि इन सकेतो द्वारा कृष्ण को प्रारम्भ से ही लोकहित मे लीन दिखाकर कवि ने उन्हें आदर्श मानव, जन-सेवी नेता, लोकोपकारी महात्मा आदि रूपो मे चित्रित किया है और कृष्ण की इन्हीं विशेषताओ को अपनाते हुए राधा को भी लोक-सेविका, विश्व-प्रेमिका एव व्रजजन की आराध्या देवी के रूप मे अकित किया है। अतः लक्ष्य-प्राप्ति या 'कार्य'-सिद्धि की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' एक सुन्दर प्रबध काव्य है।

---

१ प्रियप्रवास, ८।२३
२. वही ११।५५
३. वही १२।७२

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व—अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' कैसा प्रबंधकाव्य है तथा वह महाकाव्य है अथवा नहीं। पहले तो प्रायः प्रबंधकाव्य के दो भेद ही माने जाते थे—खंड काव्य तथा महाकाव्य। परन्तु अब युग की प्रगति के साथ-साथ काव्य की भी विशेष प्रगति हुई है और काव्य ने भी अनेक करवटें बदलते हुए नानारूपों में व्यक्त होना सीख लिया है। अब काव्य के इसी बदलते हुए रूप को देखकर तथा इन बदलती हुई परिस्थितियों का अनुशीलन करके आचार्यों ने भी काव्य के उन भेदों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य-ग्रन्थों का निर्माण होने के उपरान्त ही लक्षण-ग्रंथ बनते हैं। इसी कारण आज नवीनतम लक्षण-ग्रंथों में प्रबंधकाव्य के सात रूप बताए गए हैं—(१) महाकाव्य, (२) खंडकाव्य, (३) एकार्थ काव्य, (४) गीतिकथा, (५) मुक्तक प्रबन्ध, (६) नाट्य प्रगीत और (७) आत्मचरित।[1] इनमें से महाकाव्य एवं खण्डकाव्य की चर्चा तो सभी साहित्य-शास्त्रों में मिल जाती है। एकार्थ काव्य ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमें महाकाव्य के सदृश न तो पंच संधियों का विधान होता है और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है। कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यंजना की ओर अधिक रहता है। गीतिकथा से तात्पर्य अंग्रेजी बैलेड (Ballad) से है अर्थात् गीति कथा वे सरल कथायें कहलाती हैं, जो गीत के रूप में लिखी जाती हैं। उनमें सामान्यतः भावों को उद्दीप्त करने वाले ऐसे-ऐसे लघु गीतों की योजना की जाती है, जिसमें पूरा कथानक रहता है। ये गीति-कथायें कई प्रकार की मिलती हैं—जैसे, कथाहीन नृत्य-गीत, वाद्यात्मक समवेत रूप से गाने योग्य नृत्य-गीत आदि। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये गीति-कथायें ही महाकाव्य या खण्डकाव्यों का प्रारम्भिक रूप हैं। इनका ही क्रमिक विकसित रूप खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप में दिखाई देता है। मुक्तक-प्रबंध ऐसे प्रबंधकाव्य को कहते हैं, जो मुक्तक छन्दों में लिखा जाता है, परन्तु उन छंदों का संकलन इस तरह से किया जाता है कि जिससे एक कथा सी बन जाती है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का उद्धव-शतक इसी तरह का मुक्तक-प्रबंध है। नाट्य प्रगीत से तात्पर्य ऐसे प्रबंधात्मक काव्यों से है, जिनमें छन्दोबद्ध आत्मचरित लिखा जाता है और जिन्हें कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी का 'द्वापर' ऐसा ही नाट्य-प्रगीत है, जिसमें

---

१. समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ७९

भूमि की सेवा, परोपकार, हितसाधना एव सुख-शान्ति के प्रसार मे तल्लीन चित्रित किया है। अत 'प्रियप्रवास' की सम्पूर्ण कथा 'कार्य' की दृष्टि से पूर्णतया सुसगठित एवं सुसम्बद्ध दिखाई देती है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रियप्रवास' मे प्रबधात्मकता है, उसकी सारी कथा सुन्दरता के साथ नियोजित है तथा उसमे कथा का क्रमिक विकास विद्यमान है। उसकी कथा मे मुक्तक काव्य की तरह पूर्वापर सम्बन्ध कही भी विच्छेद नही हुआ है, अपितु अन्य पूर्वघटित प्रासगिक कथाओ को भी "आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का सग छोड़ो ·· जो ऊवी हैं कथन पहले हूँ उसी का सुनाता"[1] अथवा "निज मनोहर-भाषण वृद्ध ने, जव समाप्त किया बहुमुग्ध हो। अपर एक प्रतिष्ठित गोप यो, तव लगा कहने सु-गुणावली"[2] या "समाप्त ज्यो ही इस यूथ ने किया, अतीव प्यारे अपने प्रसग को। लगा सुनाने उस काल ही उन्हें, स्वकीय वातें फिर अन्य गोप यो"[3] आदि कहकर परस्पर सम्बद्ध करने का अच्छा प्रयत्न किया है। यद्यपि इस प्रणाली को अपनाने के कारण पाठक ऊव जाते हैं, क्योकि एक गोप या आभीर अपनी वात समाप्त करता नही कि तुरन्त ही दूसरा गोप रगमंच पर आ धमकता है और अपनी गाथा सुनाने लग जाता है, इससे लगातार भाषणो के सुनने से जैसे सर-दर्द होने लगता है, वही दशा इन गाथाओ को सुनते-सुनते भी हो जाती है, फिर भी कवि ने कथाओ को सुसम्बद्ध करके मुख्य कथा से जोडने का अच्छा प्रयत्न किया है और इन कथाओ द्वारा लोकहित, लोकोपकार, विश्व-प्रेम, समाज-सुधार आदि का वातावरण बनाते हुए कृष्ण के आदर्श जीवन की ओर अच्छा सकेत किया है। यहाँ कवि ने नाटकीय प्रणाली को अपनाते हुए सकेतो द्वारा ही कृष्ण के चरित्र का उद्घाटन किया है, परन्तु इसका कारण भी 'कार्य' की लक्ष्य-प्राप्ति ही है, क्योकि इन सकेतो द्वारा कृष्ण को प्रारम्भ से ही लोकहित मे लीन दिखाकर कवि ने उन्हे आदर्श मानव, जन-सेवी नेता, लोकोपकारी महात्मा आदि रूपो मे चित्रित किया है और कृष्ण की इन्ही विशेषताओ को अपनाते हुए राधा को भी लोक-सेविका, विश्व-प्रेमिका एव व्रजजन की आराध्या देवी के रूप मे अकित किया है। अत लक्ष्य-प्राप्ति या 'कार्य'-सिद्धि की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' एक सुन्दर प्रवध काव्य है।

---

१. प्रियप्रवास, ८।२३

२ वही ११।५५

३. वही १२।७२

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व—अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' कैसा प्रबंधकाव्य है तथा वह महाकाव्य है अथवा नहीं। पहले तो प्रायः प्रबंधकाव्य के दो भेद ही माने जाते थे—खंड काव्य तथा महाकाव्य। परन्तु अब युग की प्रगति के साथ-साथ काव्य की भी विशेष प्रगति हुई है और काव्य ने भी अनेक करवटें बदलते हुए नानारूपों मे व्यक्त होना सीख लिया है। अब काव्य के इसी बदलते हुए रूप को देखकर तथा इन बदलती हुई परिस्थितियों का अनुशीलन करके आचार्यों ने भी काव्य के उन भेदों का वर्गीकरण एवं विश्लेषण करना प्रारम्भ कर दिया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य-ग्रन्थो का निर्माण होने के उपरान्त ही लक्षण-ग्रंथ बनते हैं। इसी कारण आज नवीनतम लक्षण-ग्रंथो मे प्रबंधकाव्य के सात रूप बताए गए है :—(१) महाकाव्य, (२) खंडकाव्य, (३) एकार्थ काव्य, (४) गीतिकथा, (५) मुक्तक प्रबन्ध, (६) नाट्य प्रगीत और (७) आत्मचरित।[१] इनमे से महाकाव्य एवं खण्डकाव्य की चर्चा तो सभी साहित्य-शास्त्रो मे मिल जाती है। एकार्थ काव्य ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमे महाकाव्य के सदृश न तो पंच संधियो का विधान होता है और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है। कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यंजना की ओर अधिक रहता है। गीतिकथा से तात्पर्य अंग्रेजी बैलेड (Ballad) से है अर्थात् गीति कथा वे सरल कथायें कहलाती हैं, जो गीत के रूप मे लिखी जाती हैं। उनमे सामान्यतः भावो को उद्दीप्त करने वाले ऐसे-ऐसे लघु गीतो की योजना की जाती है, जिसमे पूरा कथानक रहता है। ये गीति-कथायें कई प्रकार की मिलती हैं—जैसे, कथाहीन नृत्य-गीत, वाद्यात्मक समवेत रूप से गाने योग्य नृत्य-गीत आदि। कुछ विद्वानों का विचार है कि ये गीति-कथायें ही महाकाव्य या खण्डकाव्यों का प्रारम्भिक रूप हैं। इनका ही क्रमिक विकसित रूप खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप मे दिखाई देता है। मुक्तक-प्रबंध ऐसे प्रबंधकाव्य को कहते हैं, जो मुक्तक छन्दो मे लिखा जाता है, परन्तु उन छंदो का संकलन इस तरह से किया जाता है कि जिससे एक कथा सी बन जाती है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का उद्धव-शतक इसी तरह का मुक्तक-प्रबंध है। नाट्य प्रगीत से तात्पर्य ऐसे प्रबंधात्मक काव्यो से है, जिनमे छन्दोबद्ध आत्मचरित लिखा जाता है और जिन्हे कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप मे अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी का 'द्वापर' ऐसा ही नाट्य-प्रगीत है, जिसमे

---

१. समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ७१

भूमि की सेवा, परोपकार, हितसाधना एव सुख-शान्ति के प्रसार मे तल्लीन चित्रित किया है। अत 'प्रियप्रवास' की सम्पूर्ण कथा 'कार्य' की दृष्टि से पूर्णतया सुसगठित एव सुसम्बद्ध दिखाई देती है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रियप्रवास' मे प्रबधात्मकता है, उसकी सारी कथा सुन्दरता के साथ नियोजित है तथा उसमे कथा का क्रमिक विकास विद्यमान है। उसकी कथा मे मुक्तक काव्य की तरह पूर्वापर सम्बन्ध कहीं भी विच्छेद नही हुआ है, अपितु अन्य पूर्वघटित प्रासगिक कथाओ को भी "आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का सग छोडो ....जो ऊबी हैं कथन पहले हूँ उसी का सुनाता"[1] अथवा "निज मनोहर-भाषण वृद्ध ने, जब समाप्त किया बहुमुग्ध हो। अपर एक प्रतिष्ठित गोप यो, तब लगा कहने सु-गुणावली"[2] या "समाप्त ज्यो ही इस यूथ ने किया, अतीव प्यारे अपने प्रसग को। लगा सुनाने उस काल ही उन्हें, स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यो"[3] आदि कहकर परस्पर सम्बद्ध करने का अच्छा प्रयत्न किया है। यद्यपि इस प्रणाली को अपनाने के कारण पाठक ऊब जाते हैं, क्योकि एक गोप या आभीर अपनी बात समाप्त करता नही कि तुरन्त ही दूसरा गोप रगमच पर आ धमकता है और अपनी गाथा सुनाने लग जाता है, इससे लगातार भाषणो के सुनने से जैसे सर-दर्द होने लगता है, वही दशा इन गाथाओ को सुनते-सुनते भी हो जाती है, फिर भी कवि ने कथाओ को सुसम्बद्ध करके मुख्य कथा से जोडने का अच्छा प्रयत्न किया है और इन कथाओ द्वारा लोकहित, लोकोपकार, विश्व-प्रेम, समाज-सुधार आदि का वातावरण बनाते हुए कृष्ण के आदर्श जीवन की ओर अच्छा सकेत किया है। यहाँ कवि ने नाटकीय प्रणाली को अपनाते हुए सकेतो द्वारा ही कृष्ण के चरित्र का उद्घाटन किया है, परन्तु इसका कारण भी 'कार्य' की लक्ष्य-प्राप्ति ही है, क्योकि इन सकेतो द्वारा कृष्ण को प्रारम्भ से ही लोकहित मे लीन दिखाकर कवि ने उन्हे आदर्श मानव, जन-सेवी नेता, लोकोपकारी महात्मा आदि रूपो मे चित्रित किया है और कृष्ण की इन्हीं विशेषताओ को अपनाते हुए राधा को भी लोक-सेविका, विश्व-प्रेमिका एवं व्रजजन की आराध्या देवी के रूप मे अकित किया है। अत. लक्ष्य-प्राप्ति या 'कार्य'-सिद्धि की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' एक सुन्दर प्रबध काव्य है।

---

१. प्रियप्रवास, ८।२३
२. वही ११।५५
३. वही १२।७२

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व—अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' कैसा प्रबधकाव्य है तथा वह महाकाव्य है अथवा नहीं। पहले तो प्राय: प्रबधकाव्य के दो भेद ही माने जाते थे—खड काव्य तथा महाकाव्य। परन्तु अब युग की प्रगति के साथ-साथ काव्य की भी विशेष प्रगति हुई है और काव्य ने भी अनेक करवटें बदलते हुए नानारूपों मे व्यक्त होना सीख लिया है। अब काव्य के इसी बदलते हुए रूप को देखकर तथा इन बदलती हुई परिस्थितियो का अनुशीलन करके आचार्यों ने भी काव्य के उन भेदो का वर्गीकरण एव विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य-ग्रन्थो का निर्माण होने के उपरान्त ही लक्षण-ग्रथ बनते हैं। इसी कारण आज नवीनतम लक्षण-ग्रथो मे प्रबधकाव्य के सात रूप बताए गए है :—(१) महाकाव्य, (२) खडकाव्य, (३) एकार्थ काव्य, (४) गीतिकथा, (५) मुक्तक प्रबन्ध, (६) नाट्य प्रगीत और (७) आत्मचरित।[१] इनमे से महाकाव्य एव खण्डकाव्य की चर्चा तो सभी साहित्य-शास्त्रो मे मिल जाती है। एकार्थ काव्य ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमे महाकाव्य के सदृश न तो पच सधियों का विधान होता है और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है। कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यजना की ओर अधिक रहता है। गीतिकथा से तात्पर्य अग्रेजी बैलेड (Ballad) से है अर्थात् गीति कथा वे सरल कथायें कहलाती हैं, जो गीत के रूप मे लिखी जाती हैं। उनमे सामान्यत भावो को उद्दीप्त करने वाले ऐसे-ऐसे लघ गीतो की योजना की जाती है, जिसमे पूरा कथानक रहता है। ये गीति-कथायें कई प्रकार की मिलती हैं—जैसे, कथाहीन नृत्य-गीत, वाद्यात्मक समवेत रूप से गाने योग्य नृत्य-गीत आदि। कुछ विद्वानो का विचार है कि ये गीति-कथायें ही महाकाव्य या खण्डकाव्यो का प्रारम्भिक रूप हैं। इनका ही क्रमिक विकसित रूप खडकाव्य या महाकाव्य के रूप मे दिखाई देता है। मुक्तक-प्रबध ऐसे प्रबंधकाव्य को कहते हैं, जो मुक्तक छन्दो मे लिखा जाता है, परन्तु उन छदो का सकलन इस तरह से किया जाता है कि जिससे एक कथा सी बन जाती है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का उद्धव-शतक इसी तरह का मुक्तक-प्रबध है। नाट्य प्रगीत से तात्पर्य ऐसे प्रबधात्मक काव्यो से है, जिनमे छन्दोबद्ध आत्मचरित लिखा जाता है और जिन्हे कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप मे अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी का 'द्वापर' ऐसा ही नाट्य-प्रगीत है, जिसमे

---

१. समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ७६

भूमि की सेवा, परोपकार, हितसाधना एव सुख-शान्ति के प्रसार मे तल्लीन चित्रित किया है। अत. 'प्रियप्रवास' की सम्पूर्ण कथा 'कार्य' की दृष्टि से पूर्णतया सुसगठित एवं सुसम्बद्ध दिखाई देती है।

निष्कर्ष यह है कि 'प्रियप्रवास' में प्रबधात्मकता है, उसकी सारी कथा सुन्दरता के साथ नियोजित है तथा उसमे कथा का क्रमिक विकास विद्यमान है। उसकी कथा मे मुक्तक काव्य की तरह पूर्वापर सम्बन्ध कही भी विच्छेद नही हुआ है, अपितु अन्य पूर्वघटित प्रासगिक कथाओ को भी "आगे आओ सहृदय जनो, वृद्ध का सग छोडो' ...जो ऊबी हैं कथन पहले हूँ उसी का सुनाता"[1] अथवा "निज मनोहर-भाषण वृद्ध ने, जब समाप्त किया बहुमुग्ध हो। अपर एक प्रतिष्ठित गोप यो, तब लगा कहने सु-गुणावली"[2] या "समाप्त ज्यो ही इस यूथ ने किया, अतीव प्यारे अपने प्रसग को। लगा सुनाने उस काल ही उन्हें, स्वकीय बातें फिर अन्य गोप यो"[3] आदि कहकर परस्पर सम्बद्ध करने का अच्छा प्रयत्न किया है। यद्यपि इस प्रणाली को अपनाने के कारण पाठक ऊब जाते हैं, क्योकि एक गोप या आभीर अपनी बात समाप्त करता नही कि तुरन्त ही दूसरा गोप रगमच पर आ धमकता है और अपनी गाथा सुनाने लग जाता है, इससे लगातार भाषणो के सुनने से जैसे सर-दर्द होने लगता है, वही दशा इन गाथाओ को सुनते-सुनते भी हो जाती है, फिर भी कवि ने कथाओ को सुसम्बद्ध करके मुख्य कथा से जोडने का अच्छा प्रयत्न किया है और इन कथाओ द्वारा लोकहित, लोकोपकार, विश्व-प्रेम, समाज-सुधार आदि का वातावरण बनाते हुए कृष्ण के आदर्श जीवन की ओर अच्छा सकेत किया है। यहाँ कवि ने नाटकीय प्रणाली को अपनाते हुए सकेतो द्वारा ही कृष्ण के चरित्र का उद्घाटन किया है, परन्तु इसका कारण भी 'कार्य' की लक्ष्य-प्राप्ति ही है, क्योकि इन सकेतो द्वारा कृष्ण को प्रारम्भ से ही लोकहित मे लीन दिखाकर कवि ने उन्हे आदर्श मानव, जन-सेवी नेता, लोकोपकारी महात्मा आदि रूपो मे चित्रित किया है और कृष्ण की इन्हीं विशेषताओ को अपनाते हुए राधा को भी लोक-सेविका, विश्व-प्रेमिका एव व्रजजन की आराध्या देवी के रूप मे अकित किया है। अत. लक्ष्य-प्राप्ति या 'कार्य'-सिद्धि की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' एक सुन्दर प्रबध काव्य हैं।

---

१. प्रियप्रवास, ८।२३

२. वही ११।५५

३. वही १२।७२

'प्रियप्रवास' का महाकाव्यत्व—अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' कैसा प्रबधकाव्य है तथा वह महाकाव्य है अथवा नहीं। पहले तो प्रायः प्रबधकाव्य के दो भेद ही माने जाते थे—खड काव्य तथा महाकाव्य। परन्तु अब युग की प्रगति के साथ-साथ काव्य की भी विशेष प्रगति हुई है और काव्य ने भी अनेक करवटें बदलते हुए नानारूपो मे व्यक्त होना सीख लिया है। अब काव्य के इसी बदलते हुए रूप को देखकर तथा इन बदलती हुई परिस्थितियो का अनुशीलन करके आचार्यों ने भी काव्य के उन भेदों का वर्गीकरण एव विश्लेषण करना आरम्भ कर दिया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि लक्ष्य-ग्रन्थो का निर्माण होने के उपरान्त ही लक्षण-ग्रथ बनते हैं। इसी कारण आज नवीनतम लक्षण-ग्रथो मे प्रबधकाव्य के सात रूप बताए गए है—(१) महाकाव्य, (२) खडकाव्य, (३) एकार्थ काव्य, (४) गीतिकथा, (५) मुक्तक प्रबन्ध, (६) नाट्य प्रगीत और (७) आत्मचरित।[1] इनमे से महाकाव्य एव खण्डकाव्य की चर्चा तो सभी साहित्य-शास्त्रो में मिल जाती है। एकार्थ काव्य ऐसे काव्य को कहते हैं जिसमे महाकाव्य के सदृश न तो पच सधियों का विधान होता है और न उनकी कथा अति विस्तृत होती है। कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भावव्यजना की ओर अधिक रहता है। गीतिकथा से तात्पर्य अग्रेजी बैलेड (Ballad) से है अर्थात् गीति कथा वे सरल कथायें कहलाती हैं, जो गीत के रूप मे लिखी जाती हैं। उनमे सामान्यतः भावो को उद्दीप्त करने वाले ऐसे-ऐसे लघु गीतो की योजना की जाती है, जिसमे पूरा कथानक रहता है। ये गीति-कथायें कई प्रकार की मिलती हैं—जैसे, कथाहीन नृत्य-गीत, वाद्यात्मक समवेत रूप से गाने योग्य नृत्य-गीत आदि। कुछ विद्वानो का विचार है कि ये गीति-कथायें ही महाकाव्य या खण्डकाव्यों का प्रारम्भिक रूप हैं। इनका ही क्रमिक विकसित रूप खंडकाव्य या महाकाव्य के रूप मे दिखाई देता है। मुक्तक-प्रबध ऐसे प्रबधकाव्य को कहते हैं, जो मुक्तक छन्दो मे लिखा जाता है, परन्तु उन छदो का सकलन इस तरह से किया जाता है कि जिससे एक कथा सी बन जाती है। जगन्नाथदास 'रत्नाकर' का उद्धव-शतक इसी तरह का मुक्तक-प्रबंध है। नाट्य प्रगीत से तात्पर्य ऐसे प्रबधात्मक काव्यो से है, जिनमे छन्दोबद्ध आत्मचरित लिखा जाता है और जिन्हे कथा के पात्र आत्मानुभव या आत्मभावना के रूप मे अभिव्यक्त करते हैं। गुप्त जी का 'द्वापर' ऐसा ही नाट्य-प्रगीत है, जिसमे

---

१ समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ७९

कृष्ण, यशोदा, नारद आदि स्वय अपने मनोभावो को प्रकट करते हैं ।[1] 'आत्म-चरित' से अभिप्राय काव्य रूप मे लिखे हुए अपने जीवन-चरित्र से है । यह विधा भी वडी तीव्र गति से अग्रसर होती हुई दिखाई दे रही है । वैसे इसका श्रीगणेश 'प्रसाद' आदि कवियो के समय मे ही हो गया था, क्योकि प्रेमचन्द जी ने सन् १९३२ ई० मे हस का एक विशेषाक निकाला था, जिसमे सभी लेखको के आत्मचरित दिये थे । उसके लिए प्रसाद जी ने 'आत्मकथा' शीर्षक देकर २२ पक्तियो मे अपना सक्षिप्त आत्मचरित लिखा था ।[2]

अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' की गणना प्रबधकाव्य के उक्त भेदो मे से किसमे की जा सकती है। उक्त सात भेदो मे से यह गीतिकथा तो है नही, क्योकि वहाँ बैलेड की भाँति कथा का न तो प्रारम्भिक रूप है और न यह कोरा भावोद्दीपक गीतरूप ही है, अपितु यह एक सर्गबद्ध विस्तृत रचना है । इसे मुक्तक-प्रबध भी नही कहा जा सकता, क्योकि यहाँ उद्धव-शतक की तरह मुक्तक-छन्दो को क्रम-बद्ध रूप मे सकलित नही किया गया है, अपितु सारी कथा पूर्वापर सबध रखने वाले छन्दो मे लिखी गई है । यह नाट्य-प्रगीत भी नही है, क्योकि 'द्वापर' काव्य की तरह यहाँ सभी पात्र अपने-अपने मनोभावो को प्रकट करते हुए अवतीर्ण नही होते । इसके अतिरिक्त यह कोरा पद्य बद्ध आत्मचरित भी नही है । अब शेष भेदों मे से महाकाव्य, खडकाव्य एव एकार्थकाव्य रह जाते हैं, जिन पर हमे विशेष रूप से विचार करना है ।

सर्वप्रथम खडकाव्य को लेते हैं । खडकाव्य के बारे मे आचार्यो का विचार है कि उसमे काव्य के एक अश का अनुसरण किया जाता है । उसमे जीवन के किसी एक अग, किसी एक घटना या किसी एक कथा का वर्णन रहता है, जो स्वत पूर्ण होता है । जैसे मेघदूत, जयद्रथ-वध आदि ।[3] इस दृष्टि से विचार करने पर 'प्रियप्रवास' मे कृष्णजी के मथुरा-गमन पर ब्रज के लोगो की करुण दशा का ही वर्णन किया गया है । केवल एक इसी घटना को विस्तारपूर्वक १७ सर्गो मे वर्णन करके कवि ने उसे तूल दे दिया है । अत इसमे कृष्ण के जीवन की एक ही घटना का वर्णन होने के कारण यह खड-काव्य दिखाई देता है । यह दूसरी बात है कि कृष्ण के जीवन से सबधित अन्य घटनाओ को पात्रो के मुख से कहलवाकर कथा की सूच्य प्रणाली को अपनाते

१. समीक्षा-शास्त्र—डा० दशरथ ओझा, पृ० ८०–८१
२ हस-मासिक पत्र, जनवरी-फरवरी १९३२ ई०
३ काव्य-दर्पण, पृ० ३२७

हुए कवि ने उसमे अन्य कथाओ का समावेश कर दिया है। परन्तु ये कथायें स्मृति रूप मे आई हैं, जिनको घटित नही दिखाया गया है और जो उसी एक घटना के प्रसग मे सकलित की गई हैं। इस कारण कथानक की लघुता, जीवन के एक अग का वर्णन और केवल एक घटना का ही उल्लेख होने से इसे खडकाव्य के अतिरिक्त और कुछ नही कहा जा सकता। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तो इसके कथानक को एक प्रबंध काव्य के लिए भी समुचित नही समझते। उन्होंने इसी कारण लिखा है—"इसकी कथावस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबध काव्य के लिए भी अपर्याप्त है। अत॰ प्रबध काव्य के सब अवयव इसमे कहाँ आ सकते ? किसी के वियोग मे कैसी-कैसी बातें मन मे उठती हैं और क्या-क्या कहकर लोग रोते हैं, इसका जहाँ तक विस्तार हो सका है, किया गया है।"[१] यहाँ कथा की लघुता खडकाव्य के अनुकूल तो सर्वथा जान पडती है, परन्तु खडकाव्य मे जिस तरह काव्य के एक अश का ही अनुसरण किया जाता है, वह बात यहाँ नही है। यहाँ चरित्र-चित्रण, प्रकृति-चित्रण एव वस्तु-वर्णन भी अपेक्षाकृत विस्तृत हैं और यहाँ काव्यगत विविधता है यहाँ कथा यद्यपि लघु है, तथापि उसे तूल देकर ही सही, विस्तृत बनाने का स्तुत्य प्रयत्न किया गया है। इतना ही नही स्मृति रूप मे कही गई कथायें भी विभिन्न घटना-वचित्र्यो से परिपूर्ण हैं। इसलिए इसे खडकाव्य नही कहा जा सकता, अपितु खडकाव्य से विस्तृत किसी विधा मे इसकी गणना की जा सकती है।

अब प्रबधकाव्य का एक विस्तृत रूप 'एकार्थ काव्य' के नाम से भी अभिहित होने लगा है। एकार्थ काव्य का एक लक्षण ऊपर दिया जा चुका है। इसके अतिरिक्त प० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि "कोई-प्रबंध काव्य महाकाव्य की प्रणाली पर तो लिखा जाता है, किन्तु उसमे महाकाव्य के लक्षण नही होते और न उसमे उसके ऐसा वस्तु-विस्तार ही देखा जाता है। एक कथा का निरूपक होने से यह एकार्थक काव्य भी कहा जाता है। यह भी सर्ग बद्ध होता है। जैसे, 'प्रियप्रवास', साकेत, कामायनी आदि।"[२] इस आधार पर आपने 'प्रियप्रवास' को एकार्थ काव्य कहा है। प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने भी लिखा है कि "एकार्थ काव्य मे कथा प्रवाह मे मोड कम होते हैं। गगावतरण, प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी वस्तुत. एकार्थ काव्य हैं।[३] एकार्थ-

१. हिन्दी-साहित्य का इतिहास, पृ० ६०८ (सातवाँ सस्करण)
२ काव्य दर्पण, पृ० ३२७
३ वाङ्मय विमर्श, पृ० ४५

काव्य की उक्त कसौटियो पर कसकर यदि हम 'प्रियप्रवास' को देखें तो पता चलेगा कि डा० दशरथ ओझा ने एकार्थ काव्य मे पच सधियो के विधान का न होना स्वीकार किया है,[१] परन्तु यहाँ हम पहले ही देख चुके हैं कि 'प्रियप्रवास' में पाचो सधियाँ विद्यमान हैं तथा सारी कथा पच सधियो, पच कार्यावस्थाओ एव पच अर्थप्रकृतियो के अनुकूल नियोजित है। दूसरे आपने लिखा कि हैं कि एकार्थ काव्य मे कथा की गति ऋजु होती है और कवि का ध्यान कथा की अपेक्षा भाव-व्यजना की ओर अधिक रहता है।'[२] 'प्रियप्रवास' मे कथा मे एकरसता होने के कारण उसकी गति तो ऋजु है और कवि भाव-व्यजना मे लीन रहा है, परन्तु कवि ने उसमे मोड प्रस्तुत करते हुए गति भी प्रदान की है। जैसे, स्मृति रूप मे कृष्ण के जीवन की लोकहितकारी कथाओ का वर्णन करके कवि ने कथा की ऋजुता को परिवर्तित करने की भी चेष्टा की है, उद्धव-गोपी-सवाद भी कथा मे नवीन मोड उपस्थित कर देता है और राधा-उद्धव-सवाद ने भी कथा मे एक नवीन वक्रता प्रदान की है। प० रामदहिन मिश्र ने लिखा है कि एकार्थ काव्य में महाकाव्य के लक्षण ही नही होते। आप यहाँ देखेंगे कि 'प्रियप्रवास' मे महाकाव्य के प्राचीन लक्षण तो सभी पूर्ण रूपेण विद्यमान हैं। आगमी पृष्ठो मे उनका उल्लेख विस्तार के साथ किया जायेगा।

डा० गुलाबराय ने उक्त एकार्थ काव्य सबधी धारण का निराकरण करते हुए स्पष्ट लिखा है—"प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने 'प्रियप्रवास' और 'साकेत' दोनो को ही साहित्य की एक नई विधा एकार्थ काव्य के अन्तर्गत रखा है। विस्तार और मोड का प्रश्न सापेक्षित है, अप्रत्याशित मोडो के लिए कल्पित कथानको मे अधिक गुजाइश रहती है। कृष्ण कथा इतनी प्रचलित है कि उसमे मोडो की सम्भावना नही रहती। सर्गों और छन्दो की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' मे महाकाव्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है। उसमे महाकाव्य के वर्ण्य विषय भी प्राय सभी आ गये हैं।"[३] आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी ने भी प्रियप्रवास को महाकाव्य मानते हुए अन्य काव्यो मे इसे उच्च स्थान प्रदान किया है।[४] प० रामाशकर शुक्ल 'रसाल' ने भी 'प्रियप्रवास' को

---

१ समीक्षा-शास्त्र, पृ० ८०

२. वही, पृ० ८०

३ काव्य के रूप, पृ० ९२

४ महाकवि हरिऔध, पृ० ८-९

महाकाव्य-मानते हुए तथा उसकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है—"खडी बोली मे ऐसा सुन्दर, प्रशस्त, काव्यगुण-सम्पन्न और उत्कृष्ट काव्य आज तक दूसरा निकला ही नही। हम इसे खडी बोली के कृष्ण काव्य का सर्वोत्तम प्रतिनिधि कह सकते हैं। वर्णनात्मक काव्य होकर यह चित्रोपम, सजीव, रोचक तथा रसपूर्ण है।"[1] प० लोचनप्रसाद पाडेय ने तो यहाँ तक लिखा है—"यह महाकाव्य अनेक रसो का आवास, विश्व-प्रेम-शिक्षा का विकास, ज्ञान, वैराग, भक्ति और प्रेम का प्रकाश एवं भारतीय वीरता, धीरता, गम्भीरतापूरित स्वधर्मोद्धार का पथ-प्रदर्शक काव्यामृतोच्छ्वास है।"[2] पडित श्रीधर पाठक ने तो इसे महाकाव्य स्वीकार करके इसी के छन्दो मे अपने उद्गार व्यक्त करते हुए लिखा है—

"यह अवश्य कवे! तव होइगी,
कृति महाकवि-कीर्ति-प्रदायिनी।"[3]

इतना ही नहीं डा० प्रतिपालसिंह का तो मत यहाँ तक है कि 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति के महाप्रवाह का उद्घाटन भली प्रकार हुआ है तथा महच्चरित्र के विराट् उत्कर्ष के प्रकटीकरण करने का यहाँ विराट् आयोजन किया गया है। इसी कारण यह काव्य महाकाव्यो की श्रेणी मे स्थान पाने का अधिकारी है।"[4] अत· उक्त सभी तर्कों एवं मान्यताओ के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' न तो खडकाव्य है और न एकार्थ काव्य, अपितु नई शैली, नवीन विचारधारा एव नवीन युग की मान्यताओ का एक नवीन महाकाव्य है।

प्राय: महाकाव्य का निर्माण युगयुगान्तर की चिर सचित विचारधारा को लेकर होता है, उससे भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सुस्पष्ट चित्र अकित किये जाते हैं तथा वह भव्य, महान् एव गरिमामय शैली मे किसी देश एव वर्ग की मान्यताओ को प्रस्तुत करता हुआ वहाँ की सस्कृति, सभ्यता, कला-कौशल, सौन्दर्य आदि का प्रतीक होता है। इसके बारे मे पाश्चात्य एव पौरस्त्य विद्वानो ने पर्याप्त विचार किया है और विचार किया जा रहा है। युग की

---

१. महाकवि हरिऔध, पृ० ३६१
२ वही, पृ० १०–११
३ वही, पृ० ८।
४ बीसवीं शताब्दी के महाकाव्य, पृ० १००-१०१

परिवर्तित विचारधारा के अनुसार महाकाव्य की मान्यताओं मे भी पर्याप्त परिवर्तन एव परिवर्द्धन होते चले आ रहे हैं और होंगे। परन्तु महाकाव्यकार कभी उन मान्यताओ, नियमो, सिद्धान्तो, लक्षणो एव उपादनो से नियन्त्रित नही होंगे। वे सदैव अपने विचारो के अनुकूल अपनी-प्रतिभा द्वारा ऐसे-ऐसे महाकाव्यों का निर्माण करते रहेंगे, जिन पर किसी एक युग एव किसी एक काल के सुनिश्चित नियम लागू नही हो सकेंगे। अत महाकाव्य के लिए कोई सर्वमान्य नियम निश्चित करना नितान्त भूल है। फिर भी अब तक की प्रगतिशील विचारधारा के अनुसार महाकाव्य के लिए विद्वानो ने कुछ आवश्यक तत्व निश्चित किये हैं, जिनके आधार पर किसी रचना का मूल्याकन किया जा सकता है, उसके गुण-दोषो का विवेचन किया जा सकता है और अपनी कोई राय अस्थायी तौर पर निश्चित की जा सकती है। महाकाव्य के वे आवश्यक तत्व निम्नलिखित हैं —

(१) कथानक—महाकाव्य का कथानक इतिहास सम्मत, विस्तृत एव महान हो। उसमे अधिकाश यथार्थ घटनाओ का वर्णन हो और यदि कुछ कल्पित घटनायें भी हो, तो वे अस्वाभाविक न होकर सत्य सी प्रतीत हो। सभी प्रासगिक कथायें मुख्य कथा से सुसम्बद्ध हों तथा उसमे लौकिक एव पारलौकिक तत्वो का समावेश हो। समस्त कथानक कार्यान्विति से युक्त, सुसघटित एव जीवन्त हो और सधि-सध्यग युक्त आरम्भ, मध्य एव अवसान से परिपूर्ण हो।

(२) चरित्र-चित्रण—महाकाव्य का नायक देवता, उच्चकुलोद्भव या सच्चरित्र महान् व्यक्ति हो। वह चतुर, उदात्त, वीर एव जातीय जीवन की समग्र विशेषताओ से परिपूर्ण हो, क्योकि ऐसा होने से ही सहृदयो के हृदय का साधारणीकरण सुगमता से हो सकता है। उसके अतिरिक्त महाकाव्य मे आदर्श, यथार्थ एव परम्परागत पात्रों के चरित्रो का भी क्रमिक विकास दिखलाया गया हो।

(३) प्रकृति-चित्रण—महाकाव्य के अतर्गत उषा, सध्या, रजनी, विभिन्न ऋतु आदि के वर्णनो के साथ-साथ प्रकृति के रमणीक एव भयकर दोनो रूपो की भव्य झाँकी अकित हो।

(४) युग-जीवन का सम्पूर्ण चित्र—उसमे सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एव सास्कृतिक जीवन की पूरी-पूरी झलक हो तथा मानवो की पारस्परिक सहानुभति, आशा की विशालता पीडितो के कष्ट-निवारण

सम्बन्धी प्रयत्न, मानव-जीवन के त्रिकाल सत्य, मानवता, विश्वबन्धुत्व, सामाजिक संघर्ष आदि का भी विशद चित्रण हो।

(५) गंभीर भाव एवं रस-व्यंजना—उसमे प्रभावान्विति का ध्यान रखते हुए मानव-हृदयो के भावो एव रसो का उदात्त वर्णन हो, शृंगार, वीर तथा शान्त रस मे से किसी एक रस की प्रधानता हो तथा अन्य सभी रस अंगरूप मे वर्णित हो और रसोद्बोधक सभी प्रकार के सौंदर्य-चित्र अंकित हों।

(६) महत्प्रेरणा एवं महान् उद्देश्य—उसमे महत्प्रेरणा से परिपूर्ण किसी न किसी महान् उद्देश्य का निरूपण किया गया हो। भले ही वह उद्देश्य प्रत्यक्ष या उपदेशात्मक हो अथवा परोक्ष या प्रतीकात्मक हो, किन्तु उसमें महान् आदर्श विद्यमान हो।

(७) गरिमामयी उदात्त-कला—उसमे उत्कृष्ट काव्य-प्रतिभा की परिचायक गरिमामयी उदात्त एव भव्य कला का स्वरूप अंकित हो। कला की भव्यता, उदात्तता एव गरिमा के लिए निम्नलिखित बातें अपेक्षित हैं :—

(क) वह सर्ग बद्ध हो। उसमे विस्तार के लिए आठ या आठ से अधिक सर्ग हो, किन्तु वे न अधिक लम्बे और न अधिक छोटे हो, और प्रत्येक सर्ग के अन्त मे आगामी सर्ग की कथा सूचित की गई हो।

(ख) वह विवरणात्मक हो, उसका प्रारम्भ मंगलात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक या वस्तुनिर्देशात्मक हो। उसमे खल-निंदा, सज्जन-प्रशंसा हो और उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या किसी प्रमुख पात्र या प्रमुख घटना के आधार पर किया गया हो।

(ग) उसकी रचना-शैली उत्कृष्ट एव कलात्मक हो। उसमे भाव-सम्पन्न एव परिमार्जित भाषा तथा उच्चकोटि का शब्द विधान हो तथा उसमे परम्परागत-विशेषणो, मुहावरो, कथन की विभिन्न प्रणालियो, गुण रीति, ध्वनि, शब्द-शक्ति, औचित्य आदि का प्रयोग हो।

(घ) उसमे भावानुकूल एव भावोत्कर्ष विधायक अलंकारो की योजना की गई हो।

(ङ) उसमे छन्दो अथवा वृत्तो का प्रयोग सुंदर हो, वे श्रव्य तथा हत-वृत्तादि दोषो से रहित हो, उसके एक सर्ग मे एक ही छन्द हो अथवा यदि किसी एक सर्ग मे विभिन्न छंदो का भी प्रयोग हो, तो उनमे परस्पर भाव-सम्बद्धता हो।

विद्वानों की इन प्रचीन एवं नवीन मान्यताओ के आधार पर ही अब हम 'प्रियप्रवास' की समीक्षा करते हुए यह देखने की चेष्टा करेंगे कि

इन मान्यताओं का पालन इसमे कहाँ तक हुआ है और उसी आधार पर यह भी निश्चित किया जा सकेगा कि यह अपने युग का महाकाव्य होने की क्षमता रखता है अथवा नही।

(१) कथानक—'प्रियप्रवास' का कथानक प्रख्यात है, वह इतिहास-सम्मत होने के साथ-साथ महान् भी है, क्योंकि श्रीकृष्ण युगपुरुष महान् नेता लोकसेवक एव महात्मा के रूप मे यहाँ अंकित किये गये हैं, वे भारत मे अवतारी पुरुष के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। इसमे श्रीकृष्ण के जीवन की सभी लौकिक एव अलौकिक घटनाओं को यथार्थ रूप देकर चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि उनकी अतिमानवीय प्रवृत्ति को निकालकर मानव जीवन के अत्यत निकट लाने के लिए उन्हे स्वाभाविक एव बुद्धिगत बनाने की चेष्टा की गई है। यद्यपि कवि इस कार्य मे पूर्ण सफल नही हुआ है, तथापि घटनाओं की यथार्थता मे कोई सदेह नही है। सम्पूर्ण कथानक सुनियोजित कार्यावस्थाओं, सधियो एव अर्थ प्रकृतियो मे विभक्त है तथा कार्यान्विति की दृष्टि से अत्यत सुसंघटित एवं सुसम्बद्ध भी है। परन्तु वथा जीवन्त नही हो पाई है। कवि ने अपने युग की नैतिकता एव तर्कवादिता का मुलम्मा चढ़ाकर उसे अधिक प्राणवान् नही रहने दिया है। इसके अतिरिक्त जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने यह कथानक चुना है, उसमे इतनी सशक्तता एव जीवनी शक्ति दिखाई नहीं देती। उसके लिए कुछ विस्तृत कथानक अपेक्षित था परन्तु यह बात हमे कभी नही भुला देनी चाहिये कि यह युग विज्ञान एव बुद्धिवाद का है। इस काल मे घटना-प्रधान महाकाव्य की अपेक्षा विचार-प्रधान महाकाव्य लिखना अधिक उपयुक्त है। साथ ही कथानक मे अलौकिक, असभव एवं अतिमानुषिक घटनाओं का समावेश भी आज के वैज्ञानिक युग के सर्वथा विपरीत है। यही कारण है कि कवि ने कृष्ण के बाल-जीवन मे व्याप्त लोकोपकार, समाज-सेवा जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा, दुराचारी एव अत्याचारी के प्रति विद्रोह-भावना आदि का अनुशीलन करके उन्हे इस तरह चित्रित किया है कि जिससे कृष्ण का प्राचीन एव परम्परागत बाल-चरित भी अत्यत तर्कसम्मत, बुद्धि-ग्राह्य एव सभाव्य बन जाय। कवि का यह प्रयास सर्वथा प्रशसनीय है। कथानक के बारे मे विस्तारपूर्वक पहले ही विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि 'प्रियप्रवास' के कथानक मे सक्षिप्तता एव घटित व्यापारो की कमी होने पर भी भारतीय सस्कृति की उज्ज्वल झाँकी अकित है, उसमे मानव-आदर्श की समुचित प्रतिष्ठा है और युग के आदर्श का सुन्दर रूप चित्रित है। अत.—

'प्रियप्रवास' का कथानक महाकाव्य के कथानक की गुरुता, गंभीरता एवं विशदता से ओत-प्रोत है।

(२) चरित्र-चित्रण—'प्रियप्रवास' के इस विस्तृत प्रागण मे अनेक पात्र अपनी-अपनी चारित्रिक विशेषताओं के साथ अवतीर्ण होते हैं। सभी का अपना-अपना महत्व है। कोई किसी के चरित्र की विशेषता का उद्घाटन करता हुआ आता है, तो कोई अपनी व्यथा-कथा सुनाता हुआ अपने हृदयगत मनोभावो का चित्रण करता हुआ आता है। किसी के द्वारा वात्सल्य की व्यजना हो रही है, तो किसी के द्वारा दाम्पत्य प्रेम की सरस धारा बहाई जा रही है। कोई अपने प्रिय के गुणानुवाद गाता हुआ गद्‌गद् हो रहा है, तो कोई विरह की असह्य वेदना से विकल होकर विक्षिप्त सा घूमता दिखाई दे रहा है। इस तरह 'प्रियप्रवास' की इस करुणा-भूमि के विविध पात्र अपनी-अपनी विविध विशिष्टताओ के साथ व्यापारो मे लीन अकित किए गए हैं। इनमे से प्रमुख पात्र पांच हैं—श्रीकृष्ण, राधा, नन्द, यशोदा और उद्धव। इनके अतिरिक्त कितने ही बाल-वृद्ध गोप एव गोपियाँ इस काव्य मे चित्रित हैं, परन्तु कवि ने इन पात्रो को कोई प्रमुखता नहीं दी है। अतः यहाँ प्रमुख पात्रो के चरित्र-चित्रण पर ही विचार करना अधिक समीचीन होगा।

श्रीकृष्ण—हरिऔध जी ने श्री कृष्ण ने परब्रह्म रूप की चर्चा न करके उन्हें एक महात्मा पुरुष-रत्न एव लोकसेवी नेता के रूप मे अकित किया है। कृष्ण के परब्रह्म एव क्रीडा-विलासमय रूपों की चर्चा हिन्दी-साहित्य मे पर्याप्त मिलती है। हरिऔध जी ने युग के अनुकूल श्रीकृष्ण के रूप की झाँकी प्रस्तुत करते हुए उन्हे अधिक से अधिक मानव-जीवन के निकट लाने का प्रयत्न किया है और अपने विचारो के अनुकूल मानवता के चरम-विकास के रूप मे उन्हें प्रस्तुत किया है। वास्तव मे ईश्वर की कल्पना मानव के मस्तिष्क के क्रमिक विकास की सूचक है, क्योकि प्रारम्भिक मत्स्यावतार से लेकर श्रीकृष्ण के अवतार तक मानवता का क्रमिक विकास ही समझाया गया है। श्रीकृष्ण को सम्पूर्ण कलाओं का पूर्ण अवतार माना जाता है। अतः श्रीकृष्ण मानवता के पूर्ण विकास के द्योतक हैं। मानवता का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। अतः हरिऔध जी ने यहाँ उसी मानवता के चरम विकसित रूप को अकित करने के लिए श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी अकित की है। यद्यपि 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण के बालक रूप का भी यत्किंचित् वर्णन मिल जाता है, जिसमें उन्हें कुसुमोपम शैया पर पद-पकज उछालते हुए, माता यशोदा को हँस-हँस कर रिझाते हुए, अपनी दँतुलियो से हर्ष बढ़ाते हुए, आँगन मे किलकारी भरकर

इन मान्यताओ का पालन इसमे कहाँ तक हुआ है और उसी आधार पर यह भी निश्चित किया जा सकेगा कि यह अपने युग का महाकाव्य होने की क्षमता रखता है अथवा नही।

(१) कथानक—'प्रियप्रवास' का कथानक प्रख्यात है, वह इतिहास-सम्मत होने के साथ-साथ महान् भी है, क्योकि श्रीकृष्ण युगपुरुष महान् नेता लोकसेवक एव महात्मा के रूप मे यहाँ अकित किये गये हैं, वे भारत मे अवतारी पुरुष के रूप मे भी प्रसिद्ध हैं। इसमे श्रीकृष्ण के जीवन की सभी लौकिक एवं अलौकिक घटनाओ को यथार्थ रूप देकर चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि उनकी अतिमानवीय प्रवृत्ति को निकालकर मानव जीवन के अत्यत निकट लाने के लिए उन्हें स्वाभाविक एव बुद्धिगत बनाने की चेष्टा की गई है। यद्यपि कवि इस कार्य मे पूर्ण सफल नहीं हुआ है, तथापि घटनाओ की यथार्थता मे कोई सदेह नही है। सम्पूर्ण कथानक सुनियोजित कार्यावस्थाओ, सधियो एव अर्थ प्रकृतियो मे विभक्त है तथा कार्यान्विति की दृष्टि से अत्यत सुसघटित एव सुसम्बद्ध भी है। परन्तु कथा जीवन्त नही हो पाई है। कवि ने अपने युग की नैतिकता एव तर्कवादिता का मुलम्मा चढ़ाकर उसे अधिक प्राणवान् नही रहने दिया है। इसके अतिरिक्त जिस महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने यह कथानक चुना है, उसमे इतनी सशक्तता एव जीवनी शक्ति दिखाई नही देती। उसके लिए कुछ विस्तृत कथानक अपेक्षित था परन्तु यह बात हमे कभी नही भुला देनी चाहिये कि यह युग विज्ञान एव बुद्धिवाद का है। इस काल मे घटना-प्रधान महाकाव्य की अपेक्षा विचार-प्रधान महाकाव्य लिखना अधिक उपयुक्त है। साथ ही कथानक मे अलौकिक, असभव एवं अतिमानुषिक घटनाओ का समावेश भी आज के वैज्ञानिक युग के सर्वथा विपरीत है। यही कारण है कि कवि ने कृष्ण के बाल-जीवन मे व्याप्त लोकोपकार, समाज-सेवा जननी-जन्मभूमि के प्रति अटूट श्रद्धा, दुराचारी एव अत्याचारी के प्रति विद्रोह-भावना आदि का अनुशीलन करके उन्हे इस तरह चित्रित किया है कि जिससे कृष्ण का प्राचीन एव परम्परागत बाल-चरित भी अत्यत तर्कसम्मत, बुद्धि-ग्राह्य एव सभाव्य बन जाय। कवि का यह प्रयास सर्वथा प्रशसनीय है। कथानक के बारे मे विस्तारपूर्वक पहले ही विवेचन किया जा चुका है। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि 'प्रियप्रवास' के कथानक मे सक्षिप्तता एव घटित व्यापारो की कमी होने पर भी भारतीय सस्कृति की उज्ज्वल झाँकी अकित है, उसमे मानव-आदर्श की समुचित प्रतिष्ठा है और युग के आदर्श का सुन्दर रूप चित्रित है। मत.—

गोकुल-ग्राम मे पधारते हैं तब श्रीकृष्ण के मथुरा-गमन की सूचना से केवल गोकुल के प्राणी ही व्याकुल नही होते, वरन् जहाँ-जहाँ यह सूचना पहुँचती है, वहाँ वहाँ सभी प्राणी अत्यन्त व्यथित एव बेचन हो उठते है। उनके जाने की भीषण घोषणा सुनते ही गोकुल ग्राम तो विषाद मे डूब जाता है और नाना प्रकार की आशकाओं मे लीन होकर विविध तर्क-वितर्क करता हुआ बेचैन हो उठता है। नद और यशोदा की दशा भी विचित्र हो जाती है। व्रज-धरा के नाना उत्पातो का स्मरण करके तथा कस द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओ का विचार करके उनके हृदय हिल जाते हैं और वे रात भर विचारो मे डूबे रहते हैं। बरसाने मे राधा जी के घर भी जब यह सूचना पहुँचती है, तब वे भी नाना प्रकार की आशकाओ, आपत्तियो एव भयकर परिस्थियो की कल्पना करती हुई व्यथित हो उठती हैं। इतना ही नही जैसे ही श्रीकृष्ण के गमन की वेला आती है, वैसे ही क्या बाल, क्या वृद्ध, क्या गायें और क्या पक्षीगण सभी बिछोह के कारण रो पडते हैं। सारी व्रजभूमि मे ऐसी करुणा एव वेदना छा जाती है जैसे मानो व्रज के प्राण ही निकलकर कहीं जारहे हों। उस समय समस्त गोप-गोपीजन एव पशु-पक्षी श्रीकृष्ण के प्रेम मे अत्यधिक लीन होकर विलाप करते हुए अकित किये गए हैं।[1] उनकी यह विह्वल दशा, उनका यह अनन्य प्रेम एव उनकी यह आतुरता इस बात की द्योतक है कि समस्त व्रज श्रीकृष्ण को हृदय से प्यार करता है, उन्हे अपना जीवन समझता है तथा उनके ऊपर अपना सर्वस्व न्योछावर करने को प्रस्तुत रहता है।

शील की सुरम्य मूर्ति—अनुपम-रूप माधुरी एव ओजस्वितापूर्ण अलौकिक शक्ति-सम्पन्न श्रीकृष्ण शील की भी अद्वितीय मूर्ति हैं। जिस समय कस का निमत्रण पाकर अक्रूर जी के साथ आप मथुरा जाने के लिए प्रस्तुत हुए, उस समय सारी जनता अधीर होकर व्याकुल हो रही थी, उनकी उस व्याकुलता को देखकर आपने शीघ्र ही गमन करना उचित समझा और सर्वप्रथम अपनी माता यशोदा के समीप आकर उनके चरण छूये, फिर बडी धीरता के साथ कहा—"हे माता! यदि आपकी आज्ञा हो तो अब मैं यान पर जाकर बैठूँ।" माता ने जब आज्ञा दे दी, तभी आप माता के चरणो की रज लेकर, ब्राह्मणो के चरणो की वन्दना करके, बधु-बाधवो को हाथ जोडकर नमस्कार करके फिर रथ पर जाकर बैठे।[2] इस तरह श्रीकृष्ण मे

---

१ प्रियप्रवास ५।२०—७८
२. प्रियप्रवास ५।४२-४६

जननि के साथ घुटनो से रेंगते हुए, ठुमक-ठुमक कर गिरते-पड़ते चलने का अभ्यास करते हुए, माता-पिता के सम्मुख नाचते हुए बलराम तथा अन्य गोप बालको के साथ खेलते हुए आदि अकित किया है,[1] तथापि यहाँ बाल्य-जीवन की अपेक्षा किशोर एव युवा जीवन की झाँकी अधिक सजीवता के साथ अकित की गई है।

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण सर्वप्रथम हमे गोपालक धेनुवत्स के जीवनाधार, गोप-मडली के नेता एव गोचारण मे लीन गोपवेषधारी सुन्दर किशोर गोप-कुमार के रूप मे दृष्टिगोचर होते हैं। अपनी गोपमडली के मध्य शोभायमान होकर वे धेनु और बछडो को लेकर गोकुल ग्राम मे आ रहे हैं। उनकी उस अलौकिक छवि को देखने के लिए सारा गोकुलग्राम उमड पडा है। वे अपनी मधुर मुरली बजाते हुए, गायो एव गोपो के साथ अत्यन्त रमणीयता के साथ आकर सभी नर-नारियो के मन को मोहित कर रहे हैं। उनका शरीर नवल नील कुसुम जैसा सुन्दर है। सम्पूर्ण अग अत्यन्त सुडौल एव सुगठित हैं। प्रत्येक अग से सरसता एव सुकुमारता छलक रही हैं। कटि मे पीताम्बर शोभा दे रहा है। वक्षस्थल वनमाला से विभूषित है। दोनो वृषभ-स्कन्धो पर दुकूल पडा है। कानो मे श्रेष्ठ मकराकृत कुडल शोभा पा रहे हैं। सिर पर सुकुमोल अलकावलियो के मध्य मोर-मुकुट अपनी छवि विकीर्ण कर रहा है। उन्नत भाल पर केसर की खौर कान्ति बढ़ा रही है। सुकुमोल अरुण ओठो पर पीयूष-वर्षिणी मुरलिका धीरे-धीरे मधुर स्वर मे गूँजती हुई जन-मानस मे आह्लादकारिणी लहरें उठा रही है। इस तरह अत्यन्त प्रेमाकुल जनता के मध्य मे होकर अलौकिक सौंदर्य-सम्पन्न श्रीकृष्ण गोकुल ग्राम मे प्रवेश करते हुए अकित किए गए हैं। श्रीकृष्ण का यह प्रारम्भिक रूप इतना दिव्य, इतना भव्य एव इतना चित्ताकर्षक दिखाया गया है कि सारा गोकुल ग्राम उनकी इस रूप-माधुरी मे लीन हो जाता है, उनके गुणोदधि मे अवगाहन करने लगता है और विविध भाव-विमुग्ध होकर सदैव के लिए उनकी इस अलौकिक मूर्ति को अपने हृदय मे अकित कर लेता है, क्योंकि इसके उपरान्त उन्हें यह दिव्य एव अलौकिक छटा गोकुल-ग्राम मे देखने को नही मिलती।

व्रज के प्राण—श्रीकृष्ण केवल गोकुल-ग्राम के ही सर्वस्व नहीं हैं, अपितु सम्पूर्ण व्रज उन्हे अपना हृदयाधार मानता है, नेता समझता है, त्राणकर्ता जानता है और अपना प्राण मानता है। कस के निमन्त्रण को लेकर जब अक्रूर

---

१. प्रियप्रवास ८।६–६०

यदि हमने अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए स्वजाति को उबार लिया, तो हमारी जाति की रक्षा होगी, यदि हम नष्ट हो जायेंगे, तो हमारी सुकीर्ति सारे विश्व मे फैल जायेगी। इस तरह मानवता की रक्षा मे दोनो प्रकार से लाभ ही लाभ है, यहाँ कभी हानि की सभावना नही है। यही कारण है कि अपने साथियो की दुर्दशा देखकर आप प्रचड दावानल मे घुस जाते हैं, वेग-पूर्वक सभी को चमत्कृत करते हुए गोप, धेनु और बछडो को बडी युक्ति से बाहर निकाल लाते हैं और अपनी सुन्दर कीर्ति-लता को ससार मे बो देते हैं।[1] यही विशेषता उनके अन्य कार्यों मे भी है। वे अपने बन्धु-बाधवो, प्राणियो एव किसी भी असहाय व्यक्ति का सकट देखकर तुरन्त उसे दूर करने के लिए तैयार हो जाते हैं और अपने इसी मानवता-प्रेम एव लोकोपकार के कारण ब्रज-भूमि मे 'नररत्न' माने जाते हैं तथा अपनी नि स्वार्थ सेवा, सर्वभूत-हित एव प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के कारण ही जगतवद्य हो जाते हैं। उनका यह मानवता-प्रेम ही उन्हे लोकप्रिय नेता एव लोकसेवक महात्मा की कोटि मे ले जाता है और इसी कारण वे 'प्रियप्रवास' मे मानवता के चरम-विकास-स्वरूप परब्रह्मता को प्राप्त कर लेते हैं। यहाँ उनके हृदय से सकीर्णता एव एकदेशीयता पूर्णतया तिरोहित हो चुकी है और उसमे उदारता एव विश्व-बन्धुत्व के साथ-साथ उस मानवता ने घर कर लिया है, जो आत्मोन्नति का प्रबल साधन है और जिसके बल पर मानव ही ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है।

कठिन पथ के पान्थ—लोकहित एव लोक-सेवा का मार्ग अत्यन्त दुर्गम एव कठोर होता है। इस मार्ग पर वही चल सकता है, जो अपना सर्वस्व न्योछावर करके अपने सुख-दुःख, आनन्द-उल्लास, हास-परिहास की परवा नही करता और अपने प्रिय से प्रिय का परित्याग करके त्याग एव तपस्या से भरा हुआ जीवन व्यतीत कर सकता है। श्रीकृष्ण भी इस लोकहित के कठिन पथ पर चलने के लिए अनन्त स्नेह, अपार वात्सल्य एव असीम दुलार से भरे हुए नद एव यशोदा का परित्याग कर देते हैं। अपने अनन्य भक्त, विनोदशील एव सुख-दु ख के सच्चे साथी गोप-बालको को छोड देते हैं। अपनी क्रीडारस-पुत्तलिका, अनन्य प्रेमा तथा प्रणय-रस-लीना चिरसगिनी गोप-बालाओ को त्याग देते हैं। अपने हृदय की एक-मात्र आधार, बचपन से ही अनन्य प्रेम मे परम तन्मय, रमणीयता, सरलता, अतिप्रीति, सुशीलता एव विनोदप्रियता

---

१ प्रियप्रवास ११।८४–९५

शिष्टाचार, उच्चकुलोद्भव व्यक्ति जैसे सभ्य व्यवहार तथा श्रेष्ठ महापुरुष जैसे आचरण की प्रधानता है। इसी कारण आपके जीवन मे शक्ति और सौंदर्य के साथ-साथ शील भी पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है।

मानवता के पुजारी—श्रीकृष्ण अपार शक्ति, असीम शील एव अनन्त सौंदर्य से ओतप्रोत होकर भी मानवता के अनन्य पुजारी हैं। वे ससार मे इसलिए अवतीर्ण हुए हैं कि मानवता पर प्रहार करने वाली दानवता का विनाश करें, प्राणियो को सुखी बनायें और जनजीवन को सभी प्रकार की बाधाओ से मुक्त करें। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए आप शकटासुर, बकासुर, अघासुर, व्योमासुर, केशी, कस आदि दुष्टो का विनाश करते हैं, भयकर वर्षा से व्रज की रक्षा करते हैं। कालियनाग को यमुना के जल से निकालकर यमुना को पवित्र बनाते हैं, तथा जरासध आदि को सत्तहवार पराजित करते हैं। वे अपने समाज एव अपनी जाति की दुर्दशा नही देख सकते। उन्हे मनुष्यमात्र की निगर्हणा एव जन्मभूमि की दुरवस्था देखकर बड़ा ही दु ख होता है और वे तुरन्त ही लोक-कल्याण के कार्यों मे लग जाते हैं। वे मानवता की रक्षा के लिए अपने प्राणो को भी सकट मे डालने के लिए तैयार हो जाते हैं तथा अपनी जाति एव अपनी जन्म-भूमि के निमित्त सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर रहते है। परोपकार उनके जीवन का अग बन गया है, पर-दु ख-कातरता उनकी रग-रग मे समाई हुई है, और 'सर्वभूतहित' उनके जीवन का लक्ष्य बन गया है।[1] इतना ही नहीं वे स्व-जाति उद्धार को महान् धर्म मानते हैं और प्राय यही कहा करते हैं कि 'सभी प्राणियो की विपत्ति मे रक्षा करना, असहाय जीवो का सहाय होना तथा सकट से स्वजाति को उबारना ही मनुष्य का सर्व प्रधान धर्म है। अत. हमे सदैव अपनी जाति का भला करने के लिए आगे बढना चाहिए और प्राणो को भी सकट मे डालने से तनिक भी घबडाना नही चाहिए, क्योकि

---

१. अत. करूँगा यह कार्य मैं स्वयं। स्व-हस्त मे दुर्लभ प्राण को लिए।
स्वजाति औ जन्म-धरा-निमित्त मैं। न भीत हूँगा विकराल-व्याल से।
सदा करूँगा अपमृत्यु सामना। स-भीत हूँगा न सुरेन्द्र-वज्र से।
कभी करूँगा अवहेलना न मैं। प्रधान-धर्माङ्ग-परोपकार की।
प्रवाह होते तक शेष-श्वास के। स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के। किया करूँगा हित सर्वभूत का।
—प्रियप्रवास ११।२५-२७।

दूरी पर रहने वाली अपनी प्रणय-रस-लीन गोपियो एव प्राणप्रिया राधा से मिलने जाने में उन्हे कोई आपत्ति न होती। वे किसी अकर्मण्य एव विलासी राजा के रूप मे यहाँ अकित नही है, अपितु एक कर्त्तव्यपरायण कर्मवीर के रूप मे अकित किए गये हैं, जिन्हे कभी हम सामाजिक कर्तव्य मे लीन होकर ग्वाल-बालो की रक्षा करते देखते हैं, कभी भयकर अग्नि से गाय-बछडो एव गोप-बालको को बचाते हुए देखते हैं, कभी समस्त प्राणियो की रक्षा के लिए कालिय नाग को यमुना से निकाल बाहर करते हुए देखते हैं और कभी जरासध जैसे पराक्रमी योद्धा से सत्रह-सत्रह वार युद्ध करते हुए देखते हैं। इतना ही नही उनके जीवन का लक्ष्य ही "लोकहित" बन गया हैं और इसी कारण यदि माता-पिता की सेवा करते समय या गुरुजनो का सम्मान करते समय वे किसी प्राणी की आर्त-वाणी सुन लेते हैं, तो तुरन्त सेवा त्याग करके उसको शरण देते हैं, अनेक आवश्यक कार्य छोडकर पापी का नाश करते हैं और जनता की रक्षा करते हैं। इस तरह यहाँ श्रीकृष्ण अपने कर्त्तव्य पालन के हेतु ही बडे-बडे दुर्घर्ष, लोक-पीडक एव पराक्रमशाली अत्याचारियो का वध करते हुए अकित किए गये हैं, अपनी-प्रिय गोप-मडली से दूर रह कर राज्य के गुरुतर कार्य-भार मे लीन दिखाए गये हैं और इसी कर्तव्य से प्रेरित होकर साहसी होते हुए भी जरासंघ के अत्याचारों से व्यथित होकर मथुरा को छोडकर द्वारिका मे जाते हुए चित्रित किए गए हैं। निस्सदेह श्रीकृष्ण का कर्त्तव्य-परायण रूप 'प्रियप्रवास' मे सबसे अधिक महत्वशाली है और अपने इसी कर्त्तव्य-पालन के कारण वे यहाँ जनता के लोकप्रिय नेता के प्रतिष्ठित-पद पर आसीन हैं।

श्रीकृष्ण की कल्पना मे हरिऔध जी का उद्देश्य—हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के जिस रूप की कल्पना 'प्रियप्रवास' मे की है उसको देखकर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि हरिऔध जी ने अपने समाज एव राष्ट्र के लिए एक ऐसे आदर्श पुरुष का निर्माण किया है, जो मानवता का पुजारी है, शक्ति-शील और सौंदर्य से ओतप्रोत है तथा जिसे एक मात्र लोकहित ही प्रिय है। कवि की यह कल्पना आधुनिक युग के पूर्णतया अनुकूल है और इस कल्पना के द्वारा कवि ने श्रीकृष्ण के परम्परागत रूप के विरुद्ध ऐसे लोकोत्तर चरित्र-सम्पन्न नररत्न की कल्पना की है, जिसे आदर्श मानकर भारत ही क्या सारा विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, विश्वबधुत्व के भावो को अपना सकता है और मानव रूप मे ईश्वरत्व की कल्पना को भली प्रकार समझ सकता है। अतएव आधुनिक विज्ञान-सम्पन्न बुद्धिवादी युग की आत्मा को सतुष्ट करने के लिए, मानवता का प्रचार करने के लिए तथा लोकहित की

की साकार मूर्ति अपनी प्रेयसी राधा तक का परित्याग कर देते हैं और अपनी अत्यन्त रमणीय व्रज-भूमि तक को छोड देते हैं। यद्यपि कभी-कभी व्रज-प्रदेश, गोप-गोपी, नद-यशोदा एव प्राणप्रिया राधा का स्मरण करके श्रीकृष्ण अधीर हो उठते हैं, परन्तु वे बडे ही सयमी एव कठोर कर्म मे लीन रहने वाले व्यक्ति हैं। इसीलिए उद्धव के द्वारा राधा के समीप यही सदेश भिजवाते हैं कि "विधाता ने ही हमारे दो प्रिय हृदयो को विलग कर दिया है। अब मैं ऐसे "कठिन-पथ का पान्थ" हो रहा हूं कि मिलन की आशा दूर होती चली जा रही है। अत अब तो हमे मधुर सुख एव भोग की प्रिय लालसाओ का परित्याग करके जगत-हित एव लोक-सेवा मे लीन हो जाना चाहिए, क्योकि इसी से लोकोत्तर शान्ति मिलती है और इसी से श्रेय की प्राप्ति होती है।"[1] इस तरह श्रीकृष्ण केवल सदेश ही नही भेजते, अपितु इस लोक-सेवा एव जगत-हित के लिए एक त्यागी-तपस्वी जैसा जीवन भी व्यतीत करते हैं और ससार के लिए एक उच्च आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

कर्त्तव्यपरायण लोक-प्रिय नेता—यहाँ श्रीकृष्ण का जीवन अपने कर्त्तव्य-पालन का आदर्श प्रस्तुत करता हुआ अकित किया गया है। श्रीकृष्ण को अपने कर्त्तव्य का बडा ध्यान रहता है। वे बचपन से ही यह जानते हैं कि अपने परिवार, अपने माता-पिता, अपने समाज, अपने देश और विश्व के प्रति मेरा क्या कर्त्तव्य है। प्राय यह नीति है कि समाज के लिए परिवार को, देश के लिए समाज को और विश्व के लिए देश तक को छोड देना चाहिए। यहाँ श्रीकृष्ण का जीवन इसी नीति-वाक्य को चरितार्थ करता हुआ अकित किया गया है। वे समाज की हित-चिन्ता मे अथवा अपने समाज को सुखी बनाने के लिए पहले अपने परिवार का त्याग कर देते हैं अर्थात् वसुदेव-देवकी के यहाँ जन्म लेकर भी गोकुल मे रहते हैं। फिर देश के हित के लिए अपने गोकुल के प्रिय समाज का भी परित्याग कर देते है और कस आदि का वध करके मथुरा मे ही रहने लगते हैं। तदुपरान्त विश्व-हित के हेतु वे फिर अपने प्रिय देश अर्थात् व्रज प्रदेश को भी छोड देते हैं और द्वारिकापुरी मे आकर निवास करते हुए विश्व के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करने लगते हैं। अत इसी कर्त्तव्य से प्रेरित होकर श्रीकृष्ण ने पहले माता-पिता का परित्याग, फिर प्रियजनो का परित्याग और फिर प्रिय मातृभूमि का परित्याग करते हुए अपना जीवन व्यतीत किया तथा कभी उनका चित्त चचल न हुआ। नही तो ५-६ मील की

---

१. प्रियप्रवास १६-३७।४६

दूरी पर रहने वाली अपनी प्रणय-रस-लीन गोपियो एव प्राणप्रिया राधा से मिलने जाने में उन्हे कोई आपत्ति न होती। वे किसी अकर्मण्य एव विलासी राजा के रूप मे यहाँ अकित नही है, अपितु एक कर्त्तव्यपरायण कर्मवीर के रूप मे अकित किए गये हैं, जिन्हे कभी हम सामाजिक कर्तव्य मे लीन होकर ग्वाल-बालो की रक्षा करते देखते हैं, कभी भयकर अग्नि से गाय-बछडो एव गोप-बालको को बचाते हुए देखते हैं, कभी समस्त प्राणियो की रक्षा के लिए कालिय नाग को यमुना से निकाल बाहर करते हुए देखते हैं और कभी जरासध जैसे पराक्रमी योद्धा से सत्रह-सत्रह बार युद्ध करते हुए देखते हैं। इतना ही नही उनके जीवन का लक्ष्य ही "लोकहित" बन गया है और इसी कारण यदि माता-पिता की सेवा करते समय या गुरुजनो का सम्मान करते समय वे किसी प्राणी की आर्त्त-वाणी सुन लेते हैं, तो तुरन्त सेवा त्याग करके उसको शरण देते हैं, अनेक आवश्यक कार्य छोडकर पापी का नाश करते हैं और जनता की रक्षा करते हैं। इस तरह यहाँ श्रीकृष्ण अपने कर्त्तव्य पालन के हेतु ही बडे-बडे दुर्धर्ष, लोक-पीडक एव पराक्रमशाली अत्याचारियो का वध करते हुए अकित किए गये हैं, अपनी-प्रिय गोप-मडली से दूर रह कर राज्य के गुरुतर कार्य-भार मे लीन दिखाए गये हैं और इसी कर्तव्य से प्रेरित होकर साहसी होते हुए भी जरासध के अत्याचारों से व्यथित होकर मथुरा को छोडकर द्वारिका मे जाते हुए चित्रित किए गए हैं। निस्सदेह श्रीकृष्ण का कर्त्तव्य-परायण रूप 'प्रियप्रवास' मे सबसे अधिक महत्वशाली है और अपने इसी कर्त्तव्य-पालन के कारण वे यहाँ जनता के लोकप्रिय नेता के प्रतिष्ठित पद पर आसीन हैं।

श्रीकृष्ण की कल्पना मे हरिऔध जी का उद्देश्य—हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के जिस रूप की कल्पना 'प्रियप्रवास' मे की है उसको देखकर यह स्पष्ट पता चल जाता है कि हरिऔध जी ने अपने समाज एव राष्ट्र के लिए एक ऐसे आदर्श पुरुष का निर्माण किया है, जो मानवता का पुजारी है, शक्ति-शील और सौंदर्य से ओतप्रोत है तथा जिसे एक मात्र लोकहित ही प्रिय है। कवि की यह कल्पना आधुनिक युग के पूर्णतया अनुकूल है और इस कल्पना के द्वारा कवि ने श्रीकृष्ण के परम्परागत रूप के विरुद्ध ऐसे लोकोत्तर चरित्र-सम्पन्न नररत्न की कल्पना की है, जिसे आदर्श मानकर भारत ही क्या सारा विश्व कल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो सकता है, विश्वबधुत्व के भावो को अपना सकता है और मानव रूप मे ईश्वरत्व की कल्पना को भली प्रकार समझ सकता है। अतएव आधुनिक विज्ञान-सम्पन्न बुद्धिवादी युग की आत्मा को सतुष्ट करने के लिए, मानवता का प्रचार करने के लिए तथा लोकहित की

भावना का सम्पूर्ण जगत मे प्रसार करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण के इस आदर्श चरित्र का निरूपण किया है।

राधा—'प्रियप्रवास' की चित्रपटी पर राधा का चित्र कुछ अनूठे ढग से अकित किया गया है। यहाँ राधा भक्तिकाल की विरह-विह्वला या रीतिकाल की काम-क्रीडा-प्रवीणा कामिनी नही है, अपितु आधुनिक युग की लोक-सेविका एव भारत भूमि की अनुपम नारी-रत्न है। उसके बाल्य-जीवन का अधिक आभास यहाँ नही मिलता। कवि ने केवल इतना ही सकेत किया है कि यह अलौकिक बालिका बचपन मे कृष्ण के साथ बडी तन्मय होकर खेला करती थी। प्राय नद-भवन मे आकर जब यह कृष्ण के साथ खेलती थी, तब सारा भवन इसकी कलित-क्रीडाओ से गूँज उठता था और वहाँ अनुपम छवि उमडने लगती थी। क्रीडा ही क्रीडा मे राधा का वह प्रेम कृष्ण के प्रति बढ़ता चला गया और बड़े होने पर फिर उसने 'प्रणय' का रूप धारण कर लिया, जिससे युवती होने पर फिर यह बाला रात-दिन कृष्ण के प्रेम मे तल्लीन रहने लगी।[1] इस तरह बाल्य जीवन की क्रीडा एव क्रिया-कलापो का अधिक वर्णन यहाँ नहीं मिलता। यहाँ तो राधा सर्वप्रथम एक युवा बालिका के रूप मे हमारे सम्मुख उपस्थित होती है।

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—कवि ने इस अनुपम छविमयी बालिका के स्वरूप की झाँकी अकित करते हुए उसे एक अद्भुत सौन्दर्य सम्पन्न एव विविध कला-मर्मज्ञा युवा बाला के रूप मे प्रस्तुत किया है। उसकी शरीर-यष्टि अत्यत कोमल एव क्षीण है, उसके मुख पर सदैव मुसकान शोभा देती है, वह निरतर क्रीडा-कला मे लीन रहती है, वह शोभा की तो समुद्र है, अत्यत मृदुभाषिणी है और माधुर्य की साकार मूर्ति है। उसके कमल-नेत्र उन्मत्तकारी हैं, उसके शरीर की स्वर्णिम कान्ति नेत्रोन्मेषकारिणी है, उसकी मधुर मुसकान विमुग्ध करने वाली है और उसकी कुचित अलकें मानसोन्मादिनी हैं। वह नाना प्रकार के हाव-भावो मे कुशल है, चचल कटाक्ष आदि के सहित भ्रू-सचालन मे बडी निपुण है, नाना प्रकार के वाद्यो के बजाने मे भी बड़ी प्रवीण है और अपने शरीर की सुडौलता सुकुमारता एव कमनीयता के द्वारा रति को भी विमोहित कर देने की क्षमता रखती है। वह सदैव उज्ज्वल वस्त्र धारण करती है, श्रेष्ठ आभूषणो से अलकृत रहती है और स्त्रियोचित सभी गुणो से सुशोभित है। वह सदैव श्रेष्ठ शास्त्रो का अनुशीलन

---

१ प्रियप्रवास ४।१३-१७

करती है, रोगी, वृद्ध आदि जनो की सेवा करती है, अनन्यहृदया है, सात्विक प्रेम का पोषण करने वाली है, सुन्दर मन वाली है, सदैव प्रसन्न मुख रहती है और अपने इन्ही सब गुणो के कारण 'स्त्री-जाति रत्नोपमा' कहलाती है।[1] राधा का यह प्रारम्भिक व्यक्तित्व अत्यत मार्मिक एव चित्ताकर्षक है। उसमे भारतीय श्रेष्ठ नारी के सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं और वह एक आदर्श कुमारी की जीती-जागती मूर्ति है।

प्रणय की मधुर मूर्ति—कुमारी राधा के हृदय मे कृष्ण के प्रति बाल्यकाल से ही एक अद्भुत आकर्षण विद्यमान था। अब इस किशोरी के हृदय मे वह "लरिकाई को प्रेम" प्रणय के रूप मे परिवर्तित हो गया है। यह प्रणय-लता राधा के हृदय मे इतनी बलवती हो उठती है कि शयन और भोजन ही क्या, अब वह प्रत्येक क्षण कृष्ण की रूप-माधुरी मे उन्मत्त बनी रहती है, कृष्ण के वचनामृत की सरसता, मुखारविंद की रमणीयता, उनकी सरलता, अतिप्रीति एव सुशीलता उसके चित्त से कभी उतरती नही, अपितु वह सदैव इनमे लीन रही आती है।[2] कृष्ण-प्रेम मे लीन इस बाला को जब कृष्ण के मथुरा-गमन का समाचार सुनाई पडता है, तब यह सुकुमार कली भी सहसा कुम्हला जाती है, वेदना से इसका हृदय दग्ध हो उठता है, सारा संसार सूना दिखाई देने लगता है, सम्पूर्ण दिशायें रोती हुई सी ज्ञात होती है, घर काट खाने को तैयार जान पडता है, मन बेचैन होकर जगल मे भागता प्रतीत होता है और वह अत्यत व्यथित होकर नाना प्रकार की आशकाओ में लीन हो जाती है। उस क्षण वह यही सोचती है कि वैसे तो मै श्रीकृष्ण के चरणो मे अपना हृदय पहले ही चढा चुकी हूँ, केवल मेरी यही कामना और थी कि विधिपूर्वक उन्हे वरण कर लूँ। परन्तु अब मुझे वह कामना पूर्ण होती दिखाई नहीं देती। ठीक ही है जो कुछ भाग्य मे लिखा है वह भला कब टलता है।[3] यह प्रणयिनी बाला कृष्ण को अपना पति बनाने के लिए देवी-देवताओ को मना चुकी है, बहुत से व्रत आदि भी रख चुकी है, परन्तु आज इसका हृदय अचानक आशका मे डूब जाता है और इसे सर्वत्र व्यथा, शोक, विषाद, दु ख, वियोग आदि ही उमडते हुए दिखाई देते है। इस तरह कृष्ण-प्रेम मे लीन राधा का सारा जगत उस समय पूर्णतया शून्य बन जाता है,

---

१ प्रियप्रवास ४।४-८

२ वही ४।१७-१९

३. वही ४।२५

जिस समय इस प्रणय की साकार मूर्ति को बिलखता छोडकर श्रीकृष्ण मथुरा चले जाते हैं। वह हृदय मे आग छिपाकर अपने घर मे ही दिल मसोसती रह जाती है। अत कवि ने यहाँ राधा को प्रणय की मधुर मूर्ति के रूप मे अंकित करके नारी के पवित्र प्रेम की पुनीत झाँकी प्रस्तुत की है।

विरह-विधुरा राधा—तदनन्तर राधा हमे कृष्ण के विरह मे रात-दिन रुदन करती हुई अत्यत उन्मना दिखाई देती है। वह कृष्ण के प्रेम मे इतनी उन्मत्त हो गई है कि पवन-को दूती बना कर कृष्ण के पास अपना विरह-सदेश भेजने को तैयार हो जाती है। कृष्ण की श्यामली मूर्ति देखने की उत्कट लालसा उसे व्यथित एव बेचैन बना देती है। इसी कारण वह पहले तो प्रात कालीन पवन की भर्त्सना करती हुई उसे निष्ठुर एव पापिष्ठा तक कह डालती है, परन्तु फिर उससे मथुरा जाने के लिए आग्रह करती है। वह मथुरा तक के सम्पूर्ण मार्ग को बडी मार्मिकता के साथ समझा देती है और विविध युक्तियो द्वारा अपनी विरह-व्यथा को कृष्ण से कहने का निवेदन करती है। किन्तु कवि ने यहाँ जिन युक्तियो का प्रयोग किया है, उनके कारण उसका विरह-व्यथित रूप कुछ क्षणो के लिए ओझल हो जाता है और वह एक ऐसी युक्ति-कौशल सम्पन्न प्रवीण नारी के रूप मे दिखाई देती है, जो मिलन की नाना तरकीबें जानती है, जो सकेत-स्थल पर पहुँचने के लिए नाना प्रकार की युक्तियाँ सोच सकती है और जिसे विरह-जन्य पीडा नही सता रही है, अपितु जो वियोग की कृत्रिम वेदना से व्यथित जान पडती है। कवि ने उसे जो भ्रान्ता एव उद्विग्ना कहा है,[1] वह भी कुछ सार्थक सा ज्ञात नही होता क्योकि भ्रान्ता विरहिणी भला इतनी प्रबल युक्तियाँ पवन को कैसे बता सकती है, जिनका कि उल्लेख 'प्रियप्रवास' के 'पवन-दूती-प्रसग' मे मिलता है। इस तरह राधा का विरह-विधुरा रूप यहाँ उतना मार्मिक एव हृदयाकर्षक नहीं है, जितना कि सूर, नददास आदि भक्तकवियो की कविताओं मे मिलता है।

कृष्ण की अनन्य उपासिका—यहाँ राधा कृष्ण की अनन्य उपासिका है। उसके हृदय मे कृष्ण-प्रेम इस सीमा तक व्याप्त हो गया है कि उसे सारा जगत ही कृष्णमय जान पडता है। कालिन्दी के श्याम जल मे उसे कृष्ण के श्याम गात का दर्शन मिलता है, सध्या की अरुणिमा मे वह अपने

---

१ प्रियप्रवास ६।८३

परमप्रिय की कान्ति को देखती है, रजनी की श्यामता मे उसे कृष्ण के श्याम तन का आभास मिलता है, उषा उसे सदैव कृष्ण-प्रेम मे अनुरजित जान पडती है और सूर्य की ओप मे कृष्ण के तेजपूर्ण मुख की झलक दिखाई देती है। उस अनन्य प्रेमा को अग-समूह मे कृष्ण की काली कु चित अलकें दिखाई देती है, खजन एव मृगो मे कृष्ण की आँखो की सुछवि रमी हुई जान पडती है, हाथी के बच्चे की सूँड मे उसे कृष्ण की विशाल-बाहु दृष्टिगोचर होती है, शुक की नासिका मे कृष्ण की सुरम्य नासिका की शोभा दिखाई पडती है, दाडिमो मे दाँतो की झलक मिलती है, बिम्बाफलो मे श्रेष्ठ अधरो की लालिमा जान पडती है, केलो मे जघन-युग की मजुता दिखाई देती है और गुलो मे कृष्ण की गुल्फो का सौंदर्य झलकता हुआ प्रतीत होता है। इतना ही नही वह सम्पूर्ण प्रकृति की रूप माधुरी मे कृष्ण के अनुपम रूप-सौंदर्य को देखती है, पक्षियो के कलरव मे मुरली की मधुर ध्वनि सुनती है और पृथ्वी के प्रत्येक भाग मे श्रीकृष्ण की माधुरी मूर्ति को व्याप्त देखती है।[1] वह कृष्ण के प्रेम मे व्यथित होकर अब मिलने की आकाक्षा प्रकट नही करती, अपितु वह यही सोचती है कि यदि कृष्ण यहाँ न आ सकें तो भी कोई आपत्ति नही। उद्धव से वह यही कहती है "प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें।" अनन्य प्रेम मे लीन होने के कारण वह अब स्वय को कृष्ण से कभी पृथक् नही देखती, वरन् इस ब्रह्माण्ड मे जितनी वस्तुयें उसे दिखाई देती हैं, वे सब उसे श्याम के रग मे ही रँगी हुई जान पडती हैं और वह पृथ्वी, नभ, पानी, पवन, पादप, खग आदि मे सर्वत्र कृष्ण को व्याप्त देखती है। इस तरह उसका प्रणय अब विकारहीन होकर सात्विक रूप धारण कर लेता है और वह कृष्ण को विश्वात्मा, जगतपति, प्रभु, सर्वेश्वर आदि मानती हुई उनकी सच्चे हृदय से उपासना करने मे लीन हो जाती है। अब वह यह जानने लगी है कि विश्व की पूजा, विश्व की आराधना, विश्व के प्राणियो की सेवा ही कृष्ण की सच्ची पूजा है, भक्ति है और उपासना है।[2] इस तरह राधा कृष्ण के वियोग मे रात-दिन आँसू बहाने की अपेक्षा विश्व को कृष्णमय मानकर उसकी उपासना करती हुई कृष्ण की अनन्य उपासिका बन जाती है।

लोक-सेविका—विश्व-प्रेम मे लीन होते ही राधा का हृदय उदार हो जाता है, उसका अन्त करण विशाल हो जाता है और वह मानवीय प्रेमिका

---

१ प्रियप्रवास १६।८३-८८

२. वही १६।६८-१०३

प्रणय की सकुचित भावना से ऊपर उठकर श्याम को जगत-पति और जगत-पति को श्याम समझने लगती है, उसे विश्व मे प्रियतम तथा प्रियतम मे विश्व व्याप्त दिखाई देने लगता है और वह साधारण श्रवण, कीर्त्तन, वदन, दासता, स्मरण, आत्म निवेदन, अर्चना, सख्य और पद-सेवना नामक नवधा-भक्ति को छोडकर आर्त्त-उत्पीडित एव रोगी प्राणियो की व्यथा सुनना ही 'श्रवण' मानती है। ऐसे दिव्य एव अनुपम गुणो का गाना उचित समझती है, जिसे सुनकर सोये प्राणी जाग उठें, अज्ञान तिमिर मे गिरे हुए प्राणी ज्ञान-ज्योति प्राप्त करें और भूले हुए प्राणी सन्मार्ग पर लग जायें। इसी गुण-गान को वह 'कीर्त्तन' मानती है। उसकी दृष्टि मे अब विद्वानो, देश-प्रेमियो ज्ञानियो, दानियो, सच्चरित्रो, गुणियो, तेजस्वियो एव देव तुल्य व्यक्तियो के आगे मस्तक झुकाना और उनका आदर-सत्कार करना ही 'वदन' है। वह 'दास्यभक्ति' उसे मानती है जिसमे मनुष्य ऐसी बातें करें, जो ससार का कल्याण करने वाली हो, सर्वभूतोपकारी हो, गिरे हुओ को उठाने वाली हो तथा जिनमे सेवा भाव भरा हुआ हो। इसी तरह अब उसकी दृष्टि मे कगाल, दीन, दुखियो आदि का स्मरण ही 'स्मरण' नामक भक्ति है, विपत्ति मे सहायता करने के लिए अपने तन और प्राणो का अर्पित करना ही 'आत्म-निवेदन' भक्ति है, पीडितो को औषधि, प्यासो को जल, भूखो को अन्न देना आदि ही 'अर्चना' नाम की भक्ति है, ससार के जिन प्राणियो से भी कुछ काम लिया जाय उनके प्रति सहृदय होना ही "सख्य" नामक भक्ति है और पतितो को शरण मे लेना तथा उनको आदर-सम्मान देना ही "पद-सेवन" नामक भक्ति है।[1] अब राधा के हृदय मे विश्व-प्रेम जाग्रत हो जाता है। वह सम्पूर्ण मोह छोडकर लोक-सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य बना लेती है तथा श्रीकृष्ण के सन्देश का पूरा-पूरा पालन करती हुई सम्पूर्ण विश्व की सेवा, परोपकार, दया, करुणा, प्राणीमात्र के प्रति प्रेम आदि से ओतप्रोत होकर अपना सारा जीवन एक लोक-सेविका के रूप मे व्यतीत करने का निश्चय कर लेती है। नि सदेह राधा का यह रूप भारतीय नारी के उज्ज्वल आदर्श को प्रस्तुत करता है और वह कामुकता, विलासिता, वियोग-जन्य उन्माद एव प्रणय की सकीर्णता से सर्वथा परे एक भव्य एव दिव्य नारी के पद पर आसीन दिखाई देती है।

ब्रज की आराध्या-देवि—राधा का अन्तिम रूप अत्यन्त ही मार्मिक एव

---

१ प्रियप्रवास १६।११५-१२६

प्रभावोत्पादक है। वह व्रज-जनो की पीडा दूर करने का निश्चय करके केवल गेह मे शान्तिपूर्वक बैठी नही रहती, अपितु जब कभी यह सुनती हैं कि कोई गोपी कही व्यथित होकर मूर्छित पड़ी है, तब तुरन्त ही उसके पास जाकर उचित उपचार करके उसकी व्यथा दूर करती है, उसे समझाती है और व्यथा के प्रबल वेग को कम करने के लिए नाना प्रकार की कथायें सुनाया करती है। वह नित्य-प्रति नद-यशोदा के घर जाकर उन्हे भी सात्वना देती रहती है। यदि कही गोप-जनो को खिन्न होकर बैठा देखती है तो उन्हे उद्योगी, परिश्रमी एव कर्मशील बनाने की प्रेरणा प्रदान करती है। यदि कहीं उसे गोप-बालक कृष्ण के प्रेम मे मलिन दिखाई देते हैं, तो वह उन्हे कृष्ण-लीलाओ मे लगाकर अथवा खिलौने आदि लेकर प्रसन्न करती रहती है। यदि कही गोपियां मन मारे बैठी हुई दिखाई देती हैं, तो वह उन्हे प्रियतम की वीणा, वेणु या वशी सुनाकार अथवा मधुर कथायें सुनाकर प्रसन्न करने की चेष्टा करती है। वह चीटियो को आटा तथा पक्षियो को अन्न और जल देती रहती है। उसकी दृष्टि मे कीटादि भी बडे महत्वशाली हैं, वह उनके प्रति भी बडा ही दया-भाव रखती है। व्यर्थ ही वह पेडो के पत्ते तोडना भी उचित नही समझती और सदैव प्राणियो के सम्वर्द्धन मे ही लीन रही आती है। उसने कुमारी गोपियो का एक ऐसा दल स्थापित कर दिया है जो सारी व्रज-भूमि मे सुख और शान्ति का प्रसार करता है। इसी कारण वह व्रज-जनो की दृष्टि मे सज्जनो के सिर की छाया, एव दुर्जनो की शासिका है, कगालो की परम निधि और पीडितो की औषधि-स्वरूपा है, दीनो की बहिन और अनाथाश्रितो की जननी है, विश्व की प्रेमिका है तथा समस्त व्रज-भूमि की आराध्या देवि बनी हुई है।[1]

राधा की कल्पना मे कवि का उद्देश्य—हरिऔध जी ने राधा के जिस पावन एव आदर्श चरित्र का निर्माण किया है, उसके पीछे युग का नारी-आन्दोलन कार्य कर रहा है। आधुनिक-युग मे नारी को उन्नत एव सचेष्ट बनाने के लिए तथा सामजिक कार्यों मे पुरुष के साथ कधे से कधा भिडाकर कार्य करने के लिए ऐसी ही रमणियो की आवश्यकता थी जो विश्व-प्रेम मे लीन होकर लोक-सेवा, लोकहित एव लोकोपकारी कार्यों के लिए आगे बढ़े तथा घर की चहारदीवारी को छोडकर समाज के क्षेत्र मे कार्य करें। अतः हरिऔध जी ने भक्तिकालीन एव रीतिकालीन कवियो की कल्पना के सर्वथा विपरीत

---

१ प्रियप्रवास १७।४९

पति के पुनीत कर्त्तव्य की उज्ज्वल झांकी विद्यमान है, क्योकि यशोदा जी इसी वाक्य के आधार पर चेतना प्राप्त करके आश्वासन ग्रहण करती हैं और इसी के बल पर आशान्वित होकर अपना कष्टमय जीवन व्यतीत करती है।

पुत्र-वियोग मे व्यथित किन्तु उदार आशय-सम्पन्न पिता—नद जी अन्त मे हमे कृष्ण के चिर वियोग मे लीन एक शोक-सतप्त पिता के रूप मे दिखाई देते हैं। उनकी वह अवस्था अत्यन्त दयनीय एव शोकपूर्ण है। प्रत्येक प्राणी आपकी इस क्षुब्ध अवस्था को देखकर सहानुभूति एव समवेदना प्रकट करता है, परन्तु पुत्र-वियोग मे भी आपके हृदय के अतर्गत श्रीकृष्ण की जो लोकोपकार, जन-सेवा, राष्ट्र-हित, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण मनोहर श्यामली मूर्ति बस जाती है, उसका चितन एव मनन आपको अतीव सतोष एव सयम प्रदान करता है, फिर भी जिस क्षण वात्सल्य भाव उमड पडता है, उस समय आप अत्यन्त क्षुब्ध एव क्लान्त हो उठते हैं। आपकी ऐसी अवस्था देखकर राधा भी आपकी सेवा-सुश्रूषा मे लगी रहती है, आपकी वियोग-जन्य क्लान्ति को मिटाती है, बातो ही बातो मे ससार के वैभव को तुच्छ बताती है और नाना शास्त्र सुनाकर बेचैनी को दूर करती है।[1] इस चित्रण द्वारा कवि ने एक पुत्र-वियोग मे व्यथित पिता के दयनीय जीवन की उज्ज्वल झाँकी अकित की है। साथ ही उसके उदार आशय को भी व्यक्त किया है।

नंद के चित्रण मे कवि का उद्देश्य—नदजी के रूप मे कवि ने पुत्र-वियोग से व्यथित, किन्तु उदार आशय एव उन्नत विचार-सम्पन्न एक ऐसे पिता का चित्र अकित किया है, जिसकी वृद्धावस्था का सहारा जाता रहा हो, जो इस जगत मे निराश्रित होकर भटकता फिरता हो तथा जो पुत्रो के लिए आजीवन कष्ट सहता हो; परन्तु जिसे इस बात से सतोष हो कि मेरे पुत्र देश-प्रेम एव जाति-प्रेम से प्रेरित होकर जनता का उद्धार करने के लिए घर छोडकर चले गये हैं, उन्हे हमारी अपेक्षा विश्व-प्रेम अधिक प्रिय है और वे राष्ट्र की उन्नति, देश का सुधार एव जातीय गौरव की रक्षा मे लगे हुए हैं। अत. एक गौरवशाली एव सौभाग्यपूर्ण उदार विचार-सम्पन्न पिता का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए नद जी का ऐसा चरित्र यहाँ अकित किया गया है। इसके साथ ही वे एक कर्त्तव्यपालक पति का भी आदर्श प्रस्तुत करते है, क्योंकि अपनी पत्नी यशोदा को यदि वे कभी अधीर एव व्यथित देखते हैं, तो तुरत नाना विधियो से उसे समझाने का प्रयत्न करते हैं। अत नद जी एक

---

१ प्रियप्रवास १७।४१

उच्चकोटि के पिता एव श्रेष्ठ पति के कर्तव्य का पालन करते हुए यहाँ चित्रित किए गए है क्योंकि ऐसे न होते तो वे न तो कृष्ण को मथुरा जाने देते, न किसी लोक-हित के कार्य मे भाग लेने देते और न फिर अपनी प्रिया को सात्वना देने का ही कार्य कर सकते थे।

यशोदा—भारतीय वाड्मय मे यशोदा एक ऐसी उपेक्षिता माँ रही है जिसके असीम त्याग, अनन्त वात्सल्य एव अलौकिक दुलार से यद्यपि अधिकाश कृष्ण-भक्त कवि प्रभावित हुए हैं, तथापि स्वतन्त्र रूप से उसके लिए न कोई महाकाव्य लिखा गया है और न उसके जननी रूप की महत्ता को ही स्वतन्त्र-रूप से अकित किया गया है। 'प्रियप्रवास' के कवि ने इस ओर तनिक ध्यान देते हुए अवश्य कुछ सराहनीय कार्य किया है और उसके मातृत्व रूप की अभिव्यक्ति करते हुए उसके वात्सल्य, उसकी ममता एव उसकी उदार मनोवृत्ति की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। अतः अब देखना यह है कि 'प्रियप्रवास' मे उसके चरित्र का क्रमिक विकास किस तरह अकित किया गया है।

मातृत्व की विमल विभूति—सर्वप्रथम यशोदा के दर्शन यहाँ एक वात्सल्यपूर्ण अधीर जननी के रूप मे होते है, जो अपने प्राणप्रिय पुत्र श्रीकृष्ण की शैया के पास बैठी हुई आँसू बहा रही है, जिसका वदन-मण्डल मलिन हो रहा है, जिसके हृदय मे भयपूर्ण अत्यत कुत्सित भावनायें उठ रही हैं और जो कस के कौशल-जाल की जटिलता के कारण अतीव व्याकुल एव असयत होकर चिन्ता-सागर मे डूबी हुई है। इस व्यथा, वेदना, आकुलता एव अधीरता का कारण यह है कि सवेरा होते ही उसका प्रिय प्राणस्वरूप कृष्ण कस जैसे अत्याचारी शासक के निमन्त्रण पर मथुरा जा रहा है। कस की क्रूरता एव उसके द्वारा मचाये गये उपद्रवो से वह जननी दीर्घ काल से परिचित है। श्रीकृष्ण के जन्म से ही उसने नाना प्रकार के विघ्न, विविध बाधायें, अनेक आपत्तियाँ आदि उपस्थित करके इस जननी के हृदय को हिला दिया है। आज वही नृपाधम अपने घर ही उसके पुत्र को बुला रहा है। भला ऐसे कुअवसर पर कौन सी ऐसी माता होगी, जिसका हृदय विचलित न हो और जो आशकाओ से भरकर बेचैन न दिखाई दे। यही कारण है कि हरि-जननी यशोदा करुण-क्रन्दन करती हुई कृष्ण की शैया के निकट बैठी हैं। भय यह है कहीं पुत्र जाग न पड़े, इसलिए वह अपने क्रदन एव अपनी व्यथापूर्ण कराह को धीरे-धीरे ही व्यक्त करती है, साथ ही पुत्र की शुभ कामना करती हुई कुल-देवता की आराधना भी करती जाती हैं। सचमुच माता का हृदय बडा ही सशकित होता है।

उसके हृदय मे क्यो न हो, क्योकि उस वृद्धा का नेत्र-तारा आज लुप्त हो गया है, उस दु ख-जलनिधि मे डूबी हुई का सहारा आज कही चला गया है, उस दुखिया मा का जीवन कही दिखाई नही देता, उस दरिद्र का अनूठा रत्न कही ग़ायव हो गया है और उस दुलारमयी जननी की आँखो का उजाला कही जाता रहा है। उसे भला कैसे सतोप हो ? इसने वडे कष्ट उठाकर अपने पुत्र का लालन-पालन किया है, देवी-देवताओ की वडी मनौतियाँ करने के उपरान्त उसे इतना वडा कर पाया है और नाना प्रकार के विघ्नो का सामना करके उसने वह शील, सौजन्य एव माधुर्य से परिपूर्ण मुख देखा है। उसे वेदना क्यो न पीडित करे, क्योकि आज उसके पुत्र के विना उसका घर सूना होगया है, सारी दिशायें शून्य हो गई हैं और सारा जगत ही लुट गया है। वह जव अपने पुत्र के लिए खिन्न होकर गायो को विलखता देखती है या घर के शुक-सरिका आदि पक्षियो को उसके लिए वेचैन देखती है, तो उसका हृदय और भी शोक एव करुणा से भर आता है। इसके साथ ही कस, चाणूर मुष्टिक आदि दुष्टो की कठोरता एव अपने पुत्र की सुकुमारता का ध्यान आते ही माता यशोदा का हृदय विदीर्ण हो जाता है। परन्तु ईश्वर की वडी कृपा है कि उसके लाल ने उन सव दुष्टो को यमपुर भेज दिया है। वह इस अद्भुत वात को सोच-सोच कर अपने भाग्य की सराहना करने लगती है और किसी पुण्य के प्रताप से ही इन सव असम्भव वातो का होना समझती है। परन्तु उसके हृदय मे वसी हुई ममता उसे रह-रहकर कचोटने लगती है, जिससे वह अधीर होकर अपने प्रियतम से वार-वार यही पूछती है कि "मेरा प्राणाधार अव कव लौटकर आवेगा ?" हाय ! मैं उसके विना जीवित नही रह सकती। ऐसा सुना जाता है कि अव मुझे मेरा प्रिय चाँद अपना मुख दिखाने नही आवेगा। मैंने उसके लिए वडे कष्ट सहे हैं। अव यदि मेरा लाल मुझे देखने को नही मिलेगा, तो मेरा हृदय टुकडे-टुकडे हो जायेगा और मैं रो-रोकर ही मर जाऊँगी। हा ! वृद्धा के अतुल धन, वृद्धता के आश्रय, प्राणो के परमप्रिय, शोभा के सदन एव रूप-लावण्य वाले वेटे ! मैं तेरे विना जीवित नही रह सकती।"[1] इस तरह हम माता यशोदा को नाना प्रकार से करुण विलाप करते हुए देखते हैं। यशोदा का वह विलाप-कलाप माता के हृदय का सच्चा स्वरूप है, ममता का सच्चा निदर्शन है और करुणा की सजीव प्रतिकृति है। यही कारण है कि यशोदा माता यहाँ ममता एव करुणा

---

१ प्रियप्रवास ७।११-५७

की सजीव प्रतिमा के रूप मे अंकित होकर पाठको के हृदय को झकझोर डालती हैं, समवेदना को जाग्रत कर देती हैं और सभी को करुणा-सागर मे डुबो देती है।

पुत्रहीना आशामयी दुखिया जननी—ममता एव करुणा मे आप्लावित दुखिया जननी को जब नद जी यह समझाते है कि "धैर्य रखो, प्रियसुत दो ही दिनो मे आजावेगा' तब वह मृतप्राय मूर्ति पुन सजीव होकर आँखें खोल देती है और "क्या आवेगा कुँवर व्रज मे नाथ दो ही दिनो मे" कहकर अपनी बात की पुष्टि कराकर आशान्वित हो जाती है। उस निराश दुखिया को तनिक सा आश्रय मिल जाता है कि सभव है कि दो दिन बाद उसका लाडिला कुँवर लौट आवे। इस आशा के कारण उसकी सज्ञा लौट आती है, वह सँभल जाती है, उसकी निराश-स्थिति मे परिवर्तन हो जाता है और वह द्वार से उठकर अपने प्रियतम के साथ घर मे चली जाती है। सत्य ही है कि ससार मे आशा बडी बलवती है, उसकी महिमा अपार है, क्योकि इसका स्पर्श पाते ही मृत प्राणी भी जी उठते है। इसी से बल पाकर माता यशोदा अपने दुखी जीवन को व्यतीत करने का साहस करती है और इसी के प्रताप से वह दुखिया रोती-बिसूरती हुई, कलपती-विलखती हुई तथा भग्न हृदय को समझाती-बुझाती हुई कृष्ण की प्रतीक्षा मे दिन काटने लगती है।[1] उसकी काया जीर्ण-शीर्ण होजाती है। चिन्ता एव व्यथा उसके हृदय को अधीर करती रहती हैं और वह अत्यत खिन्न एव दीन होकर मोह मे निमग्न होती हुई आशा के सहारे ही शेष जीवन व्यतीत करती है। परन्तु इस आशामयी जननी की आशा का बाँध उस क्षण टूट जाता है, जिस समय उद्धव कृष्ण का सदेश लेकर गोकुल मे आते हैं। वह उद्धव से यही पूँछती है—"हे उद्धव! रात दिन रोते-रोते जिस कुँवर का पथ देखते हुए मेरी आँखें ज्योति-हीन हो गई हैं, भला क्या वे उस 'भवतमहरी ज्योति' को पुन प्राप्त कर सकेंगी? क्या मुझे वह इन्द्रमुख पुन. देखने को मिल जायेगा? मैं रातदिन बडी बेचैन रहती हूं। क्या मुझे अपने प्रिय लाल की मधुर बातें कभी सुनने को प्राप्त हो जायेंगी?"[2] इसी तरह नाना प्रकार से अपनी व्यथा-कथा कहती हुई माता यशोदा अधीर हो उठती है और अपनी सम्पूर्ण गम-कहानी सुनाने लगती है

---

१ प्रियप्रवास ७।५९-६३

२ वही १०।१३-१५

कि कैसे मैंने कष्ट उठाकर कृष्ण का पालन-पोषण किया, कैसे मैंने विघ्नों का सामना करके उसे इतना बडा किया और आज उसके विना किस तरह सारा व्रज वेचैन वना हुआ है।[1] दुखिया यशोदा की यह करुण-कथा उद्धव को भी व्यथित वना देती है, वे मौन होकर सारी रात वही वैठे-वैठे माता यशोदा की व्यथा-कथा सुनते रहते हैं। प्रभात हो जाता है, परन्तु व्यथा-कथा समाप्त नही होती। जव उद्धव उठकर ही वहाँ से चले जाते हैं, तव वह दुखिया अपने आप मौन होकर रह जाती है। अत कवि ने पुत्र-हीना आशामयी दुखियां जननी के रूप मे यशोदा का चित्रण करके यहा पुत्र-वचिता माता के जीवन की वडी ही सुरम्य झांकी प्रस्तुत की है।

विशाल अत करण एवं उदारमना देवी—तदनतर यशोदा माता का अत्यत दिव्य एव भव्य रूप हमारे सामने आता है। अव चिरकाल के वियोग-जन्य दु ख से जर्जर होकर वह शरीर से तो क्षीण हो गई है, परन्तु उसका अत -करण विशाल हो गया है, उसमे उदारता की भावना अत्यधिक जग गई है और अव उसमे इतनी सकीर्णता नहीं रही है, जितनी कि पहले थी और जिसके परिणामस्वरूप वह अपने पुत्र का कहीं दूर रहना पसन्द नही करती थी। उद्धव से वातें करते समय अव तो यशोदा जो कृष्ण की वीरता की प्रशसा करती हुई उनका यशोगान गाती है, दुखिया देवकी के वधन-विमुक्त होने पर हर्ष प्रकट करती हैं और अपने लाडिले पुत्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करके अत्यन्त सुखी होती हैं। इतना अवश्य है कि जव उन्हे वसुदेव-देवकी के कम्पकारी दु खों की याद आती है, तो वे आंसू वहाने लगती हैं, परन्तु उनके कारागार से विमुक्त होने का समाचार पाते ही वे अत्यत सुखी एव हर्पित दिखाई देती हे।[2] किन्तु इस क्षण यशोदा को इसलिए अधिक पीडा हो रही है कि अव मेरा लाडिला पुत्र दूसरो का भी लाडिला वनता चला जारहा है। फिर भी अव उसका विशाल अन्त करण इस वात की गवाही नहीं देता कि वह देवकी के लाडिले पुत्र को अपने पास वुलाकर यहीं रक्खे। अव तो इस उदारमना माता की एक मात्र यही कामना है —

"प्यारे जीवें पुलकित रहे औ वनें भी उन्हीं के।
धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें॥[3]

---

१ प्रियप्रवास १०।१८-६५
२ वही १०।६२-६३
३ वही १०।८५

इन शब्दो मे कितनी उदारता, कितनी महानता एव कितनी अन्त करण की विशालता छिपी हुई है कि अनेक कष्टो के साथ पाले हुए अपने पुत्र को वह जननी दूसरो को सौंपते हुए नहीं झिझकती, दूसरो का बनाते हुए सकोच नही करती और केवल यही चाहती है कि भले ही वह दूसरों का बन जाय, परन्तु धाई के नाते से ही एकबार मुझे अपना मुख तो दिखा जाय। कवि ने उक्त शब्दो मे यशोदा जी की जिस दिव्य एव मगलकारिणी मातृमूर्ति का चित्र अकित किया है, उसके सम्मुख हठात् हमारा मस्तक झुक जाता है, क्योकि वह हमे मानवी होकर भी देवी के उच्च पद पर आसीन दिखाई देने लगती है।

यशोदा के चित्रण मे कवि का उद्देश्य—कवि ने यशोदा के रूप मे भारत की उस आदर्श माँ की झांकी प्रस्तुत की है, जिसके अत करण मे अपने लालित-पालित पुत्र के लिए अनन्त मोह, असीम ममता एव अपार वात्सल्य भरा हुआ है, जो पुत्र के तनिक से सकट से ही व्यथित एव बेचैन हो उठती है, जिसे पुत्र-सुख के सामने अपने कष्टो की तनिक भी परवा नही और जो देवी-देवताओ की आराधना तक करके पुत्र की विघ्न-बाधाओ को दूर करने की सदैव चेष्टा करती रहती है। इसके अतिरिक्त अत करण की विशालता एव उदारता के कारण यशोदा माता वीर-प्रसूती माताओ की कोटि मे भी जा पहुँचती हैं। यद्यपि कृष्ण उनके औरस पुत्र नहीं हैं, तथापि वे उन्हे औरस से भी अधिक मानती है और उन्हे लोकहित एव लोकसेवा के कार्यों मे लीन देखकर अतीव हर्ष प्रकट करती हैं। वास्तव मे भारतीय जननी का यही आदर्श रहा है कि वह ममता एव वात्सल्य से परिपूर्ण होकर भी अपने पुत्र को लोकहित एव लोकसेवा के लिए सहर्ष अग्रसर करती रही है। इस दृष्टि से यशोदा जी कुन्ती, विदुला, सुभद्रा आदि वीर-प्रसूती माताओ से किसी प्रकार कम नहीं दिखाई देती, अपितु पराये पुत्र के लिए इतना ममत्व, इतना वात्सल्य एव इतना शोक प्रकट करने के कारण वे इन माताओ से भी अधिक महान् एव उन्नत दिखाई देती है। इस तरह कवि ने वात्सल्य, ममता एव उदारता से परिपूर्ण मगलमयी जननी का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही यशोदा की ऐसी भव्य मूर्ति यहाँ अकित की है।

उद्धव—सर्वप्रथम हमे इनके दर्शन ब्रजराज श्रीकृष्ण के समीप उनके एक ऐसे मित्र के रूप मे होते है, जो ज्ञान-वृद्ध है, विज्ञ-वर है, आनद की मूर्ति है और योगादि की शिक्षा देने मे बडे पटु हैं। श्रीकृष्ण इन्हे ब्रज मे इसी कारण भेजते है कि तुम वहाँ जाकर मेरे माता-पिता, मेरे चिर-सहचर गोप एव गोपी

कि कैसे मैंने कष्ट उठाकर कृष्ण का पालन-पोषण किया, कैसे मैंने विघ्नों का सामना करके उसे इतना बडा किया और आज उसके बिना किस तरह सारा ब्रज बेचैन बना हुआ है।[1] दुखिया यशोदा की यह करुण-कथा उद्धव को भी व्यथित बना देती है, वे मौन होकर सारी रात वही बैठे-बैठे माता यशोदा की व्यथा-कथा सुनते रहते हैं। प्रभात हो जाता है, परन्तु व्यथा-कथा समाप्त नही होती। जब उद्धव उठकर ही वहाँ से चले जाते हैं, तब वह दुखिया अपने आप मौन होकर रह जाती है। अत कवि ने पुत्र-हीना आशामयी दुखिया जननी के रूप मे यशोदा-का-चित्रण करके यहाँ पुत्र-वचिता माता के जीवन की बडी ही सुरम्य झाँकी प्रस्तुत की है।

विशाल अत करण एवं उदारमना देवी—तदनतर यशोदा माता का अत्यत दिव्य एव भव्य रूप हमारे सामने आता है। अब चिरकाल के वियोग-जन्य दु ख से जर्जर होकर वह शरीर से तो क्षीण हो गई है, परन्तु उसका अत - करण विशाल हो गया है, उसमे उदारता की भावना अत्यधिक जग गई है और अब उसमे इतनी सकीर्णता नही रही है, जितनी कि पहले थी और जिसके परिणामस्वरूप वह अपने पुत्र का कहीं दूर रहना पसन्द नही करती थी। उद्धव से बातें करते समय अब तो यशोदा जी कृष्ण की वीरता की प्रशसा करती हुई उनका यशोगान गाती है, दुखिया देवकी के बधन-विमुक्त होने पर हर्ष प्रकट करती हैं और अपने लाडिले पुत्र के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करके अत्यन्त सुखी होती है। इतना अवश्य है कि जब उन्हे वसुदेव-देवकी के कम्पकारी दु खो की याद आती है, तो वे आँसू बहाने लगती हैं, परन्तु उनके कारागार से विमुक्त होने का समाचार पाते ही वे अत्यत सुखी एव हर्षित दिखाई देती है।[2] किन्तु इस क्षण यशोदा को इसलिए अधिक पीडा हो रही है कि अब मेरा लाडिला पुत्र दूसरो का भी लाडिला बनता चला जारहा है। फिर भी अब उसका विशाल अन्त करण इस बात की गवाही नही देता कि वह देवकी के लाडिले पुत्र को अपने पास बुलाकर यहीं रखले। अब तो इस उदारमना माता की एक मात्र यही कामना है —

> "प्यारे जीवें पुलकित रहे औ बनें भी उन्ही के।
> धाई नाते वदन दिखला एकदा और देवें॥[3]

---

१ प्रियप्रवास १०।१८-६५

२ वही १०।६२-६३

३. वही १०।६५

इन शब्दो मे कितनी उदारता, कितनी महानता एव कितनी अत करण की विशालता छिपी हुई है कि अनेक कष्टो के साथ पाले हुए अपने पुत्र को वह जननी दूसरो को सौंपते हुए नही झिझकती, दूसरो का बनाते हुए सकोच नही करती और केवल यही चाहती है कि भले ही वह दूसरो का बन जाय, परन्तु धाई के नाते से ही एकवार मुझे अपना मुख तो दिखा जाय। कवि ने उक्त शब्दो मे यशोदा जी की जिस दिव्य एव मगलकारिणी मातृमूर्ति का चित्र अकित किया है, उसके सम्मुख हठात् हमारा मस्तक झुक जाता है, क्योकि वह हमे मानवी होकर भी देवी के उच्च पद पर आसीन दिखाई देने लगती है।

यशोदा के चित्रण मे कवि का उद्देश्य—कवि ने यशोदा के रूप मे भारत की उस आदर्श माँ की झांकी प्रस्तुत की है, जिसके अत करण मे अपने लालित-पालित पुत्र के लिए अनत मोह, असीम ममता एव अपार वात्सल्य भरा हुआ है, जो पुत्र के तनिक से सकट से ही व्यथित एव बेचैन हो उठती है, जिसे पुत्र-सुख के सामने अपने कष्टो की तनिक भी परवा नही और जो देवी-देवताओं की आराधना तक करके पुत्र की विघ्न-बाधाओ को दूर करने की सदैव चेष्टा करती रहती है। इसके अतिरिक्त अत करण की विशालता एव उदारता के कारण यशोदा माता वीर-प्रसूती माताओ की कोटि मे भी जा पहुँचती हैं। यद्यपि कृष्ण उनके औरस पुत्र नही हैं, तथापि वे उन्हे औरस से भी अधिक मानती है और उन्हे लोकहित एव लोकसेवा के कार्यों मे लीन देखकर अतीव हर्ष प्रकट करती हैं। वास्तव मे भारतीय जननी का यही आदर्श रहा है कि वह ममता एव वात्सल्य से परिपूर्ण होकर भी अपने पुत्र को लोकहित एव लोकसेवा के लिए सहर्ष अग्रसर करती रही है। इस दृष्टि से यशोदा जी कुन्ती, विदुला, सुभद्रा आदि वीर-प्रसूती माताओ से किसी प्रकार कम नही दिखाई देती, अपितु पराये पुत्र के लिए इतना ममत्व, इतना वात्सल्य एव इतना शोक प्रकट करने के कारण वे इन माताओ से भी अधिक महान् एव उन्नत दिखाई देती है। इस तरह कवि ने वात्सल्य, ममता एव उदारता से परिपूर्ण मगलमयी जननी का आदर्श प्रस्तुत करने के लिए ही यशोदा की ऐसी भव्य मूर्ति यहाँ अकित की है।

उद्धव—सर्वप्रथम हमे इनके दर्शन ब्रजराज श्रीकृष्ण के समीप उनके एक ऐसे मित्र के रूप मे होते है, जो ज्ञान-वृद्ध हैं, विज्ञ-वर है, आनद की मूर्ति है और योगादि की शिक्षा देने मे बडे पटु हैं। श्रीकृष्ण इन्हे ब्रज मे इसी कारण भेजते है कि तुम वहाँ जाकर मेरे माता-पिता, मेरे चिर-सहचर गोप एव मेरी

प्रियसखी गोपियों को इस तरह समझाना, जिससे उनके हृदय की व्यथा एवं वेदना दूर हो जाय, वे मेरी वियोगाग्नि में जलना बन्द करके शान्ति प्राप्त करें और उन्हें सभी प्रकार संतोष प्राप्त हो। श्रीकृष्ण ने उद्धव को माता यशोदा, वृद्ध गोपेश तथा दिव्यांगना राधा को विशेष रूप से समझाने के लिए भेजा है। साथ ही कृष्ण ने सभी प्रकार से व्रज की मर्यादा एवं वहाँ के व्यवहार आदि से भी उद्धव जी को पूरी तौर से परिचित करा दिया है।[1]

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—उद्धव जी यात्रा के समय अत्यन्त ही भव्य एवं दिव्य रूप धारण किए हुए हैं। उनके मस्तक पर किरीट शोभा दे रहा है। वे अत्यन्त गौरवशाली पीताम्बर धारण किए हुए हैं। कानों में कुंडल शोभा पा रहे हैं और उनकी काया भी श्यामल है। अतः रथ में बैठकर जब वे गोकुल ग्राम में आते हैं, तब अतीव उत्कंठित ग्वाल-बालों, गायों, गोपियों आदि को उन्हें आता देखकर श्रीकृष्ण का ही भ्रम हो जाता है। परन्तु जैसे ही वे निकट आकर उन्हें ध्यान से देखते हैं, वैसे ही अपने प्रिय मुकुंद को वहाँ न पाकर वे अत्यन्त मलीन, खिन्न एवं विषादपूर्ण हो जाते हैं। उनकी भव्य श्यामली मूर्ति अनेक कामिनियों, कुमारियों, कार्य में रत गोपों आदि को अपनी ओर आकृष्ट तो कर लेती है, परन्तु समीप आकर वे सभी अत्यंत निराश हो जाते हैं और उनकी उमंग, उत्सुकता एवं तत्परता सभी शिथिलता में परिणत हो जाती हैं, क्योंकि समस्त नगरवासियों को फिर वही भ्रम होने लगता है कि अक्रूर की भाँति यह भी फिर व्रज के किसी रत्न को लेने के लिए यहाँ आया है।[2] अतः उद्धवजी ज्ञानी, विद्वान, भव्य आकृति-सम्पन्न एवं आनंद-मूर्ति होने पर भी गोकुल निवासियों के लिए आनंदप्रद सिद्ध नहीं होते।

व्रजजनों की व्यथा से व्यथित मौन मूर्ति—तदनंतर उद्धव हम एक ऐसे मौन साधे हुए ज्ञानी के रूप में दिखाई देते हैं, जो व्रज की प्रत्येक परिस्थिति का अध्ययन तो कर रहा है और वहाँ की करुण दशा देख-देखकर पिघलता भी जा रहा है परन्तु अपने मुख से कोई शब्द नहीं निकालता। सबकी सुनता है और अपनी कुछ नहीं कहता। उद्धव जी व्रज के खिन्न, उद्विग्न एवं शोक में निमग्न प्राणियों की व्यथा-कथा बड़े चाव से सुनते हैं। पहले माता यशोदा की करुण एवं वेदना से भरी रामकहानी सारी रात सुनते हैं, फिर वे यमुना के किनारे एक कुंज में बैठे हुए गोप बालकों की

---

१ प्रियप्रवास ६।१, ६–१२

२. वहीं ६।११३–१३५

एक-एक करके कथा सुनते हैं, जिसमे कृष्ण के यशोगान के साथ-साथ उनकी करुण कहानी भी भरी हुई है। तदनन्तर आभीरो का एक दल आकर उन्हे कृष्ण के सेवाकार्य, लोकहित, परोपकार आदि का वर्णन करके कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा प्रकट करता हुआ अपनी वियोग गाथा सुनाता है। इसके अनतर वे वृन्दावन मे जाकर सैकडो गोपकुमारो के मध्य बैठकर उनकी वियोग-कथा सुनते हैं, उनकी कृष्ण-मिलन की उत्सुकता, उत्कट अभिलाषा एव तीव्र आकाक्षा से भरी हुई बातें सुनकर गद्‌गद् हो जाते हैं और कथा सुनते-सुनते ही सध्या हो जाती है, परन्तु किसी को पता ही नही चलता कि समय कैसे निकल गया। इसके उपरान्त वे यमुना के किनारे एक रमणीक कुज मे टहलते हुए छिपकर एक गोपी के टीस, कराह, व्यग्रता एव उच्छ्वासो से भरे हुये वियोग सम्बन्धी उद्‌गारो को सुनते हैं, जिनमे वह कभी यमुना के नीले जल को सम्बोधन करके अपनी वेदना प्रकट करती है, कभी पुष्पो, कभी पवन, कभी कोकिल या भ्रमर आदि को सम्बोधन करके अपना विरह-निवेदन करती है। परन्तु इन सभी व्यथा-कथाओ को सुनकर तथा तीव्र-वेदनाओ का निरीक्षण करके भी उद्धव कुछ नहीं कहते, मौन रहना ही अधिक पसद करते हैं। कवि ने यद्यपि सकेत तो किया है कि उद्धव ने गोप, यशोदा, आदि को प्रबोध दिया, परन्तु वह क्या प्रबोध दिया अथवा कैसे समझाया इसका उल्लेख पहले नही मिलता।

गोपियो के प्रति कृष्ण के संदेश-वाहक—तदनन्तर उद्धव का वह वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आता है, जिसके लिए इनकी सृष्टि हुई है। ब्रज की बहुत कुछ विक्षिप्त दशा का अध्ययन करने के उपरान्त उद्धव का मौन भग हो जाता है और वे एक दिन अत्यन्त रमणीक कुज मे गोपबालाओ के मध्य बैठकर उन्हे कृष्ण का सदेश सुनाने लगते हैं। वे कहते हैं कि यह बताना अत्यत कठिन है कि अब कृष्ण यहा आवेंगे या नही, क्योकि समय की गति बडी गूढ़ है और कोई भी व्यक्ति यह नही जान सकता कि कब क्या होने वाला है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि श्रीकृष्ण अभी तक न वृन्दावन को भूले है न अपने प्रिय माता-पिता को भूले है, न गोप-गोपियो को ही भूल सके है और न प्रणय-प्रतिमा राधा को ही भूल पाये है। वे प्रतिक्षण सभी को याद करते रहते है। परन्तु वे तीन कोस की दूरी पर रह कर भी यहा मिलने क्यो नही आ पाते, इसके लिए उत्तर यही है कि अब वे पृथ्वी के सम्पूर्ण प्राणियो के हितैषी बन गये है और उनको विश्व का प्रेम प्राणो से भी अधिक प्रिय हो गया है। उनके सामने सदैव लोकहित विद्यमान रहता है, जिसने

प्रियसखी गोपियो को इस तरह समझाना, जिससे उनके हृदय की व्यथा एव वेदना दूर हो जाय, वे मेरी वियोगाग्नि मे जलना बन्द करके शान्ति प्राप्त करें और उन्हे सभी प्रकार सतोष प्राप्त हो। श्रीकृष्ण ने उद्धव को माता यशोदा, वृद्ध गोपेश तथा दिव्यागना राधा को विशेष रूप से समझाने के लिए भेजा है। साथ ही कृष्ण ने सभी प्रकार से व्रज की मर्यादा एव वहाँ के व्यवहार आदि से भी उद्धव जी को पूरी तौर से परिचित करा दिया है।[1]

प्रारम्भिक व्यक्तित्व—उद्धव जी यात्रा के समय अत्यन्त ही भव्य एव दिव्य रूप धारण किए हुए हैं। उनके मस्तक पर किरीट शोभा दे रहा है। वे अत्यन्त गौरवशाली पीताम्बर धारण किए हुए हैं। कानो मे कुडल शोभा पा रहे हैं और उनकी काया भी श्यामल है। अत रथ मे बैठकर जब वे गोकुल ग्राम मे आते है, तब अतीव उत्कठित ग्वाल-बालो, गायो, गोपियो आदि को उन्हें आता देखकर श्रीकृष्ण का ही भ्रम हो जाता है। परन्तु जैसे ही वे निकट आकर उन्हे ध्यान से देखते हैं, वैसे ही अपने प्रिय मुकुद को वहाँ न पाकर वे अत्यन्त मलीन, खिन्न एव विषादपूर्ण हो जाते है। उनकी भव्य श्यामली मूर्ति अनेक कामनियो, कुमारियो, कार्य मे रत गोपो आदि को अपनी ओर आकृष्ट तो कर लेती है, परन्तु समीप आकर वे सभी अत्यत निराश हो जाते हैं और उनकी उमग, उत्सुकता एव तत्परता सभी शिथिलता मे परिणत हो जाती हैं, क्योकि समस्त नगरवासियो को फिर वही भ्रम होने लगता है कि अक्रूर की भाँति यह भी फिर व्रज के किसी रत्न को लेने के लिए यहाँ आया है।[2] अत उद्धवजी ज्ञानी, विद्वान, भव्य आकृति-सम्पन्न एव आनद-मूर्ति होने पर भी गोकुल निवासियो के लिए आनदप्रद सिद्ध नही होते।

व्रजजनो की व्यथा से व्यथित मौन मूर्ति—तदनतर उद्धव हमें एक ऐसे मौन साधे हुए ज्ञानी के रूप मे दिखाई देते हैं, जो व्रज की प्रत्येक परिस्थिति का अध्ययन तो कर रहा है और वहाँ की करुण दशा देख-देखकर पिघलता भी जा रहा है परन्तु अपने मुख से कोई शब्द नही निकालता। सबकी सुनता है और अपनी कुछ नहीं कहता। उद्धव जी व्रज के खिन्न, उद्विग्न एव शोक मे निमग्न प्राणियो की व्यथा-कथा बड़े चाव से सुनते हैं। पहले माता यशोदा की करुण एव वेदना से भरी रामकहानी सारी रात सुनते हैं, फिर वे यमुना के किनारे एक कुज मे बैठे हुए गोप बालकों की

---

१. प्रियप्रवास ६।१, ६–१२

२. वही ६।११३–१३५

एक-एक करके कथा सुनते हैं, जिसमे कृष्ण के यशोगान के साथ-साथ उनकी करुण कहानी भी भरी हुई है। तदनन्तर आभीरो का एक दल आकर उन्हे कृष्ण के सेवाकार्य, लोकहित, परोपकार आदि का वर्णन करके कृष्ण के दर्शन की उत्कट लालसा प्रकट करता हुआ अपनी वियोग गाथा सुनाता है। इसके अनतर वे वृन्दावन मे जाकर सैकडो गोपकुमारो के मध्य बैठकर उनकी वियोग-कथा सुनते हैं, उनकी कृष्ण-मिलन की उत्सुकता, उत्कट अभिलाषा एव तीव्र आकाक्षा से भरी हुई बातें सुनकर गद्गद् हो जाते हैं और कथा सुनते-सुनते ही सध्या हो जाती है, परन्तु किसी को पता ही नही चलता कि समय कैसे निकल गया। इसके उपरान्त वे यमुना के किनारे एक रमणीक कुज मे टहलते हुए छिपकर एक गोपी के टीस, कराह, व्यग्रता एव उच्छ्वासो से भरे हुये वियोग सम्बन्धी उद्गारो को सुनते हैं, जिनमे वह कभी यमुना के नीले जल को सम्बोधन करके अपनी वेदना प्रकट करती है, कभी पुष्पो, कभी पवन, कभी कोकिल या भ्रमर आदि को सम्बोधन करके अपना विरह-निवेदन करती है। परन्तु इन सभी व्यथा-कथाओ को सुनकर तथा तीव्र-वेदनाओ का निरीक्षण करके भी उद्धव कुछ नहीं कहते, मौन रहना ही अधिक पसद करते हैं। कवि ने यद्यपि सकेत तो किया है कि उद्धव ने गोप, यशोदा, आदि को प्रबोध दिया, परन्तु वह क्या प्रबोध दिया अथवा कैसे समझाया इसका उल्लेख पहले नही मिलता।

गोपियो के प्रति कृष्ण के संदेश-वाहक—तदनन्तर उद्धव का वह वास्तविक स्वरूप हमारे सामने आता है, जिसके लिए इनकी सृष्टि हुई है। व्रज की बहुत कुछ विक्षिप्त दशा का अध्ययन करने के उपरान्त उद्धव का मौन भग हो जाता है और वे एक दिन अत्यन्त रमणीक कुज मे गोपबालाओ के मध्य बैठकर उन्हे कृष्ण का सदेश सुनाने लगते हैं। वे कहते ह कि यह बताना अत्यत कठिन है कि अब कृष्ण यहाँ आवेंगे या नहीं, क्योकि समय की गति बडी गूढ़ है और कोई भी व्यक्ति यह नही जान सकता कि कब क्या होने वाला है। परन्तु इतनी बात अवश्य है कि श्रीकृष्ण अभी तक न वृन्दावन को भूले हैं न अपने प्रिय माता-पिता को भूले है, न गोप-गोपियो को ही भूल सके हैं और न प्रणय-प्रतिमा राधा को ही भूल पाये है। वे प्रतिक्षण सभी को याद करते रहते है। परन्तु वे तीन कोस की दूरी पर रह कर भी यहाँ मिलने क्यो नहीं आ पाते, इसके लिए उत्तर यही है कि अब वे पृथ्वी के सम्पूर्ण प्राणियो के हितैषी बन गये हैं और उनको विश्व का प्रेम प्राणो से भी अधिक प्रिय हो गया है। उनके सामने सदैव लोकहित विद्यमान रहता है, जिसने

उनके सम्पूर्ण स्वार्थ एव विपुल-सुख को भी तुच्छ बना दिया है और इसी कारण वे सैकडो लालसाओ, लिप्साओ आदि को योगी की भाँति दमन करके जीवन-यापन करने लगे हैं। अब वे यदि अपने माता-पिता की सेवा करते समय किसी आर्तवाणी को सुन लेते हैं, तो तुरन्त उसे शरण देने को तैयार हो जाते हैं, दुःखी जनो की पूर्ण सहायता करते हैं और रात-दिन लोकहित मे लगे रहते है। उन्होने मुझे यह कह कर यहाँ भेजा है कि व्रज की समस्त बालिकाओ, वृद्धाओ आदि को यह समझा देना कि वे मोह-माया मे निमग्न न हो, किन्तु लोकसेवा, लोक-कल्याण, लोक की गरिमा आदि को भली प्रकार समझें और मेरे वियोग मे रात-दिन न रोती रहे, नहीं तो मुझे भी किसी क्षण चैन नही मिलेगा। अत अब तुम योग द्वारा अपने भ्रमित मन को धीरे-धीरे सम्हालने का प्रयत्न करो, जगत-हित के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को त्याग दो और वासना-मूर्तियो को देखकर उनमे न तो मोहित होने की चेष्टा करो और न अपने वास्तविक स्वरूप को ही भूलो। इस तरह तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायेगा और तुम्हे अनुपम शान्ति प्राप्त होगी।'[1] परन्तु विरह-विधुरा गोपियाँ उनकी योग सबधी बातें नही समझती और वे अपनी व्यथापूर्ण गाथा इस तरह उनके सम्मुख प्रस्तुत करती हैं कि बुद्धि-निधान उद्धव भी गोपियो के अलौकिक प्रेम की सराहना करते रह जाते हैं।

राधा के प्रति कृष्ण के सदेश-वाहक—तदनतर उद्धव राधा जी से कृष्ण का सदेश कहने के लिए बरसाने पधारते हैं और वहाँ एक तपोभूमि के समान अत्यत विचित्र वाटिका मे बैठी हुई प्रशान्त, म्लाना, दिव्यतामयी भक्ति-भावना की साकार मूर्ति रूपा राधा से कृष्ण का सदेश इस तरह कहते हैं—"हे राधे! कृष्ण जी ने कहा है कि विधाता ने ही आज हम दो प्रेमियो को पृथक् कर दिया है। आज मै एक ऐसे कठिन पथ का पान्थ हो गया हूँ कि अब मिलने की आशा नित्य दूर ही दूर होती जा रही है। हमारे बीच मे कुछ ऐसे गुरु गिरि आ पड़े है कि हम नही मिल पाते। परन्तु ध्यान रखो इस विधि के विधान मे भी कोई श्रेय का बीज अवश्य छिपा हुआ है। यद्यपि जगत मे सुख और भोग की लालसायें बडी प्रिय एव मधुर होती है परन्तु उनसे भी सुन्दर जगत-हित की लिप्सा होती है, क्योकि इसमे आत्म-उत्सर्ग भरा रहता है और जो प्राणी जगत-हित एव लोकसेवा मे लगा रहता है, वही इस पृथ्वी पर सच्चा आत्म त्यागी है। ऐसा व्यक्ति फिर विविध भोगो मे

---

१ प्रियप्रवास १४।१५-३६

लीन नहीं होता, वरन् उसे प्राणियो के हित एव उनकी सेवा मे ही सच्चा-सुख मिलता है और ऐसे ही आत्मत्यागी, परोपकारी एव लोकसेवक प्राणी का जगत मे जन्म लेना सफल है। अत सदैव ससार मे सर्वभूतोपकारी होकर स्वार्थोपरत रहना तथा सात्विकी कार्यों द्वारा जगत का कल्याण करते रहना ही श्रेयस्कर है।"[1] उद्धव का यह कथन कितना मार्मिक एव कितना प्रभावोत्पादक है कि राधा जी भी उस सदेश को सुनकर तुरन्त 'कठिन पथ की पान्थ' बन जाती हैं और विश्व-प्रेम मे लीन होकर लोकोपकार, लोकसेवा, लोककल्याण आदि को अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर सच्चे अर्थों मे अपने प्रियतम की आदर्श प्रियतमा के रूप मे जीवन व्यतीत करने लगती है। वास्तव मे सदेशवाहक वही सफल होता है, जिसके सदेश को सुनकर व्यक्ति अपना आचार-विचार बदल दें, कल्याण की ओर अग्रसर हो जायें और उस सदेश की एक उत्कृष्ट बात को अपने जीवन मे प्रयोग करने लगें।

उद्धव की कल्पना मे कवि का उद्देश्य—महाकवि हरिऔध ने उद्धव के परम्परागत रूप मे आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया है। अभी तक हिन्दी साहित्य मे उद्धव का चित्रण एक ज्ञानी, बुद्धि-कला-प्रवीण, नीरस एव प्रकाड पडित के रूप मे ही होता रहा है और यह दिखाया गया है कि इनकी ज्ञान एव योग की बातें ब्रज मे कोई सुनना पसन्द नही करता, अपितु ये स्वय ब्रज की गोपियो एव गोपो की भक्ति मे ऐसे लीन हो जाते हैं कि अपनी योग एव ज्ञान सबधी बातो को भूलकर भक्ति को ही अपना लेते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण मे उद्धवजी की बातें गोपियो ने ध्यान से तो सुनी है और आदर-सत्कार भी किया है, परन्तु वे योग एव ज्ञान के मार्ग को नही अपनाती, अपितु स्वय उद्धव कुछ महीनो तक ब्रज मे रहकर जब गोपियो के भक्तिपूर्ण व्यवहार तथा उनके प्रेममय जीवन को देखते हैं, तब वे प्रशसा करते-करते नही थकते, गोपियो को लक्ष्मी, भगवद्वाणी, श्रुति, उपनिषद् आदि से भी महान् बतलाते हैं और उनके चरणो की धूल सिर पर चढ़ाते है।[2] सूर आदि कृष्णभक्त कवियो ने उद्धव जी को योग एव ज्ञान का सदेश देते हुए तो दिखाया है, परन्तु गोपियाँ न तो उनका सदेश सुनती हैं और न उनका आदर करती है, अपितु उनकी खिल्ली उडाती हुई उनका मजाक बनाती है। यहाँ पर कवि हरिऔध ने भागवत के आधार पर उद्धव जी का स्वागत-सत्कार

---

१ प्रियप्रवास १६।३७-४६

२ श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।३६-६३

उनके सम्पूर्ण स्वार्थ एवं विपुल-सुख को भी तुच्छ बना दिया है और इसी कारण वे सैकडो लालसाओ, लिप्साओ आदि को योगी की भाँति दमन करके जीवन-यापन करने लगे हैं। अब वे यदि अपने माता-पिता की सेवा करते समय किसी आर्तवाणी को सुन लेते हैं, तो तुरन्त उसे शरण देने को तैयार हो जाते हैं, दुःखी जनो की पूर्ण सहायता करते हैं और रात-दिन लोकहित में लगे रहते हैं। उन्होंने मुझे यह कह कर यहाँ भेजा है कि व्रज की समस्त बालिकाओ, वृद्धाओ आदि को यह समझा देना कि वे मोह-माया मे निमग्न न हो, किन्तु लोकसेवा, लोक-कल्याण, लोक की गरिमा आदि को भली प्रकार समझें और मेरे वियोग मे रात-दिन न रोती रहे, नहीं तो मुझे भी किसी क्षण चैन नही मिलेगा। अतः अब तुम योग द्वारा अपने भ्रमित मन को धीरे-धीरे सम्हालने का प्रयत्न करो, जगत-हित के लिए अपने तुच्छ स्वार्थों को त्याग दो और वासना-मूर्तियो को देखकर उनमे न तो मोहित होने की चेष्टा करो और न अपने वास्तविक स्वरूप को ही भूलो। इस तरह तुम्हारा सारा दुःख दूर हो जायेगा और तुम्हे अनुपम शान्ति प्राप्त होगी।'[1] परन्तु विरह-विधुरा गोपियाँ उनकी योग सबधी बातें नही समझती और वे अपनी व्यथापूर्ण गाथा इस तरह उनके सम्मुख प्रस्तुत करती हैं कि बुद्धि-निधान उद्धव भी गोपियो के अलौकिक प्रेम की सराहना करते रह जाते है।

राधा के प्रति कृष्ण के सदेश-वाहक—तदनतर उद्धव राधा जी से कृष्ण का सदेश कहने के लिए बरसाने पधारते हैं और वहाँ एक तपोभूमि के समान अत्यत विचित्र वाटिका मे बैठी हुई प्रशान्त, म्लाना, दिव्यतामयी भक्ति-भावना की साकार मूर्ति रूपा राधा से कृष्ण का सदेश इस तरह कहते हैं—"हे राधे! कृष्ण जी ने कहा है कि विधाता ने ही आज हम दो प्रेमियो को पृथक् कर दिया है। आज मे एक ऐसे कठिन पथ का पान्थ हो गया हूँ कि अब मिलने की आशा नित्य दूर ही दूर होती जा रही है। हमारे बीच में कुछ ऐसे गुरु गिरि आ पड़े हैं कि हम नही मिल पाते। परन्तु ध्यान रखो इस विधि के विधान मे भी कोई श्रेय का बीज अवश्य छिपा हुआ है। यद्यपि जगत मे सुख और भोग की लालसायें बडी प्रिय एवं मधुर होती हैं परन्तु उनसे भी सुन्दर जगत-हित की लिप्सा होती है, क्योंकि इसमे आत्म-उत्सर्ग भरा रहता है और जो प्राणी जगत-हित एव लोकसेवा मे लगा रहता है, वही इस पृथ्वी पर सच्चा आत्म त्यागी है। ऐसा व्यक्ति फिर विविध भोगो मे

---

१ प्रियप्रवास १४।१५-३६

लीन नहीं होता, वरन् उसे प्राणियों के हित एवं उनकी सेवा में ही सच्चा-सुख मिलता है और ऐसे ही आत्मत्यागी, परोपकारी एवं लोकसेवक प्राणी का जगत में जन्म लेना सफल है। अतः सदैव संसार में सर्वभूतोपकारी होकर स्वार्थोपरत रहना तथा सात्विकी कार्यों द्वारा जगत का कल्याण करते रहना ही श्रेयस्कर है।"[1] उद्धव का यह कथन कितना मार्मिक एवं कितना प्रभावोत्पादक है कि राधा जी भी उस संदेश को सुनकर तुरन्त 'कठिन पथ की पान्थ' बन जाती हैं और विश्व-प्रेम में लीन होकर लोकोपकार, लोकसेवा, लोककल्याण आदि को अपने जीवन का उद्देश्य बनाकर सच्चे अर्थों में अपने प्रियतम की आदर्श प्रियतमा के रूप में जीवन व्यतीत करने लगती हैं। वास्तव में संदेशवाहक वही सफल होता है, जिसके संदेश को सुनकर व्यक्ति अपना आचार-विचार बदल दें, कल्याण की ओर अग्रसर हो जायें और उस संदेश की एक उत्कृष्ट बात को अपने जीवन में प्रयोग करने लगें।

उद्धव की कल्पना में कवि का उद्देश्य—महाकवि हरिऔध ने उद्धव के परम्परागत रूप में आमूल-चूल परिवर्तन प्रस्तुत किया है। अभी तक हिन्दी साहित्य में उद्धव का चित्रण एक ज्ञानी, बुद्धि-कला-प्रवीण, नीरस एवं प्रकांड पंडित के रूप में ही होता रहा है और यह दिखाया गया है कि इनकी ज्ञान एवं योग की बातें ब्रज में कोई सुनना पसन्द नहीं करता, अपितु ये स्वयं ब्रज की गोपियों एवं गोपों की भक्ति में ऐसे लीन हो जाते हैं कि अपनी योग एवं ज्ञान संबंधी बातों को भूलकर भक्ति को ही अपना लेते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में उद्धवजी की बातें गोपियों ने ध्यान से तो सुनी हैं और आदर-सत्कार भी किया है, परन्तु वे योग एवं ज्ञान के मार्ग को नहीं अपनातीं, अपितु स्वयं उद्धव कुछ महीनों तक ब्रज में रहकर जब गोपियों के भक्तिपूर्ण व्यवहार तथा उनके प्रेममय जीवन को देखते हैं, तब वे प्रशंसा करते-करते नहीं थकते, गोपियों को लक्ष्मी, भगवद्वाणी, श्रुति, उपनिषद् आदि से भी महान् बतलाते हैं और उनके चरणों की धूल सिर पर चढ़ाते हैं।[2] सूर आदि कृष्णभक्त कवियों ने उद्धव-जी को योग एवं ज्ञान का संदेश देते हुए तो दिखाया है, परन्तु गोपियाँ न तो उनका संदेश सुनती हैं और न उनका आदर करती हैं, अपितु उनकी खिल्ली उड़ाती हुई उनका मजाक बनाती हैं। यहाँ पर कवि हरिऔध ने भागवत के आधार पर उद्धव जी का स्वागत-सत्कार

---

१ प्रियप्रवास १६।३७-४६

२ श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।३६-६३

तो कराया है, परन्तु उससे भिन्न गोपियो को ध्यानपूर्वक सदेश सुनते हुए भी अकित किया है। इतना ही नही राधा को तो पूर्णतया उस सदेश का पालन करते हुए भी दिखाया है। यहाँ सदेश भी प्राचीन ग्रथो से सर्वथा भिन्न है। भागवत मे तो वेदाभ्यास, योग-साधन, आत्मानात्मविवेक, त्याग, तपस्या, हृदय-सयम और सत्य आदि की प्राप्ति निश्चल भाव मे योग द्वारा मन मे ही ब्रह्म रूप कृष्ण का ध्यान करने पर बताई गई है।[२] यही बात कृष्णभक्त कवियो ने भी कही है। परन्तु हरिऔधजी ने त्याग, तपस्या एव सेवा सहित लोकहित एव विश्व-प्रेम का सदेश उद्धव द्वारा कहलवाया है, जिसे अबोध गोपियाँ भले ही न अपनावें, परन्तु परम विदुषी राधा सहर्ष अपना लेती है। अत: कवि ने उद्धव को यहाँ एक ऐसे उपदेशक, उद्बोधक एव सदेशवाहक के रूप मे रखा है, जो युग के अनुकूल बातें समझाकर ब्रजजनो को ही नही, अपितु समस्त विश्व को लोकहित, लोकसेवा एव लोककल्याण के कार्यो मे लीन होने का सदेश दे रहा है। यदि ध्यान से देखा जाय तो उद्धव के रूप मे कवि हरिऔध ही अपने विचारो को व्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कवि ने उद्धव के मुख से लोकहित एव लोकप्रेम का सदेश–दिलाया है।,

सारांश यह है कि 'प्रियप्रवास' मे युगानुकूल आदर्श प्रस्तुत करने के लिए कवि ने श्रीकृष्ण के रूप मे एक भारत के सुपुत्र, यशस्वी एव मनस्वी, त्यागी-तपस्वी, लोकहितैपी महापुरुष का चित्रण किया है, कुमारी राधा के रूप मे देश की यशस्विनी-तपस्विनी, समाज की श्रेय-स्वरूपा, लोकसेविका, समाज-हितैपिणी, ध्येय-निष्ठा मे तत्पर भारतीय रमणी-रत्न का चित्रण किया है, नद जी के रूप मे आदर्श पिता, यशोदा जी के रूप मे आदर्श माता और उद्धव जी के रूप मे आदर्श उपदेशक या उद्बोधक का चित्रण किया है। 'प्रियप्रवास' के श्रीकृष्ण सभी प्रकार से शौर्य, औदार्य, दया-दाक्षिण्य, उत्साह, गाभीर्य, सहनशीलता, अहकारशून्यता, दृढ व्रत, स्थिरता आदि गुणो से विभूपित होने के कारण धीरोदात्त नायक है और राधा जी सरलता, शुचिता, तेजस्विता, क्षमा, दया, उदारता, शील, सौजन्य सेवा आदि से परिपूर्ण एक उच्चकोटि की धीरा नायिका हैं। अत 'प्रियप्रवास' का यह चरित्र-चित्रण सभी प्रकार से उसके महाकाव्यत्व का द्योतक है।

---

२ श्रीमद्भागवत पुराण १०।४७।२३-३७

(३) प्रकृति-चित्रण—मानव और प्रकृति का चिर साहचर्य है। मानव ने सर्वप्रथम प्रकृति की सुरम्य गोद मे ही अपनी आँखें खोली थी, उसी से प्रेरणा लेकर उसने विकास किया और उसी की सहायता से वह सभ्यता और सस्कृति के क्षेत्र मे आगे बढा। इसी कारण मानव और प्रकृति का अटूट सम्बन्ध है। भारत की प्राकृतिक छटा कुछ ऐसी अद्भुत एव आकर्षणमयी है कि यहाँ ज्ञान के सर्वश्रेष्ठ भण्डार वेदो, उपनिषदो आदि का प्रादुर्भाव प्रकृति के सुरम्य वातावरण मे ही हुआ। अतएव यहा मानव-मनोभावो को विभिन्न रूप से आन्दोलित करने मे प्रकृति का हाथ आदि काल से ही रहा है और इसी कारण यहाँ मानव-मस्तिष्क अपने विचारो, अपनी अनुभूतियो एव अपने हृदयोदधि के भाव-रत्नो को प्रकृति के माध्यम से प्रकट करता रहा है। उसे प्रकृति मे एक ऐसी चेतनता, नवीनता, स्फूर्ति, मनोमोहकता आदि के दर्शन हुए हैं, जिससे वह प्रकृति की अलौकिक छवि पर आकृष्ट होकर सदैव उसके यशोगान से अपनी वाणी को पवित्र बनाता चला आया है और उसके गूढ सकेतो, रहस्यपूर्ण व्यापारो एव अनुपम परिवर्तनो को देख-देखकर आनद-, विभोर होता हुआ अपने काव्य मे उसे उचित स्थान देता चला आया है। काव्यो मे यह अनुपम छवि-सम्पन्न प्रकृति-सुन्दरी नाना रूपो मे अभिव्यक्त हुई है, कहीं चेतन रूप मे और कही अचेतन रूप मे, कही स्वतन्त्र रूप मे और कहीं परतन्त्र रूप मे; कही सवेदनात्मक रूप मे और कहीं प्रतीकात्मक रूप मे। कहने का तात्पर्य यह है कि कवियों ने इस विविध रूपा प्रकृति की झाँकी नाना-प्रकार से अंकित की है। मुख्यतया यह प्रकृति निम्नलिखित रूपो मे भारतीय काव्य के अतर्गत वर्णित मिलती है —

(१) आलम्बन रूप मे,
(२) उद्दीपन रूप मे,
(३) सवेदनात्मक रूप मे,
(४) वातावरण-निर्माण के रूप मे,
(५) रहस्यात्मक रूप मे,
(६) प्रतीकात्मक रूप मे,
(७) अलकार-योजना के रूप मे,
(८) मानवीकरण के रूप मे,
(९) लोक-शिक्षा के रूप मे,
(१०) दूत या दूती रूप मे।

आलम्बन रूप मे—प्रकृति का आलम्बन या स्वतन्त्र रूप मे चित्रण प्रारम्भिक युग से ही मिलता है। वेदो मे अग्नि, पर्जन्य, सोम, उषा, पूषण, रुद्र, विष्णु आदि के सूक्तो मे प्रकृति के स्वतन्त्र चित्र ही अत्यत मार्मिकता एव सजीवता के साथ अकित है। इन चित्रो मे क्रान्तदर्शी ऋषियो ने प्रकृति के चेतन स्वरूप की अत्यत भव्य एव सश्लिष्ट झाँकियाँ प्रस्तुत की है। कहीं-कहीं पर केवल नाम गिनाकर या अर्थग्रहण कराकर भी छोड दिया गया है। इसी

लिखा है कि वहाँ जामुन, आम, कदम्ब, नीबू, फालसा, जम्बीर, आँवला, लीची, दाडिम, नारिकेल, इमिली, शीशम, इगुदी, नारगी, अमरूद, बेल, बेर, सागौन, शाल्ल, तमाल, ताल, कदली, शाल्मली आदि के वृक्ष खडे हुए थे।[1] इतना ही नही कवि ने यहाँ की वन-स्थली का वर्णन करते हुए वृन्दावन मे इलायची और लौंग की लताओ का वर्णन भी किया है,[2] किन्तु वहाँ के सुप्रसिद्ध करील का नाम तक नहीं लिया। इस तरह नाम-परिगणन-प्रणाली मे कवि ने कौशल तो प्रकट किया है, परन्तु ऐसा जान पडता है कि उसने कभी व्रजभूमि के दर्शन नही किये और वृक्षों, लताओ एव पेड-पौधो के नामो की सूची सामने रखकर सारा वर्णन किया है, क्योकि न तो व्रजभूमि मे सागौन और शाल होते हैं और न इलायची और लौंग। अत कवि का यह वर्णन सर्वथा हास्यास्पद है। इसके अतिरिक्त इस अर्थ-ग्रहण-प्रणाली के अन्तर्गत प्रकृति के भयकर पदार्थों के नाम गिनाने के लिए कवि ने तृणावर्तीय विडम्बना का उल्लेख करते हुए भयकर तूफ़ान का उल्लेख किया है, जिसमे आँधी, उपल-वृष्टि, बादलो की गडगडाहट, पेडो का उखडना, मकान की छतो का उडना आदि वर्णित है।[3] परन्तु इस चित्र मे कामायनी के प्रलय-वर्णन आदि की सी सश्लिष्टता नही है। इसी कारण इसे अर्थ-ग्रहण-प्रणाली के अन्तर्गत ही ले सकते हैं।

अत कवि ने आलम्बन रूप मे प्रकृति के कितने ही सजीव चित्र अकित किए हैं, जिनमे से निदाघ-वर्णन, वर्षा-वर्णन, शरद-वर्णन, और वसत-वर्णन, प्रमुख हैं[4] जिनकी कोमलता, सुकुमारता एव भीषणता पाठको के हृदय पर अपनी अमिट छाप छोड जाती हैं, जिनमे पर्याप्त गतिशीलता एव

---

१ जम्बू, अम्ब, कदम्ब निम्ब फलसा जम्बीर औ आँवला।
लीची दाडिम नारिकेल इमिली और शिशिपा इगुदी।
नारगी अमरूद बिल्व बदरी सागौन शालादि भी।
श्रेणीबद्ध तमाल ताल कदली औ शाल्मली ये खडे। —प्रियप्रवास ६।२५

२ कहीं स-एला-लतिका लवग की। ६।८८

३ प्रियप्रवास २।३६-३६

४. निदाघ-वर्णन देखिए एकादश सर्ग मे ५६ वें छद से ६४वें छद तक। वर्षा-वर्णन देखिए द्वादश सर्ग मे दूसरे छद से ७१ वें छद तक। शरद-वर्णन देखिए चतुर्दश सर्ग मे ७७ वें छद से १४१ वें छद तक और वसत-वर्णन देखिए षोडस सर्ग मे प्रथम छद से २८वें छद तक।

प्रेषणीयता विद्यमान हैं, जिनसे हमारे मानस मे प्रकृति-सुन्दरी की एक मनोहर मूर्ति अंकित हो जाती है और जो मानव के चिर साहचर्य के साथ-साथ उसके प्रति अद्भुत आकर्षण के द्योतक हैं।

उद्दीपन रूप मे—प्राचीन साहित्य-शास्त्रियो ने प्रकृति का उल्लेख उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत करके उसे मानव-मनोभावो को तीव्रता प्रदान करने वाली बतलाया है। इसी कारण प्राचीन काव्यो मे प्रकृति प्राय. सयोग के अवसर पर हर्ष एव उल्लास बढाती हुई तथा वियोग के अवसर पर सतप्त एव व्यथित बनाती हुई अधिक अकित की गई है। प्रियप्रवास मे भी प्रकृति के इस रूप की सजीव झाँकी विद्यमान है, क्योकि इस प्रणाली द्वारा कवि-जन मानव-मनोभावो की तीव्रता एव गहनता का वर्णन किया करते हैं। यहाँ पर हरिऔध जी ने श्रीकृष्ण के चले जाने पर गोपियो की विरह-व्यथा का वर्णन करने के लिए पचदशसर्ग मे प्रकृति के उद्दीपन रूप की अतीव मार्मिक झाँकी अकित की है। इस सर्ग के अतर्गत एक बाला विरह से अत्यत आकुल होकर एक वाटिका मे आती है, वहाँ आकर पाटल, जूही, चमेली, बेला, चम्पा आदि को विकसित देखकर उसके हृदय मे एक मर्मान्तिक व्यथा उत्पन्न होती है और वह इनको सम्बोधन करके अपनी विरह-व्यथा निवेदन करती है।[1] इसी तरह भ्रमर, मुरलिका, पवन यमुना आदि को देख कर उसकी भावनायें अत्यन्त उद्दीप्त होती हुई अकित की गई हैं और दिखाया गया है कि एक विरहिणी युवती को प्रकृति के ये सुखमय पदार्थ कितने दुखद एव सतापकारी प्रतीत होते हैं।[2] इसी तरह कवि ने काव्य के प्रारम्भ मे ही सध्या का जो आनन्ददायक वर्णन किया है, उसमे सयोग के समय की मादकता, प्रसन्नता, मनोरजकता, हास-उल्लास-प्रियता आदि विद्यमान हैं, क्योकि व्रज के जीवनाधार श्रीकृष्ण सुरम्य वेष-भूषा बनाकर अपने प्रिय ग्वालबालो, सुसज्जित धेनु एव वत्सो के साथ गोकुल मे पधारते हैं। भला श्रीकृष्ण की इस रूपमाधुरी के अवलोकन का समय क्यो न आह्लादकारी होगा।[3] इसी

---

१ आके तेरे निकट कुछ भी मोद पाती न मैं हूँ।
 तेरी तीखी महँक मुझको कष्टिता है बनाती।
 क्यों होती है सुरभि सुखदा-माधवी मल्लिका की।
 क्यों तेरी है दुखद मुझको पुष्प बेला बना तू। १५।२३

२ प्रियप्रवास १५।३-१२७

३ गगन-मण्डल मे रज छा गई। दश दिशा बहु-शब्दमयी हुई।
 विशद-गोकुल के प्रति-गेह मे। बह चला वर-स्रोत विनोद का। १।१०

एकान्तता एव खिन्नता का वातावरण प्रस्तुत करने के लिए गभीर एव नीरव प्रकृति की झाँकी अकित की जाती है और आनद, उल्लास, उमग, उत्साह आदि का वातावरण प्रस्तुत करने से लिए पूर्ण-विकसित एव उल्लसित प्रकृति की मनोरम झाँकी अकित की जाती है। 'प्रियप्रवास' मे कवि हरिऔध ने दोनो प्रकार के वातावरणो की सृष्टि के लिए प्रकृति के गभीर एव विकसित दोनो रूपो का अत्यन्त भव्यता, उज्ज्वलता एव सजीवता के साथ चित्रण किया है। यहाँ तृतीय सर्ग के आरम्भ मे सुनसान निशीथ का अत्यत नीरवता, निश्चलता, शान्ति एव विकटता से युक्त प्रलयकाल जैसा वर्णन एक विषाद, शोक एव खिन्नता के वातावरण की सृष्टि कर रहा है।[1] क्योकि इस क्षण प्रकृति की नीरवता एव विषादमयी स्थिति की भाँति नद-निकेतन मे नद और यशोदा भी विषाद एव खिन्नता से परिपूर्ण हैं और सारी व्रजभूमि भी शोक मे लीन होकर मौन बनी हुई है। इसी तरह कृष्ण के गमन की वेला के समय व्याप्त उदासी, खिन्नता एव शोक के वातावरण की सृष्टि के लिए कवि ने पचम सर्ग के प्रारम्भ मे यमुना की तरगो मे व्यथाओ का उठना, पवन का शोक से कपित होकर वहना, वृक्षो और रात्रि का ओस के रूप मे आँसू वहाना, शोक के कारण वृक्षो का फूलो को गिराना, यमुना के जल का नीलिमा के रूप मे शोक से परिपूर्ण होना आदि लिखा है[2] और बताया है कि भौंरे भी भ्रमित से होकर कुंजो से निकलकर घूम रहे थे तथा कुमुदिनी भी किसी छोटी-विरह-घडी को सामने देखकर कान्ति-हीन एव मलीन होती हुई अवनत मुखी हो रही थी।[3] इसी तरह कवि ने राधा जी की तपोवन जैसी सुरम्य एव शान्त वाटिका के सात्विक वातावरण का निर्माण करने के लिए वहाँ वसत मे भी

१, समय था सुनसान निशीथ का। अटल भूतल मे तम-राज्य था।
प्रलयकाल समान प्रसुप्त हो। प्रकृति निश्चल, नीरव, शांत थी।

+ + + +

इस तमोमय मौन निशीथ की। सहज-नीरवता क्षिति-व्यापिनी।
कलुषिता व्रज की महि के लिए। तनिक थी न विरामप्रदायिनी।३।१-११

२ प्रियप्रवास ५।१-१०

३ सारा नीला सलिल सरि का शोक छाया पगा था।
कजों मे से मधुप कढ़ के घूमते थे भ्रमे से।
मानो खोटी-विरह-घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनत-मुखी कान्तिहीना मलीना। ५।१०

पुष्पों का शान्ति सहित विकसित होना, भौंरों का शान्ति सहित उड़ना तथा नीरवता, संयम एवं शान्ति के साथ मकरंद पान करना, पक्षियों का संयम पूर्वक पादपों पर विराजना, कोकिल का वहाँ कभी न कूकना आदि लिखा है।[1] अतः कवि ने 'प्रियप्रवास' में कितने ही स्थलों पर अतीव सुन्दर एवं मनोमोहक वातावरण की सृष्टि की है तथा आगामी वर्णनों के अनुकूल प्रकृति के गंभीर एवं प्रसन्न रूप का चित्रण किया है। ये सभी वर्णन कवि के कला-चातुर्य एवं भाव-निपुणता के द्योतक हैं।

रहस्यात्मक रूप में—प्रायः कविजन उस विश्वव्यापक विराट् सत्ता की ओर संकेत करने के लिए प्रकृति के कण-कण में उसकी स्थिति का होना बताया करते हैं और एक रहस्यात्मक ढंग से उस व्याप्त सत्ता की ओर संकेत किया करते हैं। वह अलक्ष्य शक्ति अत्यन्त गूढ, रहस्यमयी एवं अज्ञात है। उसकी खोज में उत्सुक कवि जब प्रकृति की ओर अपनी रहस्यमयी दृष्टि डालता है और उसके कण-कण में व्याप्त उस विराट् सत्ता को देखने-दिखाने की बात करता है, वहीं प्रकृति के रहस्यात्मक रूप का चित्रण होता है। परन्तु कवि हरिऔध तो स्वभाव से ही प्रकृति की मनोरम छटा में व्याप्त विराट् सत्ता का दर्शन करने वाले हैं। वे एक जिज्ञासु एवं उत्सुक कवि की तरह उस सत्ता को कहीं खोजते नहीं फिरते, अपितु उन्हें तो खिले हुए प्रसून-वृन्द, मधुर गुंजन युक्त भौंरे, नदियों के मधुर कल-कल, चन्द्र-ज्योत्स्ना, पक्षियों के मधुर कलरव आदि में सर्वत्र उस विराट् सत्ता का आभास मिलता रहता था और प्रकृति के इन सुरम्य पदार्थों को देख-देखकर वे प्रायः उन्मत्त-प्राय होते रहते थे।[2] इसी कारण प्रकृति के रहस्यपूर्ण वर्णन में वे कभी लिप्त नहीं हुए, अपितु उसके प्रत्यक्ष रूप-सौंदर्य की अनुपम छवि पर अनुरक्त होकर सदैव उसकी रूप-माधुरी का वर्णन करते रहे। अतः 'प्रियप्रवास' में प्रकृति के रहस्यात्मक रूप को देखने की चेष्टा करना व्यर्थ है।

प्रतीकात्मक रूप में—कभी-कभी प्रकृति के उपादानों का प्रयोग किसी भाव, किसी परिस्थिति या किसी अवस्था के द्योतकों के रूप में किया जाता है। इस प्रयोग में बाह्य एवं आन्तरिक साम्य का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। कहीं-कहीं तो बाह्य साम्य की अपेक्षा आन्तरिक साम्य अत्यंत प्रभावशाली एवं मार्मिक होता है। अतः बाह्य साधर्म्य या सादृश्य के प्रयत्न

१. प्रियप्रवास १६।२३–३१
२ महाकवि हरिऔध, पृ० २५

अल्प रहने पर या न रहने पर भी जहाँ आभ्यन्तर प्रभाव-साम्य को लेकर प्रकृति के उपादानो का सन्निवेश उपमान रूप मे किया जाता है वहाँ प्रकृति के प्रतीकात्मक रूप के दर्शन होते हैं। जैसे, सुख, आनन्द, प्रफुल्लता आदि के लिए उषा, प्रभात या प्रकाश का उल्लेख होना, यौवन के लिए मधुकाल, वसत आदि का वर्णन होना, प्रिया के स्थान पर मुकुल, प्रेमी के स्थान पर भ्रमर, विषाद या शोक के स्थान पर अंधकार, सध्या या पतझड, निराशा के लिए प्रलय-घटा आदि और आकुलता या क्षोभ के लिए झझा, तूफान आदि का प्रयोग होता है। इस प्रणाली का प्रचार छायावाद की कविताओ का प्रचलन होने के उपरान्त अधिक हुआ है। इससे पूर्व यहाँ यह प्रयोग अत्यन्त अल्प मात्रा मे मिलता है। जहाँ कही मिलता है, वह रूपकातिशयोक्ति-अलकार के रूप मे मिलता है, जिसमे उपमेय के स्थान पर उसका प्रतीक उपमान प्रयुक्त होकर चमत्कार उत्पन्न किया करता है। जैसे सध्या की अरुणिमा के उपरान्त कालिमा के अचानक घिर आने का वर्णन करके कवि ने व्रजभूमि के आनदोल्लास के समाप्त होने तथा शोक एव निराशा के घिर आने का उल्लेख करते हुए लिखा है कि उस भयकर अधकार मे उनका शशि बहु कला-युक्त होकर भी विलुप्त होता चला जा रहा था।[1] इस वर्णन मे 'शशि' श्रीकृष्ण का प्रतीक और 'कलायें' उनके गुणो की प्रतीक के रूप मे वर्णित हैं। इसलिए 'प्रियप्रवास' मे यद्यपि प्रकृति प्रतीकात्मक रूप मे अत्यत अल्प मात्रा मे मिलती है फिर भी जहाँ मिलती है, वहाँ छायावादी कवियो जैसी आन्तरिक प्रभाव-साम्य जैसी योजनायें नही दिखाई देती।

अलकार-योजना के रूप मे—प्रकृति का प्रयोग अलकार-योजना के लिए तो सर्वाधिक मिलता है। सम्पूर्ण प्राचीन एव अर्वाचीन साहित्य मे प्राकृतिक उपमानो के द्वारा ही सौंदर्य, माधुर्य, औदार्य आदि के चित्र अकित किए गए हैं, अगो की सुकुमारता, सजलता, मसृणता, कठोरता आदि का उल्लेख किया गया है और इन्ही के साधर्म्य एव सादृश्य द्वारा मनोभावो का मानवीकरण करते हुए उनके रहस्यो का उद्घाटन किया गया है। प्रायः सभी सौन्दर्य-चित्र प्रकृति के उपमानो द्वारा ही काव्य मे चित्रित किये जाते

---

१. बहु भयंकर थी वह यामिनी।
विलपते व्रज भूतल के लिए।
तिमिर मे जिसके उसका शशी।
बहु कला-युत होकर खो चला ॥२।६१

रहे हैं। इसलिए प्रकृति के कुछ उपमान तो इतने रूढ़ि एवं परम्परागत हो गये हैं कि आदिकाल से लेकर अद्यावधि उनका ही प्रयोग देखा जाता है। 'प्रियप्रवास' में भी कवि ने उसी प्राचीन रूढ़िवादिता का आश्रय लिया है। परन्तु उन रूढ़िगत उपमानों का प्रयोग भी इतनी सजीवता के साथ किया गया है कि कवि-कौशल कहीं भी विशृंखलित एवं स्खलित सा नहीं दिखाई देता। उदाहरण के लिए राधा के सौन्दर्य का चित्र अंकित करते हुए कवि ने उसे सुयश के सौरभ से सम्पन्न रूप के उद्यान की प्रफुल्ल कली, राकेन्दु जैसे मुख वाली, मृगदृगी, सोने की कमनीय कान्ति जैसी अंग की कान्ति वाली, सरोज जैसे चरण वाली, बिम्बा और विद्रुम को भी अपने रक्तिम ओष्ठों से अक्रान्त करने वाली, हर्षोत्फुल्ल मुखारविंद युक्त आदि कहा है।[1] इस सौंदर्य-चित्र में प्रकृति के विभिन्न सुन्दर एवं परम्परागत उपमानों का प्रयोग हुआ है। ऐसे ही श्रीकृष्ण के रूप-सौंदर्य की सुरम्य झांकी अंकित करते हुए कवि ने उन्हें जलद-तन, फूले श्यामकमल जैसे गात वाले, वृषभ-वर जैसे सजीले कंधों से युक्त, कलभकर जैसी बाहु वाले, कम्बु-कंठ से सुशोभित, तारों मध्य राकेश की भांति सुसज्जित आदि कहा है।[2] इस वर्णन में भी प्रकृति के रूढ़िगत उपमानों को कवि ने बड़ी सजीवता के साथ सजाकर उन्हें उचित रूप में अंकित किया है। इसी तरह प्रकृति से सुन्दर-सुन्दर उदाहरण लेकर भी कवि ने अपनी बातों को अत्यंत भव्य रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए जैसे वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर स्वाति के सलिल-कण पाकर परम तृषिता चातकी थोड़ी सी शान्ति प्राप्त करती है, वैसे ही अपने पुत्र का दो दिनों में आना श्रवण करके मूर्च्छित एवं अचेत होती हुई यशोदा जी थोड़ी आश्वासिता सी दिखाई देने लगीं।[3] इस तरह उदाहरणों, रूपकों, समानताओं, असमानताओं आदि के लिए कवि ने प्रकृति का प्रयोग करते हुए अत्यंत पुष्ट एवं औचित्यपूर्ण अलंकार-योजना की है। कहीं-कहीं सांगरूपक बनाने के लिए कवि ने जो प्रकृति के सुरम्य उपादानों का प्रयोग किया है, वह कवि के

---

१ प्रियप्रवास ४।३-८

२. वही ६।५६-६०

३ जैसे स्वाती-सलिल-कण पा वृष्टि का काल बीते।
थोड़ी सी है परम तृषिता चातकी शान्ति पाती।
वैसे आना श्रवण करके पुत्र का दो दिनों में।
सज्ञा खोती यशुमति हुई स्वल्प आश्वासिता सी। ७।६२

अनुपम कौशल के साथ-साथ उसके सूक्ष्म-निरीक्षण का भी परिचायक है। जैसे हृदय मे उद्यान का आरोप करते हुए कवि ने कल्पना को क्यारियाँ, भावो को कुसुम, उत्साहो को विपुल-वृक्ष, सच्चिता को वापिका, उमगो को कलियाँ, वासना को वेलें, सद्वाछा को पक्षी आदि बताया है।[1] यहाँ कवि ने अलकार-योजना के लिए प्रकृति के उपमानो का प्रयोग करते हुए मनोभावो के भी अत्यत सजीव एव मार्मिक चित्र अकित किए हैं जिनसे पाठक हृदय-गत भावो, कल्पनाओ, उमगो आदि के बारे मे बडी सुगमता से समझ सकता है, क्योकि ये सभी मनोभाव बिम्ब रूप मे उसके सामने अकित हो जाते हैं।

मानवीकरण रूप मे—मानवीकरण से तात्पर्य अग्रेजी के परसोनीफिकेशन से है। इसमे प्रकृति के अन्दर मानव-व्यापारो का आरोप करके उसकी गति-विधियो का उल्लेख किया जाता है। यद्यपि इस प्रणाली का श्रीगणेश ऋग्वेद मे विद्यमान है, क्योकि वहाँ अग्नि, पर्जन्य, पूषण, सोम, सूर्य आदि प्राकृतिक पदार्थों की नराकार कल्पना करते हुए उन्हे अनेक भुजा, अनेक मुख, अनेक जिह्वा आदि से युक्त माना है और मानवो की भाँति ही हव्य पदार्थों का सेवन करते हुए अकित किया गया है। कालान्तर मे इस प्रणाली का प्रचार कम होता गया। परन्तु आधुनिक युग मे प्रकृति-चित्रण की यह प्रणाली सर्वाधिक प्रचलित है। इसका प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक कवि प्रकृति को एक अखड चेतना-शक्ति मानते हैं। इसी कारण उन्हे प्रकृति मे सर्वत्र चेतनता विलास करती हुई दिखाई देती है और वे मानवोचित व्यापारो से युक्त देखते हुए अपने काव्यो मे उसे स्थान देते हैं। हरिऔध जी ने भी प्रकृति पर मानव-व्यापारो का आरोप करते हुए 'प्रियप्रवास' मे कितने ही स्थलो पर उसका वर्णन किया है। व्रज के रमणीक गोवर्द्धन पर्वत को अपना सहर्ष ऊँचा शीश करके सर्वोच्चता के दप एव गर्व से परिपूर्ण एक गिरिराज या पर्वतो के सम्राट् की भाँति अकित किया है, जो बडी क्षमाशीलता, निर्भीकता, उच्चता, शास्ता-समा-भगिमा आदि के साथ अपने निम्नस्थ भू-भाग पर शासन कर रहा है।[2] वृन्दावन मे नारगी के वृक्ष को सोने के कई तमगे लगाये हुए हरे-हरे सजीले वस्त्र पहने हुए बडे अनूठेपन के साथ खडा हुआ अकित किया है।[3] इसी तरह निम्ब, लीची, दाडिम, बिल्व, ताल, शाल्मली, मधूक वट

---

१. प्रियप्रवास १०।४८-४६
२ वही ६।१५-२३
३ सुवर्ण-ढाले-तमगे कई लगा। हरे सजीले निज वस्त्र को सजे।
बडे अनूठेपन साथ था खड़ा। महा-रंगीला तरु नागरग का। ६।४०

आदि वृक्षो का वर्णन भी मानवोचित व्यापारो से युक्त करके किया गया है।[1] अत कवि ने प्रकृति मे सर्वत्र चेतना के दर्शन किए हैं और इसी कारण उसे रजनी आँसू बहाती हुई, यमुना शोक प्रकट करती हुई, चन्द्र मुस्कुराता हुआ, सूर्य मारे लाज के छिपता हुआ, वृक्ष और लतायें रुदन करते हुए आदि दिखाई दिये है। निस्सदेह 'प्रियप्रवास' का मानवीकरण-रूप-मे प्रकृति-चित्रण अत्यन्त मार्मिक एवं चित्ताकर्षक है।

लोक-शिक्षा रूप मे—प्राकृतिक परिवर्तनो एव प्रकृति के उत्थान व पतन आदि के द्वारा जनसाधारण को शिक्षा देने का कार्य प्राय सभी महाकवियो ने किया है। प्रकृति के द्वारा जितनी सरलता एव स्पष्टता से किसी को उपदेश दिया जा सकता है, उतना अन्य किसी द्वारा सभव नही, क्योकि प्रकृति के इन परिवर्तनो को सभी व्यक्ति दिन-रात देखते रहते हैं और मानव-जीवन का प्रकृति से अटूट सम्बन्ध भी है। इसलिए जो-जो बातें प्रकृति मे दिखाई देती हैं, उन्हे बताकर कविजन मानव को सचेत एव सावधान किया करते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का वर्षा-वर्णन इसका ज्वलन्त प्रमाण है, क्योकि वहाँ महाकवि गोस्वामी ने वर्षाकालीन विभिन्न दशाओ, परिस्थितियो एव प्राकृतिक परिवर्तनो द्वारा सर्वसाधारण को बडी ही सरलता से सदुपदेश दिये ह।[2] यही बात शरद ऋतु के वर्णन मे भी है। वहाँ पर भी कवि ने "जल सकोच विकल भईं मीना। अबुध कुटुम्बी जिमि धन हीना" अथवा "चक्रवाक मन दुख निसि पेखी। जिमि दुर्जन पर सम्पति देखी।"[3] आदि कहकर पर्याप्त उपदेश दिये हैं। कविवर हरिऔध जी ने भी लोक-शिक्षा के लिए प्रकृति का उपयोग किया है। जैसे, बेर का वृक्ष अपने काँटो से स्वय विदीर्ण होकर इस बात की ओर सकेत कर रहा था कि बुरे अग वाले प्राय. अत्यन्त कष्टदायक होते हैं।[4] इसी तरह आँवले का वृक्ष कच्चे फल से लदकर तथा अपने चचल पत्तो को हिलाता हुआ इस बात की सूचना दे रहा था कि चचल स्वभाव वाले उतावले व्यक्तियो की करतूतें ऐसी ही स्थिरता-विहीन होती हैं और उन्हें बहुधा अपनी चचल-करतूतो के कारण परिपक्व फल नो

१ प्रियप्रवास ६।३०–५८

२. किष्किंधा काड दोहा १४ से १५ तक

३ वही—दोहा १६ से १७ तक

४ कु-अगजो की बहु-कष्टदायिता। बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्व-कटको से स्वयमेव सर्वदा। विदारिता हो बदरी-द्रुमावली। ६।४३

नही मिलता अथवा पूर्ण सफलता प्राप्त नही होती ।[1] इसी तरह की बहुत सी उपदेशात्मक एव शिक्षाप्रद बातो को कवि ने प्रकृति के माध्यम द्वारा व्यक्त किया है । कवि का यह प्रकृति-चित्रण भी विशद एव सरस है और सर्वसाधारण के जीवन को उन्नत एव विशाल बनाने की चेष्टा से परिपूर्ण है । कवि का प्रमुख उद्देश्य भी यही है कि प्रकृति की विभिन्न शिक्षाप्रद बातो का उद्घाटन करके जनसाधारण को अपनी भूलो, त्रुटियो एव दुर्बलताओ से अवगत कराया जाय और नैतिकता एव सदाचार के मार्ग पर अग्रसर किया जाय । कहने की आवश्यकता नही कि कवि अपने इस उद्देश्य की पूर्ति मे यहाँ सर्वथा सचेत एव सावधान दिखाई देता है ।

दूती रूप में—प्रकृति-चित्रण की यह परिपाटी भी अत्यत प्राचीन है । कवि-कुल-गुरु कालिदास का 'मेघदूत' इसका ज्वलन्त प्रमाण है । इसी के अनुकरण पर आगे चलकर धोयिक का पवनदूत तथा हसदूत, पदाकदूत, कोकिल-दूत आदि कितने ही काव्य लिखे गये । इनके अतिरिक्त काग, कबूतर, हस, वानर, कोकिल, भ्रमर, आदि को दूत बनाकर अपने प्रियतम या अपनी प्रियतमा के पास सदेश भेजने की प्रथा का उल्लेख भी सस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के प्राचीन काव्यो मे मिल जाता है । हरिऔध जी ने भी इसी प्रणाली का प्रयोग करते हुए पवन द्वारा राधा का सदेश कृष्णजी के पास भेजने का वर्णन किया है । वह पहले तो उस प्रात कालीन शीतल पवन पर रुष्ट होती है, क्योकि वह विरहिणी राधा को व्यथित बनाती हुई उसके सम्पूर्ण शरीर मे आग सी लगा देती है । परन्तु फिर राधा उसी शीतल पवन को अपना सदेशा लेकर मधुवन मे श्रीकृष्णजी के पास भेजती है, उसकी बडी प्रशसा करती है और जैसे दूत या दूती को सिखाया-पढाया जाता है, उसी तरह खूब सिखा-पढा कर एव नाना प्रकार की युक्तियाँ समझाकर अपना सदेश ले जाने की विनय करती है । प्राय होता भी यही है कि ससार मे जिससे काम निकालना होता है, उसकी चापलूसी भी की जाती है । इसीलिए राधा यहाँ पवन की चापलूसी करती हुई यही कहती है कि "तू सभी स्थानो पर जाती रहती है, । तू बडी वेगवाली है, । तू बडी ही सीधी, तरल हृदयवाली तथा तापो को नष्ट करने वाली है । मुझे तेरा बडा भरोसा है । अरी बहिन !

---

१ [1] विशा फलों की बहुधा अपक्वता । स्वपत्तियों की स्थिरता-विहीनता ।
बता रहा था चल चित्तवृत्ति के । उतावलों की करतूत आँवला ॥६।३२

जैसे बने वैसे मेरी बिगड़ी हुई बात को बनादे।"[1] इस तरह कवि ने इस पवन को दूती के रूप मे चित्रित करते हुए उसे मथुरा मे श्रीकृष्ण के पास विरहिणी राधा का विरह-जन्य वेदना से भरा हुआ संदेश लेकर जाता हुआ अंकित किया है।[2] इतना ही नहीं कवि ने आगे चलकर कोयल को भी दूती बनाकर भेजने का वर्णन किया है। एक विरहिणी गोपी कुंज मे कूकती हुई कोकिल के पास आकर यही कहती है कि तू मुझे अपनी कूक द्वारा क्यो व्यथित कर रही है। किन्तु जान पडता है कि तू भी मेरे प्रियतम कृष्ण के विरह के कारण मलिन, कातर एव दुखी होकर अधीर स्वर मे बोल रही है। इसलिए तू तुरन्त मथुरा चली जा और अपने इस 'स्व-वेधी-स्वर' को प्रियतम को जाकर सुना, जिससे वे भी वियोग की कठोरता, व्यापकता एव गभीरता से परिचित हो जायें।"[3] इसी तरह वह विरहिणी आगे चलकर यमुना के किनारे खडी होकर अत्यत व्यथित होती हुई यमुना को भी श्रीकृष्ण के समीप अपना व्यथापूर्ण सदेश लेकर जाने का आग्रह करती है। वह कहती है कि "तू बडी ही तेज बहती चली जा रही है। अरी यमुने! देख, तेरे तट पर आकर मेरे पति कृष्ण बडे ही भावो से युक्त होकर नित्य प्रति घूमा करते हैं। एक दिन उनको प्राप्त करके अपनी कल-कल ध्वनि द्वारा मेरी सारी व्यथाओ को बडे प्रेम के साथ जी से उन्हे सुना देना।"[4] इस तरह कवि ने

---

१ तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बडी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है।
मैं हूँ जी मे बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ऐ भगिनि बिगडी बात-मेरी-बनादे।६।३५

२ प्रियप्रवास ६।३३-८२

३ नहीं-नहीं है मुझको बता रही। नितान्त मेरे स्वर की अधीरता।
वियोग से है प्रिय के तुझे मिली। अवाञ्छिता, कातरता, मलीनता।
अत प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा। सुना स्व-वेधी-स्वर जीवितेश को।
अभिज्ञ वे हो जिससे वियोग की। कठोरता, व्यापकता, गभीरता।
—१५।९९-१००

४ तव तट पर आके नित्य ही कान्त मेरे।
पुलकित बन भावो मे पगे घूमते हैं।
यक दिन उनको पा प्रीत जी से सुनाना।
कल-ध्वनि द्वारा सर्व मेरी व्यथायें। १५।१२४

पवन, कोकिल, यमुना आदि के द्वारा सदेश भेजने का वर्णन करते हुए प्रकृति के दूती रूप का अत्यत भव्य एव चित्ताकर्षक वर्णन किया है।

साराश यह है कि हरिग्रौध जी ने प्रकृति-चित्रण की समस्त प्रचलित पद्धतियो का प्रयोग करते हुए प्रकृति के नाना रूपो की भव्य झाँकी अकित की है, उसके चेतन एव अचेतन विभिन्न पदार्थों का दिग्दर्शन कराया है और उसके मानवोचित व्यापारो, चेष्टाओ, हलचलो आदि का उल्लेख करते हुए प्रकृति की अन्तर्बाह्य झलक दिखाने की सुन्दर चेष्टा की है। परन्तु कवि का यह प्रकृति-चित्रण परम्परागत है, उसमे हृदय की तल्लीनता, स्वाभाविकता एव भावुकता का अभाव है। ऐसा कही नही जान पडता कि कवि प्रकृति मे रम गया हो। वह प्रकृति की झाँकी प्राय कल्पना के सहारे ही अकित करता है, उसका प्रत्यक्ष साक्षात्कार नहीं दिखाई देता, अन्यथा वह ब्रज की मनोरम छटा अकित करते हुए वहाँ के प्रसिद्ध पौधे करील को न भूल जाता। रसखान कवि तो "कोटिक हू कलधौत के धाम करील की कुजन ऊपर वारौं" कहकर करील के ऊपर इतने लट्टू दिखाई देते हैं, परन्तु हरिऔध वृन्दावन की वनस्थली मे लौंग-इलायची के वृक्षो को तो देख लेते हैं, परन्तु वहाँ पैंड-पैंड पर खडे करील उन्हे दिखाई नही देते। ऐसा जान पडता है कि कवि कभी ब्रजभूमि मे नही पधारे थे। हाँ, इतना अवश्य है कि कवि ने आगे चलकर अपने इस दोष का परिमार्जन कर लिया है और "करील है कामद कल्प-वृक्ष से"[1] कह कर करील को कल्प-वृक्ष के समान बताते हुए ब्रज मे उसकी उपस्थिति का वर्णन कर दिया है। इसके अतिरिक्त कवि ने "काँटे ने कमनीय कुज कृति मे क्या है न कोई कमी"[2]-कहकर कमल मे भी काँटे उगा दिये हैं, जबकि कमल प्राय कटक हीन ही होता है और गुलाब मे काँटे होते हैं। कवि का यह कथन भी उसके प्रकृति-सबधी ज्ञान की अपूर्णता का द्योतक है। अत यही जान पडता है कि कवि ने तत्कालीन प्रचलित पद्धतियो का पालन करते हुए प्रकृति के विभिन्न रूपो का वर्णन तो अवश्य किया है, परन्तु वे प्रकृति के अन्त स्थल मे रम नही सके हैं। उन्हें प्रकृति और मानव की चेष्टाओ मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव तो दिखाई दिए हैं, परन्तु उन भावो के वर्णन मे कवि उतना सफल नहीं दिखाई देता, जितने कि प्रसाद, पत आदि छायावादी कवि आगे चलकर सफल हुए हैं। फिर भी कवि ने प्रकृति के विराट रूप का दर्शन

---

१ प्रियप्रवास १५।६५

२ वही ८।२०

करते हुए उसे अपनी भावनाओं का आवरण पहनाकर अत्यंत विशद एवं व्यापक रूप में चित्रित किया है और उनका यह चित्रण आगामी छायावादी कवियों के लिए अधिकाधिक मार्गदर्शक सिद्ध हुआ है।

(४) युग-जीवन का चित्रण—हरिऔध जी ने अपने युग की परिस्थितियों, मान्यताओं एवं आन्दोलनों का भली प्रकार अध्ययन किया था। वे एक जागरूक कलाकार की भांति उन सभी हलचलों को अपनी कला के माध्यम से समय-समय पर व्यक्त भी करते रहते थे। सरस्वती आदि पत्रिकाओं में प्रकाशित उनकी रचनायें इसकी ज्वलन्त प्रमाण हैं, जिनके संग्रह चोखे चौपदे, चुभते चौपदे आदि के नाम से आगे चलकर प्रकाशित हुए, जिन्हें पढ़कर एक साधारण व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकता है कि कवि को अपने युग की दुर्बलताओं, विषमताओं, विभीषिकाओं एवं त्रुटियों का कितना पता है और वह कितना सजग एवं सचेत होकर उन्हें दूर करने के लिए प्रयत्न करता हुआ दिखाई देता है। उस समय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवाद का बोलबाला था। ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी आदि संस्थायें जन-साधारण के हृदयों में पारस्परिक मनोमालिन्य, ऊँच-नीच, भेद-भाव, छूआ-छूत आदि की भावनाओं को दूर करके सहृदयता, एकता, सेवा, समानता, मानवता, विश्व-बन्धुत्व आदि का प्रचार कर रही थीं। युग के इन समस्त सांस्कृतिक विचारों का उल्लेख विस्तार-पूर्वक आगामी अध्याय में किया जायगा। यहाँ इतना ही बताना पर्याप्त है कि कवि हरिऔध भी युग के इन विचारों से पूर्णतया प्रभावित हुए थे। यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' में स्थान-स्थान पर इन विचारों की झांकी विद्यमान है। इसी कारण उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन का ऐसा चित्र अंकित किया है, जिसमें वे प्राणिमात्र से प्रेम करने वाले, अपने से छोटे या बड़े सभी खिन्न एवं दुःखी जनों की सेवा करने वाले, समाज में होने वाले कलह या शुष्क विवादों को मिटाने वाले, किसी बली द्वारा निर्बल को सताते हुए देखकर उस निर्बल की रक्षा करने वाले, सभी से विनम्रता के साथ मिलने वाले और सभी का कल्याण चाहने वाले दिखलाये गये हैं।[1] इस युग में सबसे

[1] बातें बड़ी सरस थे कहते बिहारी। छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे। अत्यंत प्यार दिखला मिलते सबों से। वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों के।

× × × ×

रोगी दुखी विपद आपद में पड़ों की। सेवा सदैव करते निजहस्त से थे। ऐसा निकेत व्रज में न मुझे दिखाया। कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।।

१२।८०-८७

नहीं समझा है, बल्कि 'शठ शाठ्य समाचरेत्' के सिद्धान्त को जन-कल्याण-कारी माना है।[1]

उक्त सभी आधारो पर यह कहा जा सकता है कि 'प्रियप्रवास' मे तत्कालीन युग की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक परिस्थितियो, हलचलो एव मान्यताओ की पर्याप्त झलक विद्यमान है और कवि ने अपने युग के नवीन विचारो को प्राचीन पौराणिक कथा के अतर्गत भरकर पुरातन चरित्र-नायक एव नायिका को अलौकिक गुणो एव दिव्य कार्यों से ओत-प्रोत न दिखाकर मानवीय गुणो से सुशोभित दिखाया है, जिसमे आधुनिक युग की बौद्धिकता, अध-परम्परा का उच्छेद, प्राचीन रूढियो का विनाश एव नवीनता के प्रति उत्कट लालसा विद्यमान है। अपने इन—युग-परिवर्तनकारी—विचारो के कारण ही 'प्रियप्रवास' का हिन्दी-साहित्य मे अत्यत महत्व है। इस महाकाव्य ने ही सर्वप्रथम नवीनता की घोषणा करके हिन्दी के प्रसुप्त कवियो को युग के परिवर्तनशील विचारो को अपनाकर महाकाव्य के क्षेत्र मे पदार्पण करने के लिए आह्वान किया है और अपने इन युगान्तरकारी विचारो को अपनाने के कारण ही 'प्रियप्रवास' कवि का प्रारभिक प्रयास होते हुए भी महाकाव्यो की श्रेणी मे गणना करने योग्य है।

(५) भाव एव रस-व्यजना—'प्रियप्रवास' मे विप्रलम्भ शृगार की सबसे अधिक व्यजना हुई है। साधारणतया शृगार रस के दो भेद माने गये हैं—विप्रलम्भ और सभोग। विप्रलम्भ शृगार वह कहलाता है, जहाँ नायक-नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ़ रहता है, किन्तु परस्पर मिलन नहीं हो पाता, इसे वियोग शृगार भी कहते हैं और सभोग शृगार वह कहलाता है, जो नायक-नायिका को परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि की अनुभूति प्रदान करता है। इसे सयोग शृगार भी कहते हैं। विप्रलम्भ शृगार के मुख्यतया चार भेद माने गये हैं—पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वराग-विप्रलम्भ-शृगार से अभिप्राय रूप-सौंदर्य आदि के श्रवण या दर्शन मे परस्पर

---

१ अवश्य हिंसा अति निंद्य कर्म है। तथापि कर्त्तव्य-प्रधान है यही।
न सद्म हो पूरित सर्प आदि से। वसुधरा मे पनपें न पातकी।
समाज उत्पीड़क धर्म-विप्लवी। स्वजाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुज का। न है क्षमा-योग्य वरच वध्य है।
१३।७८-८०

अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा में है जो कि उनके समागम के पहले उत्पन्न होती है। इस पूर्वराग को तीन प्रकार का माना गया है—नीलीराग, कुसुम्भ-राग और मंजिष्ठा-राग। जो अनुराग बाहर तो दिखाई देता नहीं, किन्तु हृदय में कूट-कूट कर भरा रहता है उसे 'नीलीराग' कहते हैं। जिस अनुराग में बाहरी चमक-दमक तो पर्याप्त हो, किन्तु वह हृदय में न हो, उसे 'कुसुम्भ-राग' कहते हैं और जो राग हृदय में भी हो तथा बाहरी दिखावे में भी आ जाये उसे मंजिष्ठा-राग कहते हैं। दूसरे मान-विप्रलम्भ-शृंगार से अभिप्राय ऐसे अकारण कोप से है जो प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम के भरे रहने पर भी किसी कारणवश हो जाता है। तीसरे, प्रवास-विप्रलम्भ-शृंगार से अभिप्राय ऐसे वियोग से है, जो किसी कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश नायक के देशान्तर-गमन के कारण होता है और चौथे करुण-विप्रलम्भ-शृंगार से अभिप्राय ऐसे वियोग से है, जहाँ प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के मर जाने पर, किन्तु पुनः जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोकपूर्ण रतिभाव की व्यंजना होती है।[1] इन चारों प्रकार के विप्रलम्भ शृंगारों में से 'प्रियप्रवास' में प्रमुख रूप से 'प्रवास'-नामक तृतीय प्रकार के दर्शन होते हैं, क्योंकि यहाँ पर नायक श्रीकृष्ण के गमन पर राधा, गोपी, यशोदा आदि के हृदय में उत्पन्न वियोग का वर्णन किया गया है। इनके अतिरिक्त अन्य रस एवं भाव भी यथास्थान वर्णित हैं।

संयोग शृङ्गार—'प्रियप्रवास' में हमें सर्वप्रथम संभोग या संयोग शृंगार की मनोरम झाँकी मिलती है। सन्ध्याकालीन अरुणिमा ने गोकुल ग्राम की जनता के हृदय को अनुराग की जिस लालिमा से अनुरंजित कर दिया है, उसमें संयोग शृंगार की अद्भुत छटा विद्यमान है। उस क्षण सारा गोकुल ग्राम कृष्ण के प्रेम में लीन होकर उनकी छलकती हुई रूप-माधुरी, छिटकती हुई तन की श्याम आभा, रस बहाती हुई मधुवर्षिणी-मुरलिका, अमृतमयी मधुर मुस्कान, हृदयहारिणी लोचनों की रमणीयता आदि में विमुग्ध दिखाई देता है। गोकुल ग्राम की सम्पूर्ण जन-मण्डली तृषित चातक की भाँति अपने घनश्याम की अद्भुत छटा निहारने में मग्न दिखाई देती है, उनके नेत्रों पर पलक नहीं पड़ते, उनके शरीर का रोम तक नहीं हिलता और सम्पूर्ण गोपियाँ कृष्ण के सौंदर्य में ऐसी लीन हो जाती हैं कि वे पत्थर की मूर्ति जैसी बनकर

---

१. साहित्य-दर्पण, तृतीय परिच्छेद १८३–२०६

एक टक सयोग रस का पान करती हुई जान पडती हैं।[1] इस तरह हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' के प्रारम्भिक सर्ग मे सयोग शृगार की मार्मिक व्यजना करते हुए मिलन-सुख का एक ऐसा अद्भुत चित्र अकित किया है, जो आगामी वियोग शृगार के लिए पृष्ठभूमि का कार्य कर रहा है और जिसके कारण वियोग का रग और भी अधिक गहन-गम्भीर हो गया है।

वात्सल्य—साहित्य-शास्त्र मे वात्सल्य को रस न कहकर एक भाव मात्र माना गया है, क्योकि वहाँ नायक-नायिका-सम्बन्धी रति को तो शृङ्गार रस माना गया है, जबकि देवता, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि से सम्बन्धित रतिभाव या प्रीति को केवल भाव माना गया है।[2] इसी पुत्र विषयक रति को वात्सल्य कहते हैं। परन्तु सूरदास ने इसी पुत्र विषयक रति का इतना मर्मभेदी एव मनमोहक वर्णन किया है कि वहाँ वात्सल्य भाव मात्र से ऊपर उठकर स्थायी रूप धारण करता हुआ रस की कोटि मे पहुँच गया है। हरिऔध जी ने भी 'प्रियप्रवास' मे सयोग के उपरान्त वियोग का वर्णन दो रूपों मे किया है—(१) वात्सल्य के रूप मे तथा (२) विप्रलम्भ शृगार के रूप मे। यहाँ पर सर्वप्रथम कवि ने इस वात्सल्य का अत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन किया है। तृतीय सर्ग मे नन्द और यशोदा की आशकाओं के वर्णन मे पहले तो इस वात्सल्य का सूक्ष्म भावरूप मे ही दर्शन होता है, क्योंकि यहाँ माता यशोदा अपने लाडले कुँवर के लिए उसी प्रकार सशकित एव व्यथित दिखाई दे रही हैं, जिस प्रकार एक माता शत्रु के समीप जाते हुए अपने पुत्र के बारे मे सोचकर होती है। परन्तु यह वात्सल्य सप्तम सर्ग मे आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया है, जहाँ नद बाबा के अकेले ही मथुरा से लौट कर आने पर यशोदा माता अपने प्राण प्यारे पुत्र कृष्ण के लिए अत्यत व्याकुल होकर विलाप करती हुई दिखाई देती हैं। यशोदा के उस विलाप मे कितनी करुणा, कितनी कसक, कितनी वेदना एव कितनी टीस भरी हुई है कि उसे

---

१ मुदित गोकुल की जनमडली। जब व्रजाधिप सम्मुख जा पड़ी।
निरखने मुख की छवि यों लगी। तृषित-चातक ज्यो घन की घटा।
पलक लोचन की पडती न थी। हिल नहीं सकता तन लोम था।
छवि-रता वनिता सब यों बनीं। उपल निर्मित पुत्तलिका यथा।
१।२६–२७

२ रतिर्देवादि विषया व्यभिचारी तथाञ्जित । भावः प्रोक्तः।
काव्य प्रकाश ४।३५

सुनकर पाषाण हृदय भी पिघल जाता है।[1] इतना ही नहीं जिस क्षण उस माता की विलाप-कलाप भरी वह मार्मिक ध्वनि सुनाई पड़ती है, जहाँ वह अपने अतुल धन, वृद्धता के सहारे, प्राणों के परमप्रिय, शोभा के सदन और एक मात्र लाड़िले बेटे के लिए रोती-रोती मूर्छित हो जाती है, वहाँ उस माता का वात्सल्य करुणा का रूप धारण करके हठात् पाठकों के हृदय में शोक, विषाद संताप, अधीरता आदि को जागृत करता हुआ हृदयों में एक सिहरन सी पैदा कर देता है।[2] उसकी अंतिम पंक्ति "हा ! बेटा हा ! हृदय धन धन हा ! नेत्र तारे हमारे" में कितना दुलार, कितना प्यार एवं कितना स्नेह भरा हुआ है कि मानो माता का हृदय ही शब्दों के रूप में प्रकट हो गया हो। इस वात्सल्य के मनोहारी रूप को दशम सर्ग में और भी गंभीरता के साथ देखा जा सकता है, जहाँ यशोदा माता उद्धव के सम्मुख अपने हृदयोदधि का दिग्दर्शन कराती हुई अपनी व्यथा-कथा सुनाती हैं। अपने लाडले कुँवर का मार्ग देखते-देखते और रोते-रोते इस दुखिया माँ की आँखों की ज्योति जाती रही है और संवाद सुनते-सुनते उसके श्रवण-पुट पूर्ण हो चुके हैं, परन्तु फिर भी उसे अपने लाल को देखने की उत्कट अभिलाषा है और उसकी प्यारी-प्यारी मधुर बातें सुनने की तीव्र उत्कंठा है।[3] वह यहाँ अपने प्रिय-पुत्र के स्वभाव की सरलता, क्रीडाओं की मनोहारिता, बोलने की मधुरता, खान-पान की रुचि, राधा एवं गोपियों के प्रेम की सरसता, अपने दुर्भाग्य की कठोरता, कृष्ण के विभिन्न जन-हित-कारी कार्यों की कुशलता आदि का वर्णन करती हुई अपने हृदय में स्थित उस वात्सल्य की सरिता को इस तरह बहा देती है कि उद्धव जैसे ज्ञान के दृढ़ पर्वत भी उस वात्सल्य-सरिता में बहने लगते हैं और उनके हृदय पर इस वियोगपूर्ण वात्सल्य की छाप सदैव के लिए अंकित हो

---

१ प्रिय पति वह मेरा प्राण प्यारा कहाँ है।
 दुख-जलधि निमग्ना का सहारा कहाँ है॥
 अब तक जिसको मैं देख के जी सकी हूँ।
 वह हृदय हमारा नेत्र तारा कहाँ है॥७।११

२. हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
 हा ! प्राणों के परमप्रिय हा ! एक मेरे दुलारे॥
 हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्यवाले।
 हा ! बेटा हा ! हृदयधन हा ! नेत्र तारे हमारे॥ ७।५६

३ प्रियप्रवास १०।१४-१६

जाती है।[1] इस तरह यहाँ कवि ने वात्सल्य भाव का अत्यन्त मार्मिक निरूपण किया है, परन्तु उसमे सूरदास के वात्सल्य-वर्णन जैसी गहनता, विविधता एव विवरणात्मकता के दर्शन नहीं होते। अत यहाँवात्सल्य अपना स्वतत्र अस्तित्व गँवाकर वियोग की पुष्टि करता हुआ करुणा की सरिता मे ही घुलमिल गया है।

विप्रलम्भ शृगार—विप्रलम्भ शृगार के वारे मे पहले ही वताया जा चुका है कि 'प्रियप्रवास' मे प्रवास-जन्य विप्रलम्भ-शृगार या वियोग के दर्शन होत हैं। यह विप्रलम्भ-शृगार यहाँ दो रूपो मे वर्णित है—(१) राघा के विरह-निरूपण और (२) गोपियों के विरह-निरूपण मे।

(१) राघा का विरह निरूपण—विप्रलम्भ शृगार का सर्वप्रथम वर्णन चतुर्थ सर्ग मे राधा के विरह-निरूपण मे मिलता है। कृष्ण के मथुरा गमन की सूचना पाते ही यह प्रफुल्लित वालिका अनायास मलिन एव खिन्न हो जाती है, उसका अनुपम सौंदर्य फीका पड जाता है और उस 'क्रीडा-कला पुत्तली' की समस्त रसमयी क्रीडायें रुक जाती हैं। अब उसकी कमनीय कान्ति दृष्टि-उन्मेषिनी नही रहती, उसकी मजु-दृगता उन्मत्ताकारिणी नही रहती, उसकी मुग्ध मुसकान की मधुरिमा लुप्त हो जाती है और वह आनद-आदोलिता युवती सुमना, प्रसन्नवदना न रह कर निरतर खिन्ना-दीना एव छिन्नामूला लताकी भांति सौंदर्यहीना दिखाई देने लगती है। इस क्षण उसके हृदय मे न जाने कहाँ से ऐसी कसक, ऐसी पीडा अथवा ऐसी वेदना घर कर लेती है कि उसका सारा शरीर प्रतिक्षण कांपता रहता है, उसकी भाग्य-गति पलट जाती है और उसे सारा जगत् शून्य दिखाई देने लगता है। इस समय उसे आकाश मे टिमटिमाते तारे भी ठिठककर सोच मे पडे हुए जान पडत हैं, टूटते हुये तारे किसी दिल जले के शरीर के पतन के रूप मे दिखाई देते हैं और उसे सर्वत्र शोक, विषाद, भय आदि छाये हुए प्रतीत होते हैं।[2] इतना ही नहीं उस विरह व्यथिता राधा को उषा की लालिमा भी किसी कामिनी के वहते हुए रुधिर के रूप मे जान पडती है, पक्षियो का कलरव व्यथा-पूर्ण चीत्कार मालुम पडता है और वह सूर्य को आग का एक ऐसा गोला समझने

---

१ विबुध ऊधव के गृह-त्याग से। परिसमाप्त हुई दुख की कथा।
पर सदा वह अकित सी रही। हृदय-मदिर मे हरि-मित्र के॥
१०।६७

२. प्रियप्रवास ४।२२-४८

लगती है, जो अब उदय होकर सम्पूर्ण व्रज-भूमि को जलाकर राख कर देगा।[1] उस दुखिया का मुख-कमल सूख जाता है, होंठ नीले पड़ जाते हैं, दोनों आँखें आँसुओं में डूब जाती हैं, नाना प्रकार की शंकायें उसके कलेजे को कम्पित करने लगती हैं और वह अत्यन्त मलिन एवं खिन्न होकर उन्मनी सी हो जाती है।[2] इस प्रकार सर्वप्रथम हमें विरहिणी राधा अत्यंत शोक-संतप्त एवं विरहाग्नि में झुलसी हुई एक मुरझाई हुई कली के रूप में दिखाई देती है।

इस विरहिणी राधा का पुनः साक्षात्कार षष्ठ सर्ग में होता है, जहाँ यह पुनः रो-रो कर अत्यंत चिन्ताओं में निमग्न होती हुई अपने दिन व्यतीत करती दिखाई देती है। इस समय इसकी वेदना अत्यंत बढ़ी हुई है और कृष्ण से मिलने की उत्कंठा भी अत्यंत तीव्र दिखाई देती है। इसी कारण यह विरहिणी जैसे ही प्रातःकालीन मधुर पवन का स्पर्श करती है वैसे ही इसकी वेदना द्विगुणित हो उठती है और यह उस पापिष्ठा पवन की अच्छी तरह भर्त्सना करती है। परन्तु फिर यह विरहिणी बाला उस पवन को ही अपनी दूती बनाकर मथुरा में श्रीकृष्ण के पास अपना संदेश लेकर भेजती है।[3] यहाँ राधा में विरह-व्यथा की अपेक्षा नीति-कौशल एवं स्त्रियोचित स्वाभाविक चतुरता, मिलन की युक्तियाँ जानने की क्षमता, वाक्पटुता अथवा युक्ति-निपुणता आदि के दर्शन होते हैं। राधा ने पवन को अपना संदेश सुनाने के लिए जो-जो अद्भुत युक्तियाँ सुझाई हैं, उनमें राधा का विरहिणी रूप खो जाता है और वह एक अभिसारिका अथवा चतुर रमणी से अधिक और कुछ नहीं

---

१. क्षितिज निकट कैसी लालिमा दीखती है।
 बह रुधिर रहा है कौन सी कामिनी का।
 विहग विकल हो हो बोलने क्यों लगे हैं।
 सखि ! सकल दिशा में आग सी क्यों लगी है।
 सब समझ गई मैं काल की क्रूरता को।
 पल-पल वह मेरा है कलेजा कँपाता।
 अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
 सकल व्रज-धरा को फूँक देगा जलाता। ४।४६-५०

२. प्रियप्रवास ४।२२

३. वही ६।२३-८२

दिखाई देती। उसे हम इस क्षण न तो भ्रान्ता नारी कह सकते है और न व्यथा-वर्द्धिता उद्विग्न विरहिणी, क्योकि उसकी दशा मे उतनी गहराई एव उतनी कसक नही है, जितनी मेघदूत के यक्ष अथवा जायसी की नागमती मे है। इस विरहिणी मे वियोग सबधिनी वे समस्त काम दशायें भी नही दिखाई देतीं, जिनका आभास सूर की राधा मे मिलता है। यहाँ केवल चिन्ता और गुण-कथन का उल्लेख अवश्य स्पष्ट रूप से श्रीकृष्ण के गुणो का निवेदन करते समय मिल जाता है,[1] परन्तु अन्य अवस्थायें भली प्रकार उभर कर ऊपर नही आसकी है। इसी से यहाँ पाठको का हृदय विरह के मर्मस्पर्शी प्रभाव से उद्वेलित नही होता तथा उसके स्थायी विरह से सहृदयो का हृदय भी उतना आन्दोलित नहीं होता जितना सूर की राधा के विरह-निवेदन से हो उठता है।

इस विरहिणी नायिका के उज्ज्वल रूप की तृतीय झाँकी उद्धव के साथ वर्त्तालाप करते समय षोडश सर्ग मे होती है, जहाँ यह अपनी अन्य पूर्ववर्ती विरहिणी-नायिकाओ से कहीं अधिक करुणा, उदारता सेवा, लोक-हित, विश्व-प्रेम आदि उदात्त भावो से ओतप्रोत दिखाई देती है और अपने इन दिव्य गुणो के कारण उनसे कहीं अधिक महान एव श्रेष्ठ जान पडती है। यहाँ वह न तो जयदेव एव विद्यापति की राधा की तरह कुसुमाकर के बाणो से विद्ध होकर विलास-कामना के अपूर्ण रहजाने पर व्यथित एव बेचैन दिखाई देती है और न सूर, नददास आदि कृष्णभक्त कवियो की राधा के समान रात दिन आंसू की नदी बहाती हुई "हा कृष्ण! हा कृष्ण!" की रट लगाती रहती है। इतना ही नही यहाँ वह न तो जायसी की विलासिनी नागमती की तरह अपने प्रियतम से मिलने के लिए प्रत्येक ऋतु मे तडपती हुई दिखाई देती है और न साकेत की उर्मिला की भाँति रात दिन करवटें बदलती हुई अपनी विरह-वेदना को व्यक्त करती है, अपितु यहाँ पर राधा विश्व-प्रेम, विश्व-मैत्री एव करुणा की उदार मूर्ति के रूप मे दिखाई देती है। वह उद्धव के मुख से अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण का चिर स्नेह, चिर प्रणय एव चिर प्रेम से भरा हुआ सदेश सुनकर अपने प्रियतम को विश्व के कण-कण मे व्याप्त देखने लगती है। उसे नभ के तारो, सरोवर के कमलो, सध्या की लालिमा, प्रभात की उषा, वर्षा के सजल घन, कुजो के भ्रमर, उपवनो के दाडिम, बिम्बा, केला आदि मे सर्वत्र श्रीकृष्ण की मनोरम रूप-माधुरी के दर्शन होने लगते है और वह प्राणि-मात्र मे अपने प्रियतम के स्वरूप को देखने लगती है। वह विरहिणी

---

१ प्रियप्रवास ६।५८-६३

अपने पति को विश्व मे और विश्व को अपने प्रियतम मे व्याप्त देखती हुई उस जगत-पति का श्याम मे साक्षात्कार करती है तथा प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा करती हुई अपना जीवन व्यतीत करने लगती है।[1]

इन विरहिणी राधा की तुलना नागमती, सीता एव उर्मिला से तो कदापि नहीं की जा सकती क्योंकि ये विरहिणियाँ तो अपने-अपने प्रियतम को प्राप्त करके अंत मे परम सुख का अनुभव करती हैं। हाँ, यशोधरा या गोपा से अवश्य इनकी तुलना की जा सकती है, क्योंकि वियोगिनी यशोधरा भी गौतम के चले जाने पर उसी तरह आजीवन विरह-जन्य वेदना, व्यथा एव कसक का अनुभव करती रहती है, जिस तरह यहाँ राधा श्रीकृष्ण के चले जाने पर अनुभव करती है। परन्तु यशोधरा से भी 'प्रियप्रवास' की राधा कहीं अधिक महान् है, क्योंकि यशोधरा के विरह-जीवन का जो चित्र राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने अपने 'यशोधरा' काव्य मे अकित किया है, उसमे उस विरहिणी को न तो इतनी उदारता एव सेवा-सुश्रूषा मे लीन दिखाया है और न यशोधरा अपने प्रियतम को कण-कण मे व्याप्त देखकर विश्व-प्रेम मे इतनी मग्न दिखाई गई है। यहाँ हरिऔध जी ने राधा को तो विश्व-प्रेम मे लीन दिखाया है तथा दीन-हीन, आर्त्त एव दुखीजनों की सेवा, कीट-पतगों एव पशु-पक्षियों के प्रति सहानुभूति, व्रज के गोप-गोपीजनों के दुःख दूर करने की उत्कट लालसा, नद-यशोदा के शोक-सताप को कम करने का सतत प्रयत्न, गोप-बालकों की खिन्नता दूर करने के लिए लीलाओं का प्रचार, सम्पूर्ण व्रज मे शान्ति स्थापित करने के लिए कुमारी बालाओं का सगठन आदि ऐसे-ऐसे अभूतपूर्व कर्म करते हुए अकित किया है, जिनके परिणामस्वरूप यह विरहिणी केवल व्रज की ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण जगत् की आराध्या देवी बन जाती है और ससार की समस्त विरहिणियों मे शीर्षस्थानीय जान पड़ती है।

(२) गोपी-विरह-निरूपण—इस विप्रलम्भ शृगार की दूसरी झाँकी गोपियों के विरह-निवेदन मे अकित की गई है। यहाँ कवि ने परम्परा का पालन किया है और अन्य कृष्णभक्त कवियों की भाँति गोपियों की विक्षिप्तावस्था का उल्लेख किया है, क्योंकि सूर आदि कवियों की भाँति यहाँ भी कवि हरिऔध ने गोपियों को यमुना का नीला जल, मधुवन की हरी लतायें, कदम्ब की फूली डालियाँ, कालिंदी का मनोहारी तट आदि

---

१ प्रियप्रवास १६।४६-११३

देखकर एव कृष्ण की पुरानी लीलाम्रो का स्मरण करके विलखते-विसूरते दिखाया है। यहाँ पर भी गोपियाँ उद्धव से यहाँ तक कह डालती हैं कि "यदि यमुना का नीला जल सूख जाय, कुजें जल जायें, हमारी ग्राँखें फूट जायें, हमारे हृदय विध्वश हो जायें, सारा वृन्दावन उजड जाय और कदम्ब के समस्त वृक्ष उजड जायें, तो भी हम अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को भला कैसे भूल सकती हैं, उनका भूलना सर्वथा असम्भव है। फिर यहाँ की तो एक-एक वस्तु उनका स्मरण कराती रहती हैं, जिससे हम अत्यत व्यथित एव उद्विग्न होकर रात-दिन रोती रहती हैं और हमारे हृदय जलते रहते हैं। हमारी आँखो मे कृष्ण की वह माधुरी छवि ऐसी वस गई है कि उसके मारे वे सदैव प्रेमोन्मन्त होकर उन्हें खोजने मे ही लगी रहती हैं और उन्हें एक क्षण भी चैन नही मिलता। आज हमें पवन के झोको के समान विरह-वेदना झकझोरती रहती है, जिससे हमारा जीवन भँवर मे पडी हुई नौका के समान विपन्न हो रहा है। हम सव कृष्ण मे अनन्य भाव से अनुरक्त हैं और उन्हें इस तरह प्यार करती हैं जैसे समस्त तारिकायें एक चन्द्रमा को और सम्पूर्ण कमल-कलियाँ एक सूर्य को हृदय से प्यार करती हैं। परन्तु विधाता की क्रूरता के कारण आज न केवल हमारी ही ऐसी सकटापन्न अवस्था है, अपितु सारी व्रज-भूमि ही महाशोक मे डूवी हुई है। अव जैसे वने आप कृष्ण को यहाँ लाकर इस मृतक वनती हुई व्रज-भूमि को जीवन दान देने का प्रयत्न कीजिये।"[1] गोपियो की यह व्यथाभरी करुण कथा अत्यत मार्मिक एव हृदयवेधिनी है। तदनन्तर कवि ने पचदश सर्ग मे एक गोपी की विक्षिप्तावस्था का चित्रण करते हुए उसकी उत्कठा, उसकी तीव्र वेदना, उसकी गहन पीडा एव उसकी भयकर भ्रान्तावस्था का जो चित्र अकित किया है, वहाँ विप्रलम्भ-शृगार की अनूठी अभिव्यक्ति है। इसमे कवि ने उस गोपी को पहले तो कुज मे खिले हुए विविध पुष्पो के पास जा-जाकर अत्यत करुणा-सहित वार्तालाप करते हुए दिखाया है, और उनसे यह पूँछते हुए अकित किया है कि तुम भी मेरी ही भाँति क्यो व्यथित हो रहे हो, तुम्हारी यह गति क्यो हो गई है। अरे! कुछ तो अपनी दशा मुझे सुनाओ।[2] परन्तु जव कोई भी पुष्प उस वाला से कुछ नही वोलता तव वह भ्रमर से वातें करने लगती है। परन्तु भ्रमर उसकी व्यथा-कथा

---

१. प्रियप्रवास १४।४१-७४
२ वही १५।४-५७

नहीं सुनता और वह एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर बैठता हुआ उसकी उपेक्षा करता जान पड़ता है। तब वह उसे ढीट और कौतुकी कहकर उसकी भर्त्सना करती है और उसकी चचलता, उपेक्षा, अनवधानता आदि के लिए उसकी श्यामता को दोषी ठहराती है।[1] तदनन्तर वह मुरली की ध्वनि को अचानक वन मे सुनकर उस मुरली से ही बातें करने लगती है और उसकी प्रवचना, धोकेबाजी अथवा कपट-व्यवहार के लिए उसे भी भला-बुरा कहती हुई उससे अनुरोध करती है कि ठीक है तू अपने तप के कारण कृष्ण के हाथ मे सुशोभित हुई है, परन्तु तुझे वृथा ही अबलाजन को नही सताना चाहिए और इस तरह मतिहीनता का परिचय नही देना चाहिए।[2] फिर अचानक कुज मे कोकिल बोल उठती है। उसकी कूक सुनकर उस गोपी को अपनी चित्त-भ्रान्ति के कारण वह कोकिल भी अत्यत विषादिता, सकुचित तथा निपीडिता जान पडती है और वह ऐसा समझती है कि जिस तरह मैं कृष्ण के लिए विरागिनी, पागली एव वियोगिनी बनी हुई हूँ उसी तरह सभवत यह कोकिल भी प्रिय के वियोग के कारण अत्यत कातर एव मलीन बनी हुई है। पहले तो वह उस कोकिल से मथुरा जाने के लिए आग्रह करती है, परन्तु जब वह उड़ती नही, तब वह यही कहती है कि ठीक है, वहाँ मत जा, क्योंकि जहाँ उलाहना सुनना भी मना है, ऐसी जगह जाना कदापि उचित नहीं होता।[3] फिर वह गोपी यमुना की रेती मे अकित प्रियतम के चरण-चिह्न को देखकर उसी से बातें करने लगती है और अपनी दशा मे उसकी दशा को मिलाती हुई उसी को अपनी व्यथा-कथा सुनाने लगती है।[4] फिर केलि मे मग्न होकर कल-कल करती हुई तथा प्रतिपल बहती हुई यमुना नदी उसे दिखाई देने लगती है। तब वह यमुना को सम्बोधन करती हुई उससे अपना वियोग भरा सदेश कृष्ण के समीप ले जाने का आग्रह करती है और कहती है कि तेरे तट पर तो मेरे प्रियतम कृष्ण अवश्य ही आते होंगे। इसलिए तू मेरी सम्पूर्ण व्यथाओं को अपनी मधुर ध्वनि के साथ उन्हे सुना देना। यदि भाग्य से मैं तेरी धार मे गिर जाऊँ तो तू मेरे शरीर को ब्रज की भूमि मे छोड़ बिना

---

१ प्रियप्रवास १५।५८-७७

२ वही १५।७८-८७

३. वही १५।८८-१०१

४ वही १५।१०२-१११

देना और फिर मेरी उस मिट्टी से अनूठी श्यामता लिए हुए सुदर पुष्पों को बडी सुदरता के साथ उगा देना।[1] इस तरह कवि हरिऔध ने गोपियो की विरह-जन्य वेदना के बडे ही अनूठे चित्र अकित किए हैं, जिनमे उन्हे अत्यत व्यथित एव विदग्ध दिखाया है तथा उनकी व्याकुलता एव बेचैनी को मार्मिकता प्रदान की है।

विप्रलम्भ शृगार की करुण रस मे परिणति—कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे जिस विप्रलम्भ शृगार या वियोग का वर्णन किया है, वह इतना गहन, गभीर एव तीव्र हो गया है कि वह विप्रलम्भ शृगार न रहकर करुण रस के स्थायी भाव शोक को पाठको के हृदय मे अभिव्यक्ति करने मे पूर्णतया सशक्त दिखाई देता है। यहाँ वियोग की करुणामयी गहन छाया नद, यशोदा, गोपी, राधा आदि को ही आवृत नही करती, अपितु गोपो, गायो, पशु-पक्षियो, यमुना, लता, पुष्पो आदि को भी आत्मसात् कर लेती है और सम्पूर्ण व्रज-भूमि शोक-सागर मे निमग्न दिखाई देने लगती है। वैसे तो यशोदा का कारुण्यपूर्ण विलाप तथा राधा के दग्ध हृदय के मार्मिक विरहोद्गार ही शोक की धारा प्रवाहित करने के लिए पर्याप्त हैं, क्योकि यशोदा माता की उच्छ्वासपूर्ण बातें सुनकर और उनकी मूर्च्छित अवस्था को देखकर केवल नद ही दुखी नही होते, अपितु पाठको के हृदय भी हिल जाते हैं। कवि ने उस वात्सल्यमयी जननी के हृदय की वेदनापूर्ण स्थिति का जो वर्णन किया है, उसमे करुणा की अविरल धारा बहती हुई जान पडती है, क्योकि उसका कलपना, उसका रोना-धोना, उसके प्राणो का कठ तक आना, उसकी समस्त आशाओ पर पानी फिरना, उस वृद्धा की लकुटि का छिनना, उसके हृदय-धन का चला जाना, उस दुखिया के नेत्र की ज्योति का न रहना आदि भला किसके हृदय मे शोक उत्पन्न न करेंगे।[2] यही बात राधा के वियोग-वर्णन मे भी है। वह लावण्य-मयी बालिका भी रोते-रोते अत्यत मलिन हो जाती है। उसकी आँखो के सामने सदैव के लिए अधकार छाजाता है। उसकी कामना अधूरी रह जाती है, क्योकि वह कृष्ण को अपना पति बनाना चाहती थी, परन्तु यह कार्य पूरा न हो सका। अब उसके लिए ससार मे कोई आकर्षण नही रहता, उसका मुख सूख आता है, होठ नीले पड जाते हैं, रात-दिन कलेजा कांपता रहता है और

१ प्रियप्रवास १५।११२-११५

२ वही ७।११-५७

वह सदैव उन्मनी बनी रहती है।[1] उसकी भ्रान्ति इतनी बढ जाती है कि वह पवन के हाथ सदेशा तक भेजने के लिए तैयार हो जाती है और उसे यह ध्यान तक नही आता कि भला पवन मेरी बातें कैसे सुन सकेगी तथा कैसे मेरा कार्य करेगी।

यही बात अन्य आभीरो, गोपो तथा पशु-पक्षियो के बारे मे भी है। कवि ने हरि-गमन बेला के आते ही ब्रज मे छाई हुई खिन्नता एव उदासी का जो चित्रण किया है तथा चिन्ता मे डूबी हुई जनता के हृदय की हलचल की जो झांकी प्रस्तुत की है, उसमे भी करुण रस पर्याप्त मात्रा मे भरा हुआ है। उस समय आगे बढ़कर जो बूढा आभीर अपने हृदय के मार्मिक उद्गार व्यक्त करता है, उनमे कितनी कसक, कितनी टीस एव कितनी व्यथा भरी हुई है, जिसे सुनकर अक्रूर तक रो पडते है और जैसे-तैसे अपने को सँभाल पाते हैं।[2] यही-बात उस क्षण अपनी व्यथापूर्ण कथा सुनाती हुई उस प्राचीना की मर्मभरी वाणी मे है, जिसे सुनते ही कृष्ण भी रो पडते है और शीघ्र ही लौट आने की बात कहकर उसे सात्वना प्रदान करते है।[3] उस समय गायो की भी दशा कुछ विचित्र ही हो जाती है, वे न घास खाती है और न बच्चे को दूध पिलाती हैं, अपितु बावली सी होकर जाते हुए कृष्ण की ओर जगल से भाग कर चली आती हुई दिखाई देती है। गृह-द्वार के काकातूआ की भी यही दशा होगई है। वह भी व्यथा-भरी आवाज मे रुदन करता सा जान पडता है।[4] इस तरह जो शोक-सिधु कृष्ण के गमन के समय ब्रज मे उमडने लगा था, वह फिर सूख नही पाता, अपितु उद्धव आकर भी यही देखते हैं कि वह शोक-सागर सम्पूर्ण ब्रज-भूमि मे लहरा रहा है। उन्हे भी अनन्त सौदर्यमयी वनस्थली किसी के विरह मे यथातथ्य विमोहती हुई नहीं दिखाई देती, अपितु सर्वत्र एक निगूढ-खिन्नता बसी हुई जान पडती है, जो आनद और उल्लास को उत्पन्न करके देखने वाले के हृदय मे गुप्त रूप से धीरे-धीरे विरक्ति को उत्पन्न करती हुई सी प्रतीत होती है।[5] इतना ही नही उन्हे क्या नद, क्या यशोदा, क्या गोप, क्या गोप-

---

१ प्रियप्रवास ४।२८-५३

२ वही ५।२४-२६

३ वही ५।३०-३६

४ वही ५।३७-४०

५. परन्तु वे पादप मे प्रसून मे। फलों दलों बेलि-समूह में।
 सरोवरो मे सरि मे सुमेरु मे। खगों मृगों में [illegible]

वालक, क्या गोपियां और क्या राधा सभी कृष्ण के विरह मे व्यथित होकर रुदन करते हुए दिखाई देते है और अपनी करुण-कथा से उन्हे भी सतप्त कर देते हैं। उद्धव जब तक ब्रज मे रहते है और जहां कहीं भी वे जाते है उन्हे सर्वत्र ब्रज-भूमि मे शोक छाया हुआ दृष्टिगोचर होता है और सभी के हृदय मे कृष्ण की भव्य मूर्ति के लिए अटूट प्रेम समाया हुआ जान पडता है। यहां तक कि राधाजी भी उन्हे विश्व-प्रेम मे लीन होकर केवल अपने शोक से उतनी दुखी नही दिखाई देती, जितनी कि वे व्रजवासियो के दुख से व्यथित रहती हैं और अन्त मे वे यही कहती है कि "अगर उन्हे कोई वाधा न हो तो एक वार अपने दर्शन यहां के निवासियो को दे जायें और कम से कम अपने माता-पिता की दशा को तो आकर देख जायें, वस यही मेरा सदेश श्रीकृष्ण से कह देना।"[1] इन शव्दो से भी व्रज के शोक का आभास पूर्णरूप से मिल जाता है। इसके उपरान्त कवि ने ब्रज की सतप्त अवस्था का चित्र अकित करते हुए वताया है कि जब कभी ब्रज मे वसत का विकास होता था, तव समस्त वालिकायें वावली सी होकर विलखाती फिरती थी, कोई कही मूर्छित हो जाती थी, तो कोई रात-रात भर रोती रहती थी। उस समय राधाजी उन्हे सात्वना देने के विविध उपाय करती रहती थी। गोप एव नद-यशोदा भी सदैव शोक मे डूवे रहते थे तथा व्रज मे विरह-घटना ऐसी व्याप्त हो गई थी कि फिर वह कभी दूर न हो सकी, ब्रज मे फिर अच्छे दिन न आ सके और विरह की वह भयकर वेदना वशजो मे भी व्याप्त हो गई।[2]

इस प्रकार कवि ने 'प्रियप्रवास' मे विरह का इतना व्यापक एव मार्मिक वर्णन किया है, जिसे देखकर ज्ञात होता है कि यहां पर प्रवास-जन्य विप्रलम्भ शृगार अपनी सीमा का अतिक्रमण करके करुण-विप्रलम्भ शृगार से भी आगे वढकर करुण रस का रूप धारण कर गया है। वैसे भी विप्रलम्भ शृगार तो वहीं रहता है जहां पुनर्मिलन की आशा रहती है, परन्तु जव फिर मिलने की कोई आशा नही रहती और वह कुछ समय का शोक चिरकालीन हो जाता है अथवा स्थायित्व को प्राप्त कर लेता है तव वह शोक करुण रस के

बसी हुई एक निगूढ़-खिन्नता। विलोकते ये निज-सूक्ष्म-दृष्टि से।
शनै शनै जो बहु गुप्त रीति से। रही वढाती उर की विरक्ति को।

६।१०७-१०८

१. प्रियप्रवास १६।१३२-१३३
२ वही १७।५२-५४

स्थायी भाव का रूप ग्रहण कर लेता है। यही 'करुण रस' तथा 'करुण विप्रलम्भ-शृंगार' मे अन्तर है।[1] इसके अतिरिक्त भवभूति की भांति हरिऔध जी भी "एको रस करुण एव निमित्त भेदाद्, भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्" कहते हुए करुण रस को ही एक मात्र रस मानते है तथा अन्य सभी रसो को उस करुण के विवर्त्त बतलाते है।[2] इस दृष्टि से भी कवि का अभिप्रेत रस करुण ही है और उसी की पुष्टि के लिए अन्य रसो का वर्णन करते हुए कवि ने विप्रलम्भ शृंगार, वात्सल्य, वीर, रौद्र, भयानक आदि रसो का भी उल्लेख किया है। अब हम इन्ही अंग रूप मे आने वाले अन्य रसो की अभिव्यक्ति को देखने की चेष्टा करेंगे। किन्तु यह स्पष्ट है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' मे करुण रस को ही अंगीरस के रूप में माना है, क्योकि यहाँ शोक क्षणिक या किंचित कालीन न होकर चिरकालीन है और भूमिपतन, क्रदन, उच्छ्वास, प्रलाप आदि अनुभावो तथा निर्वेद, मोह, स्मृति, व्याधि आदि व्यभिचारी भावो के साथ विद्यमान है।

भयानक रस—अन्य रसो के निरूपण मे से सर्वप्रथम तृतीय सर्ग मे रात्रि के भीषण वातावरण का वर्णन करते हुए कवि ने भयानक रस की सुन्दर अभिव्यंजना की है। इस रस का भय स्थायी भाव होता है, इसके आलम्बन भयोत्पादक पदार्थ हैं और उन पदार्थों की भीषण चेष्टाये उद्दीपन विभाव होती है। कम्प, गद्गद् भाषण आदि इसके अनुभाव हैं और आवेग, त्रास, दीनता, शंका आदि व्यभिचारी भाव होते है। यहाँ पर भी विकट-दंत भयंकर प्रेतो, मुख फैलाये हुए भयंकर प्रेतनियो, विकट-दानव से वृक्षो, श्मशान भूमि मे पडी हुई भयानक खोपडियो, शवो आदि के वर्णन द्वारा कवि ने भय स्थायी भाव की सुन्दर व्यंजना की है :—

"विकट दंत दिखाकर खोपडी, कर रही अति भैरव हास थी।
विपुल-अस्थि-समूह-विभीपिका, भर रही भय थी वन भैरवी॥ ३।१६[3]

वीर रस—इसका स्थायी भाव उत्साह होता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। इसका आलम्बन विनाश विजेतव्य शत्रु आदि होते हैं और उन शत्रुओं की चेष्टायें इसके उद्दीपन विभाव होते हैं। युद्धादि की

---

१ शोक स्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रस।
विप्रलम्भे रति स्थायी पुन सम्भोगहेतुक.॥ साहित्यदर्पण ३।२२६

२ वैदेही-वनवास, भूमिका, पृ० १

३ प्रियप्रवास ३।१४-१६

सामग्री किंवा अन्यान्य साधनों के अन्वेषण इसके अनुभाव होते हैं और धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क आदि इसके व्यभिचारी भाव माने गये हैं। इसके चार भेद होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर। 'प्रियप्रवास' में इन सभी रूपों के दर्शन मिल जाते है। जैसे —

दानवीर—ऐसे ऐसे जगत-हित के कार्य है चक्षु आगे।
हैं सारे ही विषय जिनके सामने श्याम भूले।
सच्चे जी मे परम-व्रत के वे व्रती हो चुके हैं।
निष्कामी से अपर-कृति के कूल-वर्ती अत. हैं।

यहां पर उनके सर्वस्व त्याग सहित लोक-सेवा का व्रत ग्रहण करने मे एक दानी व्यक्ति के 'त्याग' विषयक 'उत्साह' स्थायी भाव की सुन्दर व्यजना हो रही है।

धर्मवीर—अत सबो से यह श्याम ने कहा। स्व-जाति-उद्धार महान धर्म है।
चलो करें पावक मे प्रवेश औ। स-धेनु लेवें निज-जाति को बचा।११
विपत्ति से रक्षण सर्वभूत का। सहाय होना अ-सहाय जीव का।
उबारना सकट से स्व-जाति का। मनुष्य का सर्व-प्रधान-धर्म है।११

इन पक्तियो मे 'धर्मोत्साह' की बडी ही अनूठी अभिव्यजना हुई है।

युद्धवीर—समाज - उत्पीडक धर्म - विप्लवी।
स्व-जाति का शत्रु दुरन्त पातकी।
मनुष्य-द्रोही भव-प्राणि-पुज का।
न है क्षमा-योग्य वरच वध्य है। १२।२०
क्षमा नहीं है खल के लिए भली।
समाज-उत्सादक दड योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना।
सु-कर्मियो को करता विपन्न है। १२।२१
अत अरे पामर सावधान हो।
समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू।
सम्हाल तेरा वध वांछनीय है। १२।२२

व्योमासुर के प्रति प्रकट की गई श्रीकृष्ण की इस ललकार मे 'युद्धोत्साह' की बडी ही सुन्दर अभिव्यजना हुई है।

दयावीर—परम-सिक्त हुआ वपु-वस्त्र था। गिर रहा शिर ऊपर वारि था।
लग रहा अति उग्र-समीर था। पर विराम न था व्रज-बन्धु को।१२

पहुँचते वह थे शर-वेग से। विपद-संकुल आकुल-लोक में।
तुरत थे करते वह नाश भी। परम-वीर-समान विपत्ति का। १२।

इन पंक्तियों में भयंकर वर्षा के कारण उत्पन्न बाढ से पीडित व्रज की रक्षा करने में श्रीकृष्ण के कार्यों का जो उल्लेख हुआ है, उनमें 'दया विषयक उत्साह' की अत्यन्त रमणीक अभिव्यंजना हुई है।

रौद्र रस—इसका स्थायी भाव 'क्रोध' है। इसमें आलम्बन रूप में शत्रु का वर्णन किया जाता है और शत्रु की चेष्टायें उद्दीपन-विभाव का काम करती है। इसकी उद्दीप्ति भयंकर काटमार, शरीर-विदारण, भूपातन आदि से हुआ करती है। भ्रूभंग, बाहुस्फोटन, गर्जन-तर्जन, क्रूर दृष्टि आदि इसके अनुभाव होते हैं और मोह, अमर्ष आदि इसके व्यभिचारीभाव होते हैं। कालिय नाग के द्वारा अपनी प्रिय गायों एवं स्वजाति की अतीव दुर्दशा देखकर श्रीकृष्ण के हृदय में जिस क्रोध का संचार होता है, वहाँ रौद्र रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। यथा—

स्वजाति की देख अतीव दुर्दशा। विगर्हणा देख मनुष्य मात्र की।
विचार के प्राणि-समूह-कष्ट को। हुए समुत्तेजित वीर-केशरी। ११।२२
हितैषणा से निज जन्म-भूमि की। अपार-आवेश हुआ व्रजेश को।
बनी महा वक्र गँठी हुई भवें। नितान्त विस्फारित नेत्र हो गये। ११।२३

अद्भुत रस—इसका 'विस्मय' स्थायीभाव होता है। इसमें अलौकिक वस्तु आलम्बन होती है और उस वस्तु के गुणों का वर्णन उद्दीपन विभाव होता है। स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, गद्गद् स्वर आदि इसके अनुभाव होते हैं और वितर्क, आवेग, संवेग, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव होते हैं। 'प्रियप्रवास' में कवि ने तृणावर्तीय विडम्बना का वर्णन करते हुए कृष्ण के अचानक अदृश्य हो जाने, प्रकृति के अचानक शान्त हो जाने तथा घर के समीप किलकते हुए कृष्ण के निकल आने पर कवि ने इस 'विस्मय' नामक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति की है। यथा—

प्रकृति थी जब यों कुपिता महा। हरि अदृश्य अचानक हो गये।
सदन में जिससे व्रज-भूप के। अति भयानक क्रंदन हो उठा।
पर व्यतीत हुए दुघटी टली। यह तृणावर्तीय विडम्बना।
पवन-वेग रुका तम भी हटा। जलद-जाल तिरोहित हो गया।
प्रकृति शान्त हुई वर व्योम में। चमकने रवि की किरणें लगीं।
निकट ही निज सुन्दर सद्म के। किलकते हँसते हरि भी मिले।

आर्त्त-प्राणियो की सुरक्षा, दुष्टात्मा एव पातकी पुरुषो को उचित दड, व्यथित व्यक्तियो की व्यथा-निवारण आदि स्वकीय कर्त्तव्यो मे निष्काम भाव से लगे रहते हैं, इसी तरह राधा भी विविध सात्वना-कार्यों मे सलग्न होकर वृद्ध-रोगी-जनो की सतत सेवा मे लगी रहती है। दीन-हीन एव निर्वल अवलाजनो तथा विधवा आदि का वडा ध्यान रखती है, पारस्परिक कलह को दूर करती रहती है, घर-घर मे शान्ति धारा वहाती रहती है, चीटियो को आटा, पक्षियो को दाना और पानी देती रहती है, कीटादि के प्रति भी वडी सदय दृष्टि रखती है, वृथा पत्ते तक तोडना उचित नही समझती और हृदय से प्राणियो की हितकामना करती हुई अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहती है। वास्तव मे यही प्रेमी के आदर्श का अनुसरण है, यही निष्काम भक्ति है, यही अपने प्रियतम के प्रति सच्चे प्रेम का प्रदर्शन है कि उसके आचरण। एव कर्त्तव्यो को अपनाकर अपना जीवन भी अपने प्रियतम के अनुरूप व्यतीत करे, जिससे कभी वह अपने हृदय से दूर न रहे और सदैव उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति के साथ पुनीत प्रेम वना रहे। हरिऔध जी ने ऐसे ही प्रेम के उज्ज्वल आदर्श की उद्भावना करते हुए 'प्रियप्रवास' को आधुनिक युग का सुदर महाकाव्य वना दिया है।

(२) **वीर रस मे राष्ट्रीय भावना का समावेश**—'प्रियप्रवास' मे कवि ने वीर रस के वर्णन मे राष्ट्रीय भावो का समावेश करके आधुनिक युग मे स्वजाति-प्रेम एव स्वदेश-प्रेम का अतीव उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। यहाँ चरित्र नायक श्रीकृष्ण सदैव राष्ट्रीय भावो से ओत-प्रोत दिखाये गये हैं। इसी कारण वे कालिय नाग के द्वारा होने वाली स्वजाति की अतीव दुर्दशा तथा प्राणिमात्र की विगर्हणा देखकर अपने देशवासियो के सकट को दूर करने के लिए तुरन्त तैयार होजाते हैं, जन्मभूमि की ऐसी दुरवस्था देखकर उनकी भौहे टेढी हो जाती हैं और वे शीघ्र ही इस आपत्ति के निवारण-हेतु निश्चय कर डालते हैं। साथ ही अपने सभी साथियो से यह कह भी देते हैं कि "मैं अपनी जान हथेली पर रखकर स्वय इस कार्य को करूँगा और स्वजाति एव स्व-जन्मभूमि के लिए इस भयकर नाग से कदापि भयभीत न हूँगा। मैं सदैव अपमृत्यु तक का सामना करूँगा, कभी इन्द्र के वज्र तक से नही डरूँगा और मैं धर्म के प्रधान अग परोपकार की कभी अवहेलना नही करूँगा। जब तक मेरे शरीर मे श्वास-प्रवाह शेष रहेगा, नाडियो मे रक्त-प्रवाहित रहेगा तथा मेरा एक भी रोम सशक्त बना रहेगा, तव तक मैं बराबर

सर्वभूतहित करता रहूँगा।"[1] श्रीकृष्ण के इन वीरोचित उद्गारों में कितनी ओजस्विता, कितनी कर्त्तव्यपरायणता तथा कितनी जननी-जन्मभूमि के प्रति हितैषणा की भावना भरी हुई है। यही बात कवि ने दावानल में फँसे हुए ग्वाल-बाल एवं गायों की रक्षा के समय व्यक्त की है। ऐसे भयंकर काल के उपस्थित होते ही श्रीकृष्ण का हृदय करुणा एवं कर्त्तव्य से भर आता है, राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो उठती है और अपने साथियों से कहने लगते हैं कि "ऐसे महान् संकट के समय प्राणों की चिन्ता न करके अपनी जाति का उद्धार करना ही मानव का महान् धर्म है। वैसे भी संसार में बिना अपने प्राणों की ममता को त्यागे हुए तथा बिना जोखिम की आग में कूदे हुए न तो कभी संसार में कोई महान् कार्य होता है और न संसार में जन्म लेना ही सार्थक होता है। इसलिए साथियो! अपने प्रियजनों की रक्षा के हेतु आगे बढ़ो और उनका भला करो। इस कार्य में हमें दोनों तरह से लाभ है क्योंकि यदि हमने अपनी जाति का उद्धार कर लिया तो अपने कर्त्तव्य का पालन होगा और यदि इस ज्वाला में भस्म हो गये, तो हमें सुन्दर कीर्ति प्राप्त होगी।"[2] श्रीकृष्ण के इन शब्दों में उनका राष्ट्रीय प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है। यही राष्ट्रीय भावना उन्हें प्राणिमात्र की सेवा और सहायता की प्रेरणा देती रहती है, इसी कारण वे सभी से बड़ी विनम्रता के साथ मिलते हैं, उनके सुख-दुःख की बातें बड़े चाव से सुनते हैं, रोगी, दुखी एवं आपत्ति ग्रस्तों की सेवा करते हैं और सर्वथा निस्वार्थ सर्वभूतहित में लीन रहे आते हैं।[3] इतना ही नहीं अपने इन्हीं राष्ट्रीय विचारों के कारण उन्हें सभी प्रेम एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, अपना पूज्य समझते हैं तथा छोटी अवस्था में ही वे सम्पूर्ण व्रज-भूमि के सच्चे नेता बन जाते हैं। इस तरह से कवि ने 'प्रियप्रवास' में राष्ट्रीय भावों का निरूपण करके श्रीकृष्ण के नर-रत्न तथा लोकनायक रूप की बड़ी ही भव्य अभिव्यंजना की है।

(२) विश्व-प्रेम—कवि हरिऔध ने सबसे अधिक बल यहाँ मानवता के उदात्त गुणों से युक्त विश्व-प्रेम की सगन भावना पर दिया है। कवि ने अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण को विश्व-प्रेम में लीन दिखाकर ऐसे-ऐसे सर्वजन-हितकारी एवं लोक-कल्याणकारी कार्य करते हुए अंकित किया है, जहाँ हम

---

१ प्रियप्रवास ११।२२-२७

२. वही ११।८४-८७

३. वही १२।७८-९०

आर्त्त-प्राणियो की सुरक्षा, दुष्टात्मा एव पातकी पुरुषो को उचित दड, व्यथित व्यक्तियो की व्यथा-निवारण आदि स्वकीय कर्त्तव्यो मे निष्काम भाव से लगे रहते हैं, इसी तरह राधा भी विविध सात्वना-कार्यो मे सलग्न होकर वृद्ध-रोगी-जनो की सतत सेवा मे लगी रहती है। दीन-हीन एव निर्बल अबलाजनो तथा विधवा आदि का वडा ध्यान रखती है, पारस्परिक कलह को दूर करती रहती है, घर-घर मे शान्ति धारा वहाती रहती है, चीटियो को आटा, पक्षियो को दाना और पानी देती रहती है, कीटादि के प्रति भी वडी सदय दृष्टि रखती है, वृथा पत्ते तक तोडना उचित नही समझती और हृदय से प्राणियो की हितकामना करती हुई अपने कर्त्तव्य का पालन करती रहती है। वास्तव मे यही प्रेमी के आदर्श का अनुसरण है, यही निष्काम भक्ति है, यही अपने प्रियतम के प्रति सच्चे प्रेम का प्रदर्शन है कि उसके आचरण। एव कर्त्तव्यो को अपनाकर अपना जीवन भी अपने प्रियतम के अनुरूप व्यतीत करे, जिससे कभी वह अपने हृदय से दूर न रहे और सदैव उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति के साथ पुनीत प्रेम वना रहे। हरिऔध जी ने ऐसे ही प्रेम के उज्ज्वल आदर्श की उद्भावना करते हुए 'प्रियप्रवास' को आधुनिक युग का सुदर महाकाव्य बना दिया है। '

(२) **वीर रस मे राष्ट्रीय भावना का समावेश**—'प्रियप्रवास' मे कवि ने वीर रस के वर्णन मे राष्ट्रीय भावो का समावेश करके आधुनिक युग मे स्वजाति-प्रेम एव स्वदेश-प्रेम का अतीव उज्ज्वल आदर्श उपस्थित किया है। यहाँ चरित्र नायक श्रीकृष्ण सदैव राष्ट्रीय भावो से ओत-प्रोत दिखाये गये हैं। इसी कारण वे कालिय नाग के द्वारा होने वाली स्वजाति की अतीव दुर्दशा तथा प्राणिमात्र की विगर्हणा देखकर अपने देशवासियो के सकट को दूर करने के लिए तुरन्त तैयार होजाते हैं, जन्मभूमि की ऐसी दुरवस्था देखकर उनकी भौहे टेढी हो जाती हैं और वे शीघ्र ही इस आपत्ति के निवारण-हेतु निश्चय कर डालते हैं। साथ ही अपने सभी साथियो से यह कह भी देते हैं कि "मैं अपनी जान हथेली पर रखकर स्वय इस कार्य को करूँगा और स्वजाति एव स्व-जन्मभूमि के लिए इस भयकर नाग से कदापि भयभीत न हूँगा। मैं सदैव अपमृत्यु तक का सामना करूँगा, कभी इन्द्र के वज्र तक से नही डरूँगा और मै धर्म के प्रधान अग परोपकार की कभी अवहेलना नही करूँगा। जब तक मेरे शरीर मे श्वास-प्रवाह शेष रहेगा, नाडियो मे रक्त-प्रवाहित रहेगा तथा मेरा एक भी रोम सशक्त बना रहेगा, तब तक मै बराबर

सर्वभूतहित करता रहूँगा।"[1] श्रीकृष्ण के इन वीरोचित उद्‌गारों में कितनी ओजस्विता, कितनी कर्त्तव्यपरायणता तथा कितनी जननी-जन्मभूमि के प्रति हितैषणा की भावना भरी हुई है। यही बात कवि ने दावानल में फँसे हुए ग्वाल-बाल एवं गायों की रक्षा के समय व्यक्त की है। ऐसे भयंकर काल के उपस्थित होते ही श्रीकृष्ण का हृदय करुणा एवं कर्त्तव्य से भर आता है, राष्ट्रीय भावना जाग्रत हो उठती है और अपने साथियों से कहने लगते हैं कि "ऐसे महान् संकट के समय प्राणों की चिन्ता न करके अपनी जाति का उद्धार करना ही मानव का महान् धर्म है। वैसे भी संसार में बिना अपने प्राणों की ममता को त्यागे हुए तथा बिना जोखिम की आग में कूदे हुए न तो कभी संसार में कोई महान् कार्य होता है और न संसार में जन्म लेना ही सार्थक होता है। इसलिए साथियो! अपने प्रियजनों की रक्षा के हेतु आगे बढ़ो और उनका भला करो। इस कार्य में हमें दोनों तरह से लाभ है क्योंकि यदि हमने अपनी जाति का उद्धार कर लिया तो अपने कर्त्तव्य का पालन होगा और यदि इस ज्वाला में भस्म हो गये, तो हमें सुन्दर कीर्ति प्राप्त होगी।"[2] श्रीकृष्ण के इन शब्दों में उनका राष्ट्रीय प्रेम कूट-कूट कर भरा हुआ है। यही राष्ट्रीय भावना उन्हें प्राणिमात्र की सेवा और सहायता की प्रेरणा देती रहती है, इसी कारण वे सभी से बड़ी विनम्रता के साथ मिलते हैं, उनके सुख-दुःख की बातें बड़े चाव से सुनते हैं, रोगी, दुखी एवं आपत्ति ग्रस्तों की सेवा करते हैं और सर्वथा निस्वार्थ सर्वभूतहित में लीन रहे आते हैं।[3] इतना ही नहीं अपने इन्हीं राष्ट्रीय विचारों के कारण उन्हें सभी प्रेम एवं श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं, अपना पूज्य समझते हैं तथा छोटी अवस्था में ही वे सम्पूर्ण व्रज-भूमि के सच्चे नेता बन जाते हैं। इस तरह से कवि ने 'प्रियप्रवास' में राष्ट्रीय भावों का निरूपण करके श्रीकृष्ण के नर-रत्न तथा लोकनायक रूप की बड़ी ही भव्य अभिव्यंजना की है।

(२) विश्व-प्रेम—कवि हरिऔध ने सबसे अधिक बल यहाँ मानवता के उदात्त गुणों से युक्त विश्व-प्रेम की सघन भावना पर दिया है। कवि ने अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण को विश्व-प्रेम में लीन दिखाकर ऐसे-ऐसे सर्वजन-हितकारी एवं लोक-कल्याणकारी कार्य करते हुए अंकित किया है, जहाँ हम

---

१ प्रियप्रवास ११।२२-२७

२. वही ११।८४-८७

३ वही १२।७८-९०

नवल श्याम शरीर सुकुमारता एव सरसता से परिपूर्ण है, उनके अग-प्रत्यग अत्यत सुगठित है, उनकी कमर मे पीताम्वर तथा सम्पूर्ण शरीर मे रुचिर वस्त्र सुशोभित हैं। उनका वक्षस्थल वनमाला से विभूषित है। कधे सुन्दर दुकूल से अलकृत है। कानो मे मकराकृत कुडल सुशोभित हैं। मुख के समीप विविध भावमयी अलकावली घिरी हुई है। मस्तक पर मधुरिमा से परिपूर्ण मोरमुकुट सुशोभित है, जिसकी श्रेष्ठ चन्द्रिका श्वेत रत्न के समान चमक रही है। उन्नत भाल पर केसर की खौर शोभा देरही है। उनकी मृदुल वाणी, मधुर मुसकान तथा नेत्रो की कमनीयता अत्यत मोहक है। जघाओ तक लटकने वाली उनकी लम्बी-लम्बी भुजायें हैं। उनका अत्यत सुपुष्ट तथा समुन्नत वक्षस्थल है। किशोरावस्था के माधुर्य से परिपूर्ण कमल जैसा प्रफुल्लित मुख है और मधुवर्षिणी मुरली हाथ मे शोभा दे रही है। उनके मुख से छवि-समूह छलक रहा है, शरीर से अनुपम छटा पृथ्वी पर छिटक रही है और उनकी श्रेष्ठ दीप्ति सर्वत्र फैल रही है।[१] दूसरा चित्र षष्ठ-सर्ग मे अकित किया गया है, वहाँ पर राधा पवन को श्री कृष्ण के मनोरम रूप को समझाती हुई वताती है कि तू मथुरा मे जाकर वादलो की सी कान्ति वाले शरीर को देखेगी, उनके नेत्रो से अद्भुत ज्योति निकल रही होगी। उनकी मुख-मुद्रा सौम्यता की मूर्ति सी जान पडेगी। उनके सीधे-सीधे वचन अमृत से सिंचित होगे। वे कमर मे सुन्दर पीताम्वर धारण किये होगे। उनके मुख पर पडी हुई अलके उनकी मुख-कान्ति को वढा रही होगी। उनका सारा शरीर दिव्य सौंदर्य से युक्त होकर साँचे मे ढला हुआ सा प्रतीत होगा और दोनो सुन्दर कधे वृषभ-स्कंध जैसे सजल कान्तिपूर्ण जान पडेंगे। उनकी लम्बी-लम्बी भुजायें हाथी के वच्चे की सूंड की भांति-शक्ति सयुक्त होगी। राजाओ का सा सुन्दर मुकुट उनके शिर पर सुशोभित होगा। कानो मे स्वर्ण के कुडल शोभा दे रहे होगे। भुजाओ मे रत्न-जटित सुन्दर केयूर सुशोभित होगे। शख जैसे उठे हुए कठ मे मोतियो की माला शोभायमान होगी। ऐसे दिव्य एव भव्य रूप-सौदर्यशाली श्रीकृष्ण को उनके तेज एव ओज के कारण सुगमता से पहचाना जा सकेगा।[२]

इन दोनो चित्रो मे कवि ने श्रीकृष्ण के शरीर की गठन, एकरूपता, सममात्रा, सुडौलपन, अगो की सुन्दर रचना आदि को वडे ही सुन्दर शब्दो मे व्यक्त किया है। यहाँ कवि ने उस शरीर की साज-सज्जा एव वेश-रचना

---

१ प्रियप्रवास १।१६–२५

२ वही ६।५६–६०

का वर्णन करके रूप-सौन्दर्य मे चार-चाँद लगा दिये हैं, जिससे श्रीकृष्ण का दिव्य गुण एव भव्य आभा-सम्पन्न एक सुगठित रूप-चित्र पाठको के सामने आकर प्रस्तुत हो जाता है। यह सारा रूप-चित्रण सौंदर्य की भारतीय परम्परा का द्योतक है।

कवि ने नारी के रूप-सौंदर्य की झाँकी प्रस्तुत करते हुए राधा के शारीरिक सौंदर्य को अंकित किया है और लिखा है कि वह रूप के उद्यान की विकसित कली पूर्णिमा के चन्द्र तुल्य मुख वाली थी, अत्यंत पतला शरीर था, मुख पर सदैव सुन्दर मुसकान बनी रहती थी, क्रीडा-कला की तो वह मानो पुत्तलिका था। माधुर्य की मूर्ति थी, उसके कमल जैसे सुन्दर नेत्र थे, उसके शरीर की कान्ति स्वर्ण जैसी थी, लम्बी-लम्बी काली अलकें थी, वह नाना प्रकार के हाव-भाव से परिपूर्ण थी, उसके कमल जैसे चरण अपनी लालिमा से पृथ्वी को विभूषित करते थे, ओष्ठो की लालिमा विम्बा और विद्रुम को भी कान्तिहीन कर देती थी, वह सदैव उज्ज्वल वस्त्र धारण करती थी और उसके शरीर की कमनीय कान्ति काम-पत्नी रति को भी मोहित कर देती थी।[1] इस सौंदर्य-चित्र मे कवि ने एक प्रसन्नवदना युवती के रूप-माधुर्य की सुन्दर एव सजीव झाँकी अंकित की है। इसके अतिरिक्त आगे चलकर इस वियोगिनी युवती के प्रशान्त एव भक्ति भावना से परिपूर्ण रूप की झाँकी दिखाते हुए लिखा है कि जिस समय उद्धव ने जाकर राधा के दर्शन किये, उस समय वह प्रसन्नवदना राधा एक शान्त एव नीरव निकुज मे बैठी हुई थी। उनके नेत्रो की कान्ति अतीव कोमल बनी हुई थी, परन्तु वहाँ विषादपूर्ण शान्ति छाई हुई थी। मुख-कमल की मुद्रा भी विचित्र दिखाई देती थी, क्योंकि वहाँ आकुलता के सहित प्रफुल्लता विद्यमान थी। इस तरह अत्यंत प्रशान्त एव म्लाना युवती राधा एक देवी के समान दिव्यतामयी मूर्ति के रूप मे बैठी हुई दिखाई देती थी।[2] राधा की इन दोनो रूप-झाँकियो मे कवि ने नारी के उल्लासपूर्ण एव विषादमय शारीरिक सौंदर्य के चित्र अंकित किए हैं, जिनमे शारीरिक गठन, अंगो का विकास-क्रम, सुडौलपन, सममात्रा आदि के साथ-साथ उसके भावो के अनुकूल मुद्राओ एव मुखाकृतियो आदि की भी सजीव झाँकी मिल जाती है।

भाव-सौंदर्य विधान—यद्यपि भाव-सौंदर्य का निरूपण रसो का विवेचन करते समय किया जा चुका है, तथापि किसी एक भाव के चित्रण मे कवि ने

---

१. प्रियप्रवास ४।४-८

२ प्रियप्रवास १६।२२-२४

जो अद्भुत चमत्कार दिखाया है, उसे यहाँ दिखाने की चेष्टा की जायेगी। कवि ने 'प्रियप्रवास' मे शोक, विषाद, खिन्नता, उदासी आदि के चित्र तो अत्यन्त मार्मिकता के साथ अकित किये ही हैं, परन्तु उद्धव के आगमन के समय गोकुल मे जिस उत्सुकता, उत्कठा एव आतुरता की लहर दौड गई थी, उसका भी कवि ने बडी सजीवता के साथ वर्णन किया है। कवि ने यहाँ बताया है कि जैसे ही उद्धव गोकुल मे पधारे, वैसे ही वियोग-दग्धा-जन-मडली अत्यत समुत्सुका होकर अपने प्राणवल्लभ श्रीकृष्ण का आना सोचती हुई उनकी घनश्याम-माधुरी को देखने के लिए अपना-अपना काम छोडकर रथ के समीप दौड़ी चली आई। जो व्यक्ति पशुओ को बाँध रहे थे, वे बाँधना छोडकर यहाँ आगये। जो गाय दुह रहे थे, वे दुहना छोडकर भागे आये। जो पशुओ को खिला रहे थे, वे खिलाना छोडकर वहाँ आ गये। जो घर मे दीपक जला रहे थे, वे दीपक छोडकर वहाँ भाग कर आगये। जो स्त्री कूये से जल निकाल रही थी वह रस्सी-सहित घडे को कूये मे ही छोडकर बडी आतुरता सहित रथ के समीप दौडी चली आई। किसी ने भरा हुआ घडा ही कूये पर छोड दिया, किसी ने घडे को सिर से गिरा दिया और रथ मे बैठे हुए अपने प्राणवल्लभ को देखने दौडी चली आई। यहाँ तक कि समस्त वयस्क, बूढे, बालक, बालिका आदि सभी अत्यन्त उत्कठित एव अधीर होकर श्रीकृष्ण के दर्शन करने के लिए वेगपूर्वक दौडकर रथ के समीप आगये थे। परन्तु जैसे ही आकर उन्होंने रथ मे उद्धव को बैठा देखा उनका सारा उत्साह, उनकी सारी उत्सुकता एव उनकी सारी उमग जाती रही और वे हरि-बधु को देख-देखकर अधीर हो गये।[1] यहाँ तक कवि ने जिस आतुरता एव अधीरता का वर्णन किया है, वह सर्वथा मार्मिक एव सजीव है। यद्यपि इस वर्णन पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव है, क्योंकि वहाँ पर उद्धव के गोकुल आगमन पर वहाँ के निवासियो की जिस स्थिति का वर्णन किया है, उसको 'प्रियप्रवास' मे भी दिखाया गया है,[2] तथापि कवि ने उन प्राणियो मे जिस आतुरता एव अधीरता का समावेश किया है, वह उसकी अपनी उद्भावना है। इसी तरह माता यशोदा के वात्सल्यपूर्ण वियोग[3] गोपियो की विरह-कातरता,[4] राधा की विपन्नावस्था,[5] कृष्ण के जाते

---

१ प्रियप्रवास ९।१२४-१३०
२ श्रीमद्भागवत पुराण, १०।४६।७-१३
३ प्रियप्रवास ७।११-५७
४ वही ११।१-७४
५ वही ४।२८-५३

समय गोकुलवासियो की विषादपूर्ण स्थिति[1] आदि के जो-जो भाव-चित्र यहाँ अकित किए गए हैं, उनमे भाव-सौंदर्य की सजीव झाँकी विद्यमान है। परन्तु हरिऔध जी छायावादी कवियो की भाँति भावो के वैसे सजीव चित्र अकित नही कर सके है, जिनमे भावो की नराकार उद्भावना करते हुए उनके स्वरूप का उद्घाटन किया गया हो, क्योकि भावो के चित्रण की यह प्रणाली छायावादी युग की अपनी विशेषता है, फिर भी कवि ने व्यग्य रूप मे भावो का सुन्दर चित्रण किया है।

कर्म-सौंदर्य-विधान—कवि का सबसे अधिक ध्यान कर्म-सौंदर्य के विविध चित्र अकित करने की ओर गया है। यहाँ कवि ने मानवीय कर्मों के विभिन्न रूपो के विभिन्न रगीन शब्द-चित्र अकित किए हैं। कवि ने अपने चरित्र-नायक श्रीकृष्ण के लोकोपकारी कार्यों की झाँकियाँ दिखाते हुए मानवोचित कर्त्तव्य की ओर ध्यान दिलाया है। उसके इन चित्रो मे कही श्रीकृष्ण व्रजवासियो का विनाश करने वाले विभीषणाकार प्रचड कालिय नाग को यमुना जल से भगाते हुए दिखाये गये हैं,[2] कही प्रचड दावानल से अपने साथियो एव गायो का उद्धार करते हुए चित्रित किए गए हैं,[3] कही चुने हुए दृढ साहसी वीरो के साथ भयकर जलवृष्टि से बचाने के लिए व्रजवासियो को गोवर्द्धन की कदराओ मे सुरक्षित पहुँचाने का काय करते हुए दिखाये गये है,[4] कही क्रूरकर्मा एव महा दुरात्मा अघासुर का वध करते हुए दिखाये गये हैं,[5] कही केशी नामक विशाल अश्व से व्रजवासियो की रक्षा करते हुए उस महापापी एव बलिष्ठ जीव का वध करते हुए अकित किए गए हैं[6] और कही व्योमासुर नामक प्रवचक, महाउत्पाती एव दुरात्मा पशुपाल को मारकर व्रज के सकट को दूर करते हुए चित्रित किए गए हैं।[7] इस तरह कवि ने लोकसेवा, परोपकार, विश्व-प्रेम, राष्ट्रीयता, जातीय-प्रेम आदि से ओत-प्रोत श्रीकृष्ण के कर्म-सौंदर्य को चित्रित करने के लिए उनके विविध लोकोपकारी कार्यों का उल्लेख किया है।

---

१ प्रियप्रवास ५।२०-७८
२ वही ११।१२-५०
३ वही ११।५६-८६
४ वही १२।१८-७१
५ वही १३।३७-५७
६ वही १३।५८-६७
७ वही १३।६८-८३

यही बात राधा के कार्यों मे भी दिखाई गई है। उसके कर्म-सौंदर्य का चित्र अकित करने के लिए कवि ने उसे अधीर एव व्यथित गोपियो को धैर्य बँधाते हुए, उनकी व्यथा दूर करते हुए, नद-यशोदा को सात्वना बँधाते हुए तथा सम्पूर्ण व्रज मे सुख और शान्ति का प्रसार करते हुए अकित किया है।[१] इसी कारण यहाँ कवि का झुकाव कर्म-सौंदर्य के चित्रण की ओर अधिक दिखाई देता है और इसीलिए 'प्रियप्रवास' काव्य को कम-सौंदर्य का रमणीक चित्र-फलक कहे, तो कोई अत्युक्ति नही। परन्तु कवि ने श्रीकृष्ण के जिस कर्म-सौंदर्य को यहाँ अकित किया है, वह केवल कथन रूप मे ही आया है, 'प्रियप्रवास' की रगभूमि पर वे सब कार्य घटित होते हुए नही दिखाये गए हैं। इसी से यहाँ कर्म-सौदर्य के चित्रों मे उतनी गतिशीलता एव प्रभावोत्पादकता नही आ सकी है, जितनी कि रामचरितमानस के अन्तर्गत राम के वीरोचित कार्यों मे दिखाई देती है। फिर भी राधा के कर्म-सौंदर्यपूर्ण चित्रो मे हमे अपेक्षाकृत अधिक गतिशीलता एव प्रभावोत्पादकता के दर्शन होते हैं, परन्तु एक तो ये चित्र अत्यंत अल्प हैं और दूसरे इनमे विविधता एव सश्लिष्टता का अभाव है। इसलिए कर्म-सौंदर्य के ये चित्र भी अधिक मार्मिक एव अधिक आह्लादकारी नही बन सके हैं।

महत्प्रेरणा एव महान् उद्देश्य—महाकवि हरिऔध अपने युग मे प्रचलित लोकहित, लोकसेवा, परोपकार, विश्व-बधुत्व, विश्व-प्रेम आदि भावो से प्रेरित होकर 'प्रियप्रवास' की रचना के लिए अग्रसर हुए जान पडते हैं। इसके अतिरिक्त वे अवतारी पुरुष के चरित्र को मानवोचित कार्यो से परे अलौकिक एव असभव कार्यों से युक्त दिखाना उचित नही समझते थे, वरन् उसे मानवो के समान कार्य करते हुए तथा मानवो की भाँति ही सुख-दुःख मे आन्दोलित होकर स्व-जाति, स्व-देश एव स्वराष्ट्र की रक्षा और उन्नति के लिए उदात्त कार्य करते हुए दिखाना अधिक समीचीन समझते थे। इसी कारण आपने अपने युग की विचार-धारा से प्रभावित होकर श्रीकृष्ण के पौराणिक चरित्र मे परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए उसे मानवोचित बनाने की चेष्टा की है तथा उसमे मानवीय आदर्शों की स्थापना की है। मानव-जीवन कैसे उन्नत एव उत्कृष्ट हो, कैसे आधुनिक मानव अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर हो, कैसे मानवो के हृदय मे मानवता का सचार हो, कैसे सभी व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति स्नेह एव सौहार्द्र रखते हुए जीवन-व्यतीत करें और कैसे

---

४ प्रियप्रवास १७।२९-४५

सम्पूर्ण मानवों के हृदय में विश्व-प्रेम जाग्रत हो आदि, आदि प्रश्न उनके हृदय को आंदोलित करते रहते थे और इन सभी प्रश्नों ने ही कवि को 'प्रियप्रवास' लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी। कवि की हार्दिक अभिलाषा भी यही थी कि भारत के नर-और नारी लोकहित एवं विश्व-प्रेम से परिपूर्ण हों। इसी कारण कवि ने यहाँ श्रीकृष्ण के लोकहित एवं विश्व-प्रेम संबंधी कार्यों का उल्लेख करते हुए राधा को भी लोकहित एवं विश्व-प्रेम में लीन दिखाया है। हरिऔध जी की दृष्टि में यह लोकहित एवं विश्व-प्रेम ही धर्म अर्थ, काम और मोक्ष नामक चतुर्वर्ग का प्रदाता है और इसी के कारण मानव अपने यथार्थ रूप को प्राप्त करता है। इसी कारण आपने नवधा भक्ति संबंधी विचारों में भी आमूल परिवर्तन करके वहाँ लोकहित एवं विश्व-प्रेम को ही सबसे बड़ी भक्ति कहा है, इसी को ईश्वर प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन बताया है और इसी को अपनाने के कारण एक साधारण मानव या मानवी को देवता या देवी के पद को प्राप्त करते हुए अंकित किया है। अतः कवि जितनी महान् प्रेरणा से प्रेरित होकर इस काव्य के निर्माण के लिए अग्रसर हुआ है, उसीके अनुरूप उसने काव्य के कलेवर को भी बदलने की चेष्टा की है। उसका यह परिवर्तन युगानुकूल भले ही हो, किन्तु महान् उद्देश्य के स्वरूप को प्रदर्शित करने में अधिक सशक्त नहीं दिखाई देता। हाँ, यदि कवि महाभारत में श्रीकृष्ण के जीवन-संबंधी कोई महान् घटना लेकर अपने इस उद्देश्य को दिखाने की चेष्टा करता, तो उसे अधिक सफलता मिल सकती थी। दूसरे, कवि ने इन उद्देश्य से संबंधित घटनाओं को 'प्रियप्रवास' के रंगमंच पर घटित होते हुए न दिखाकर केवल मौखिक रूप में ही प्रस्तुत किया है इससे भी काव्य की गुरुता, गंभीरता एवं प्रभावशालीनता में कमी आ गई है। फिर भी काव्य की प्रेरणा महान् है और काव्य का उद्देश्य भी अत्यंत उत्कृष्ट है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' में काव्य संबंधी परम्परागत विचारों के विरुद्ध नवीन क्रान्ति उत्पन्न करते हुए नये ढंग के कथानक, प्रकृति-चित्रण, भाव-रस संबंधी सौन्दर्य आदि को प्रस्तुत किया है और युगानुकूल विचारों को स्थान देते हुए श्रीकृष्ण और राधा के जीवन की आदर्श-झाँकी अंकित की है। परन्तु कवि का ध्यान यहाँ पहले तो करुण रस की अविरल धारा प्रवाहित करने की ओर रहा है और आगे चलकर वह लोक-हित एवं विश्व-प्रेम से इतना प्रभावित दिखाई देता है कि पग-पग पर इसी की चर्चा करना अधिक समीचीन समझता है। अतः भावपक्ष की दृष्टि से सारा काव्य दो भागों में विभक्त दिखाई देता है उनके प्रथम दस सर्गों में तो शोक एवं विषाद

मे व्रजभूमि मे छाये हुए अधकार और नीरवता का वर्णन करके आगामी सर्ग मे आने वाले कृष्ण गमन सबंधी निराशाप्रद समाचार की ओर सकेत किया गया है तथा व्रजभूमि की चित्रपटी पर से श्रेष्ठ चित्र के रहित होने का उल्लेख करके कृष्ण के व्रज छोड कर चले जाने की ओर भी सूचित किया गया है।[1] इसी तरह-द्वितीय सर्ग के अत मे "दुख-निशा न हुई सुख की निशा' कहकर जिस भयानक दुख-निशा की ओर सकेत किया है,[2] उसी का वर्णन आगामी तृतीय सर्ग मे किया गया है। इसी तरह तृतीय सर्ग के अत मे दुखभरी विभावरी मे यमुना के प्रवाह के रूप मे व्रज की धरा को रुदन करता हुआ कहकर आगामी सर्ग मे व्रजेश्वरी राधा के रुदन करने की ओर सकेत किया गया है।[3] यही बात अन्य सर्गों मे भी विद्यमान है। अत कवि ने 'प्रियप्रवास' की कथा को उचित सर्गो मे विभाजित करके शास्त्रीय नियमानुसार सर्गों का प्रयोग किया है, जिनमे महाकाव्योचित गरिमा, विस्तार एव रमणीयता के दर्शन होते हैं।

विवरणात्मकता आदि—महाकाव्य के लिए अपेक्षित है कि उसकी कथा विवरण प्रधान होनी चाहिए। उसका आरम्भ मगलात्मक, नमस्कारात्मक, आशीर्वादात्मक अथवा वस्तुनिर्देशात्मक होना चाहिए। उसमे खल-निन्दा तथा सज्जनो की प्रशसा रहनी चाहिए और उसका नामकरण कवि, इतिवृत्त, नायक या नायिका अथवा अन्य किसी प्रमुख पात्र या घटना के आधार पर होना चाहिए।[4] इस दृष्टि से भी विचार करने पर पता चलता है कि 'प्रियप्रवास' की कथा पूर्णतया विवरणात्मक है, उसमे स्थान-स्थान पर कवि ने विवरणो को महत्व देते हुए किसी न किसी पात्र के मुख से या अपनी ओर से सारी कथा को कहा है और उसे गतिशीलता प्रदान की है। इतना अवश्य है कि किसी-किसी सर्ग मे कवि विवरण देने मे इतना तल्लीन हो गया है कि कथा-भाग आगे नहीं बढ सका है और कवि एक ही स्थल की विविधता का वर्णन करता रहा है। जैसे नवम सर्ग मे कवि वृन्दावन एव गोवर्द्धन की प्राकृतिक सुषमा का विवरण देने मे इतना सलग्न दिखाई देता है कि वहाँ कथा की गति शिथिल

---

१ प्रियप्रवास २।४८-५१
२ प्रियप्रवास २।६४
३ वही ३।८८-८९
४ साहित्य दर्पण ६।३१९,३२४

हो गई है। इनके अतिरिक्त अन्य सर्गों में भी कथा कहने के लिए एक के बाद दूसरा पात्र रंगमंच पर आकर ऐसा उपस्थित होता है कि उससे भी कथानक में त्वरा एवं विवरण में गतिशीलता का अभाव खटकने लगा है और सम्पूर्ण घटनायें लम्बे-लम्बे भाषणों के समान पाठकों के हृदय में ऊब उत्पन्न कर देती हैं। साथ ही ये काव्य के वे मार्मिक स्थल भी नहीं है, जहाँ पाठकों का हृदय कुछ क्षण के लिए विराम लेकर रसानुभूति का आनंद ले सके। अतः कथानक में विवरणात्मकता के होते हुए भी घटना-क्रम-सम्बंधिनी गतिशीलता एवं व्यापार-प्रदर्शन के अभाव के कारण गुरुता एवं गम्भीरता के साथ-साथ कथानक की गत्यात्मकता के दर्शन नहीं होते और इसीलिए काव्य की यह विवरणात्मकता अधिक आह्लादकारिणी नहीं है।

यद्यपि यहाँ मंगलाचरण नहीं है और आधुनिक युग में इस नवीनता को प्रारम्भ करने का श्रेय 'प्रियप्रवास' को ही है, तथापि विद्वानों ने 'दिवस का अवसान समीप था' इस पंक्ति में आये हुए प्रथम 'दिवस' शब्द को 'दिव्' धातु से बना हुआ स्तुतिवाचक अथवा प्रकाशवाचक बतलाकर इसी शब्द को मंगला-चरण का द्योतक कहा है।[1] वैसे देखा जाय तो प्रारम्भिक छंद में मंगलाचरण भले ही न हो, किन्तु वह वस्तुनिर्देशात्मक अवश्य है, क्योंकि 'प्रियप्रवास' की कथा में ब्रज-भूमि के आनन्द और उल्लास के अवसान का जो वर्णन किया गया है, उसकी सूचना 'दिवस का अवसान' कहकर दी गई है, साथ ही 'गगन के लोहित होने' में स्पष्ट ही रोते-रोते ब्रजवासियों की आँखों के लोहित हो जाने का संकेत विद्यमान है, क्योंकि नीली अथवा काली आँखें 'गगन' के समान हैं और 'कमलिनी-कुल-वल्लभ' में समस्त ब्रजकुल के प्राणाधार श्रीकृष्ण की ध्वनि विद्यमान है। उनकी प्रभा के चले जाने से ब्रजवासियों के जीवन में पहले रोते-रोते आँखों में लालिमा छा जाती है और फिर उनके सम्पूर्ण प्रदेश में सदैव के लिए अन्धकार छा जाता है—कवि ने इसी कथा को संकेत रूप से प्रथम पद्य के अन्तर्गत कहा है। इसलिए मंगलाचरण या मंगलात्मक प्रारम्भ की अपेक्षा यहाँ कवि ने वस्तुनिर्देशात्मक प्रारम्भ को अपनाया है।

कवि ने सम्पूर्ण ग्रंथ में खल-निंदा एवं सज्जन-प्रशंसा को कितने ही स्थलों पर अंकित किया है। द्वितीय सर्ग में ही तृणावर्तीय विडम्बना

[1] हरिऔध और उनका प्रियप्रवास, पृ० ५६

इसी तरह कवि ने शोक एव करुणा का वातावरण अकित करने के लिए अत्यत सशक्त एव मार्मिक शब्दावली का प्रयोग किया है, जिसको पढते ही पाठको के मस्तिष्क मे अनायास ही शोक का चित्र सा अकित हो जाता है और हृदय मे करुणा का सागर उमडने लगता है। उदाहरण के लिए निम्न-लिखित पक्तियाँ देखी जा सकती हैं —

हा! वृद्धा के अतुल धन हा! वृद्धता के सहारे।
हा! प्राणो के परम-प्रिय हा! एक मेरे दुलारे।
हा! शोभा के सदन सम हा! रूप लावण्य वाले।
हा! बेटा हा! हृदय-धन हा! नेत्र-तारे हमारे।
कैसे होके अलग तुझसे आज भी मैं बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यो बताऊँ।
हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा।

इन पक्तियो मे कवि ने करुणा व्यजक पदावली का प्रयोग करते हुए यशोदा के हृदय की मार्मिक व्यथा को जो साकार रूप प्रदान किया है, उसमे भावानुकूल शब्दो की योजना होने के कारण चित्रोपमता का गुण विद्यमान है।

वर्ण-मैत्री—कवि ने काव्य को कर्ण-प्रिय एव पढने मे सुरुचिपूर्ण बनाने के लिए कही-कही वर्णमैत्री का अत्यत सुदर प्रयोग किया है। इस वर्ण-मैत्री के अतर्गत स्वरमैत्री तथा व्यजनमैत्री दोनो का विधान आता है अर्थात् जहाँ पर भाव-सूचक एक मे स्वरो की योजना की जाती है वहाँ स्वरमैत्री होती है और जहाँ पर भावोद्‌बोधक अथवा रसानुकूल एक मे व्यजनो की योजना की जाती है, वहाँ व्यजन-मैत्री होती है। कवि ने उक्त दोनो मैत्रियो का प्रयोग 'प्रियप्रवास' मे किया है। स्वर-मैत्री के उदाहरण के लिए निम्न पक्तियाँ ली जा सकती हैं —

सद्भावाश्रयता अचिन्त्य-दृढता निर्भीकिता उच्चता।
नाना-कौशल-मूलता अटलता न्यारी-क्षमाशीलता।
होता था यह ज्ञात देख उसकी शास्ता-समा-भगिमा।
मानो शासन है गिरीन्द्र करता निम्नस्थ-भूभाग का।

यहाँ कवि ने दीर्घ 'आ' का अधिक प्रयोग करके गिरिराज गोवर्द्धन की दीर्घता, महानता, गुरुता, दृढता आदि की ओर सकेत किया है, जिसकी ध्वनि शब्दो की दीर्घता एव 'आ' के प्रयोग द्वारा स्पष्ट सुनाई पड रही है। इसी तरह व्यजन-मैत्री के लिए निम्नलिखित पक्तियो को लिया जा सकता है.

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नही काम था ।
काँटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी ।
पोरो मे कब ईख की विपुलता है ग्रथियो की भली ।
हा ! दुर्दैव प्रगल्भते ! अपटुता तूने कहाँ की नहीं ।

यहाँ पर कवि ने 'क' व्यजन की मैत्री द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए पद को अत्यत सरस एव सुरुचिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया है ।

✓ **नाद-सौन्दर्य या ध्वन्यात्मकता**—इसी वर्ण-मैत्री का तनिक विकसित रूप नाद-सौंदर्य या ध्वन्यात्मकता के नाम से प्रसिद्ध है । इसके द्वारा शब्दो की ऐसी योजना की जाती है, जिससे किसी पदार्थ या व्यापार की विशेष क्रिया स्वय ध्वनित होती है । इस नाद-सौदर्य की सृष्टि के लिए कविजन वस्तु की अभिव्यजना करने वाले विशिष्ट शब्दो की योजना किया करते है। अंग्रेजी मे इसे ओनोमेटोपोइया (Onomatopoeia) कहते हैं । कवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे यत्र-तत्र ऐसी शब्द-योजना भी की है, जहाँ नाद-सौंदर्य अथवा ध्वन्यात्मकता विद्यमान है । जैसे निम्नलिखित पक्तियो मे वर्षाकालीन बादलो के घिरने, बिजली के कड़कने, मेघो के तीव्रता पूर्वक घुमड़ने आदि की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है :—

अशनि-पात-समान दिगन्त मे । तब महारव था बहुव्यापता ।
कर विदारण वायु प्रवाह का । दमकती नभ मे जब दामिनी ।
मथित चालित ताडित हो महा । अति प्रचड-प्रभजन-वेग से ।
जलद थे दल के दल आरहे । घुमडते घिरते व्रज-घेरते ।

इसी तरह ग्रीष्मकालीन प्रचड लू, सूर्य की महा-प्रचडता, पेडो की भयानक प्रकम्पनावस्था, वसुन्धरा की तप्तावस्था, प्राणियो की व्यग्रता आदि से युक्त निदाघ की भयकर ध्वनि निम्नलिखित पक्तियो मे सुनी जा सकती है —

प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगत मे । ज्वलत था आतप ज्वाल-माल-सा ।
पतग की देख महा-प्रचडता । प्रकम्पिता पादप-पुज-पक्ति थी ।
रजाक्त आकाश दिगन्त को बना । असख्य वृक्षावलि मर्दनोद्यता ।
मुहुर्मुहु उद्धत हो निनादिना । प्रवाहिता थी पवनाति भीषणा ।
विदग्ध होके कण-धूलि राशि का । हुआ तपे लोह कणो समान था ।
प्रतप्त-बालू-इव दग्ध-भाड की । भयकरी थी महि-रेणु हो गई ।
अगम्य उत्ताप दुरत था हुआ । महा समुद्विग्न मनुष्य मात्र था ।
शरीरियो की प्रिय-शान्ति-नाशिनी । निदाघ की थी अति उग्र उष्मता ।

(६) ऊधो ! माता सदृश ममता अन्य की है न होती।
(७) जो जी मे है सुरसरित सी स्निग्ध धारा वहाता।
वेटा ही है अवनि-तल मे रत्न ऐसा निराला।
(८) प्रेमी का ही हृदय गरिमा जानता प्रेम की है।
(९) कुल-कामिनी को स्वामी विना सब तमोमय है दिखाता।
(१०) ऊँची न्यारी रुचिर महिमा मोह से प्रेम की है।

व्रजभाषा के शब्द—'प्रियप्रवास' की रचना सस्कृत के तत्सम शब्द-प्रधान विशुद्ध खडी वोली मे हुई है। खडी वोली को सस्कृत-गर्भित लिखने का कारण यह है कि कवि ऐसी ही खडी वोली को राष्ट्रभाषा के लिए उपयुक्त समझता था, जिसमे सस्कृत के तत्सम शब्दो की वहुलता हो, क्योकि ऐसी भाषा को ही बगाली, गुजराती, मरहठी, मद्रासी और पजावी सुगमता से समझ सकते हैं और ऐसी ही हिन्दी सम्पूर्ण देश मे समादर प्राप्त कर सकती है।[1] परन्तु विशुद्ध खडी वोली का प्रयोग करते हुए भी कवि व्रजभाषा के मोह को सवरण नही कर सका है और जहाँ आवश्यकता समझी है, तुरत व्रजभाषा के शब्द अपना लिए हैं। इसका स्पष्ट कारण तो यह है कि कवि ने अपनी कविताओ का श्रीगणेश व्रजभाषा मे ही किया था और उस समय तक व्रजभाषा का ही काव्य-क्षेत्र मे एक छत्र राज्य था। इसके साथ ही कवि ने व्रजभाषा मे कितनी ही सुन्दर एव सरस कविताएँ भी लिखी थीं, जिनका सकलन 'रस कलस' के नाम से आज भी प्राप्य है और जो कवि के रचना-कौशल का उत्कृष्ट प्रमाण है। अत कवि व्रजभाषा के लालित्य एव माधुर्य से इतना प्रभावित था कि विशुद्ध खडी वोली को अपनाते हुए भी और यह जानते हुए भी कि इस काव्य मे सस्कृत-गर्भित खडी वोली मे रचना हो रही है, उसने व्रज-भाषा के अधिकाश शब्दो को अपनाया है तथा स्थान-स्थान पर उन्हे जडने का प्रयत्न किया है। यह दूसरी वात है कि वे शब्द व्रजभाषा मे अत्यत सरस और सुन्दर हो, परन्तु यहाँ खडी वोली के मध्य मे उनकी रमणीयता एव सरसता जाती रही है और वे भद्दे एव ग्रामीण से जान पडते हैं। जैसे—ढिग, जुगुत, छन-सुमन, मुँडेरे, यक, लैरू, अकले, ठौरो, याँ, वाँ, लाँवी, ओसे, वँधी, ओट, कसर, धौल, फेर आदि।[2] इन शब्दो के प्रयोग द्वारा कविता मे कोई विशेष

---

१. प्रियप्रवास-भूमिका, पृ० ९।

२ देखिए प्रियप्रवास क्रमश १।३१, ४।४०, ५।५४, ६।४९, ४।१, १०।७०, ८।६०, १०।९२, १२।१, १३।१०९, १३।८३, १४।५८, १४।१५, १५।२, १५।२८, १५।६० १६।६७।

माधुर्य एवं सौंदर्य की सृष्टि नहीं हुई है, अपितु ये शब्द वर्णिक वृत्तों की पूर्ति के लिए ही यहां अपनाए गए हैं। अतः ये काव्य-सौंदर्य में वृद्धि न करके उसके विघातक से ही जान पड़ते हैं।

ब्रजभाषा की क्रियायें—हरिऔध जी ने इन शब्दों के अतिरिक्त ब्रजभाषा की क्रियायें भी अत्यधिक मात्रा में अपनायी हैं। जैसे—अगरना, पैन्हना, जतलाना, उलहना, कढ़ना, सवना, पिन्हाना, धँसना, दुरना, विलपना, बधना, लसना, काढ़ना, लोटाल्नना, लसना, जनाना, ऊसना, ताकना, कलपाना, बोधना आदि।[1] इनमें से अधिकांश क्रियाओं का प्रयोग बार-बार हुआ है। यद्यपि ये सभी क्रियायें ब्रजभाषा में अत्यन्त सरस एवं भावोद्बोधक मानी जाती हैं और इनका 'कोमल कान्त वदन' भी अत्यन्त आकर्षक है, तथापि खड़ी बोली के अंतर्गत इनका अनधिकार चेष्टा करना सुन्दर एवं सुखद नहीं जान पड़ता। यह सम्मिश्रण तो ग्रामीण एवं नागरिक स्त्रियों के मिलन जैसा दिखाई देता है, क्योंकि जैसे ग्रामीण स्त्रियाँ अपनी बोलचाल और अपनी वेश-भूषा के कारण नगर की स्त्रियों से अलग दिखाई देती हैं तथा उन्हें पहचानने में कोई आपत्ति नहीं होती, वही दशा 'प्रियप्रवास' में प्रयुक्त ब्रजभाषा की क्रियाओं की है। यहां पर भले ही ये क्रियायें अपने कमनीय कलेवर से काव्य के सौंदर्य की वृद्धि करने के लिए प्रयुक्त हुई हों, परन्तु उनके प्रयोग द्वारा सौंदर्य-वृद्धि की अपेक्षा कुछ ह्रास ही हो गया है। उदाहरण के लिये निम्नलिखित पंक्तियां देखिए —

(१) कालिन्दी के पुलिन पर हो जो कहीं भी कढ़े तू।
(२) पीला प्यारा वसन कटि में पैन्हते हैं फबीला।
(३) है पुष्प-पल्लव वही ब्रज भी वही है।
ए हैं वही न घनश्याम जिन्हें जनाते।

यहां कढ़े, पैन्हते और जनाते क्रियाओं का प्रयोग कितना अशोभनीय एवं अरुचिकर दिखाई देता है, यह सभी काव्य-मर्मज्ञ जानते हैं। प्रत्येक भाषा की अपनी प्रवृत्ति एवं अपनी गति होती है। यदि उसमें किसी अन्य भाषा के शब्द या क्रियापद आकर बैठ जाते हैं, तो उसकी गति, सरसता एवं भाव-वाहिता में व्याघात उत्पन्न हो जाता है और उसका सौंदर्य भी किसी सीमा

---

१ देखिए प्रियप्रवास क्रमशः ११२५, ६।५७, ६।७२, ८।६१, ८।६३, ६।१०४, १०।४४, ११।६४, १२।४, १२।६६, १३।७७, १३।६२, १४।४६, १४।७५, १४।७६, १४।१४२, १४।१४४, १५।७५, १५।११८, १७।१८

विशेषणपद अधिक उपयुक्त ठहरते हैं। इसी कारण कवि ने हिन्दी की प्रवृत्ति के विरुद्ध स्त्रीलिंग संज्ञापदों के लिए स्त्रीलिंग विशेषणों का ही प्रयोग किया है। जैसे—"राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्रीजाति-रत्नोपमा" आदि। इसके अतिरिक्त कवि ने व्रजभाषा के शब्दों को अधिक इसलिए अपनाया है कि वह व्रजभाषा को कोई पृथक भाषा नहीं मानता। उसका मत है—"व्रजभाषा कोई पृथक् भाषा नहीं है, इसके अतिरिक्त उर्दू-शब्दों से उसके शब्दों का हिन्दी भाषा पर विशेष स्वत्व है। अतएव कोई कारण नहीं है कि उर्दू के शब्द तो निस्संकोच हिन्दी में गृहीत होते रहें और व्रजभाषा के उपयुक्त और मनोहर शब्दों के लिए भी उसका द्वार बंद कर दिया जावे। मेरा विचार है कि खड़ी बोलचाल का रंग रखते हुए जहाँ तक उपयुक्त एवं मनोहर शब्द व्रजभाषा के मिलें, उनके लेने में संकोच न करना चाहिए।"[1] यही कारण है कि व्रजभाषा के शब्द ही नहीं, अपितु क्रियायें भी लेने में कवि ने तनिक भी संकोच नहीं किया है। यह दूसरी बात है कि वे शब्द या क्रियापद किसी को अच्छे लगें या न लगें, परन्तु कवि ने अपनी धारणा के अनुसार खुले आम उनका प्रयोग किया है।

'प्रियप्रवास' की भाषा का स्वरूप—शब्दों का विवेचन करने के उपरान्त प्रियप्रवास की भाषा का जानना अत्यन्त सुगम एवं सरल हो जाता है। 'प्रियप्रवास' में संस्कृत गर्भित खड़ी बोली को अपनाया गया है। इसलिए कवि का झुकाव बोलचाल की भाषा से सर्वथा दूर संस्कृतमयी पदावली को अपनाने की ओर अधिक रहा है। परन्तु ऐसा नहीं है कि कवि ने सरल एवं सुबोध बोलचाल की खड़ी बोली भाषा का प्रयोग न किया हो। 'प्रियप्रवास' में इसी कारण हमें भाषा के दोनों रूप मिल जाते हैं अर्थात् यहाँ संस्कृत के तत्सम शब्द एवं समास-बहुला-पदावली-युक्त भाषा का प्रयोग भी हुआ है। जैसे—

"रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कल-हासिनी सुरसिका क्रीड़ा-कला-पुत्तली।
शोभा वारिधि की अमूल्य-मणि सी लावण्य लीलामयी।
श्री राधा-मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य की मूर्ति थी।

अथवा—

नाना-भाव-विभाव-हाव कुशला आमोद-आपूरिता।
लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू भंगिमा-पंडिता।

---

१ प्रियप्रवास—भूमिका, पृ० ५६

वादित्रादि समोद-वादन-परा ग्राभूषणाभूषिता।
राधा यों सुमुखी विशाल-नयना ग्रानन्द-ग्रान्दोलिता।

ग्रौर इसके साथ ही यहाँ ग्रत्यन्त सरल, सरस एवं सुबोध बोलचाल की भाषा भी ग्रपनाई गई है। जैसे —

ग्रहह दिवस ऐसा हाय! क्यों ग्राज ग्राया।
निज प्रियसुत से जो मैं जुदा हो रही हूँ।
ग्रगणित गुणवाली प्राण से नाथ प्यारी।
यह ग्रनुपम थाती मैं तुम्हें सौंपती हूँ।
सब पथ कठिनाई नाथ हैं जानते ही।
ग्रब तक न कहीं भी लाडिले हैं पधारे।
मधुर फल खिलाना दृश्य नाना दिखाना।
कुछ पथ-दुख मेरे बालकों को न होवे।

उक्त दोनों उदाहरणों से स्पष्ट है कि कवि हरिग्रौध ने खड़ीबोली-हिन्दी का दोनों प्रकार से प्रयोग करते हुए यह दिखाया है कि साहित्यिक हिन्दी के दोनों रूप हो सकते हैं—(१) विशुद्ध संस्कृत गर्भित रूप ग्रौर (२) बोलचाल का रूप। हरिग्रौध जी ने यद्यपि बोलचाल की भाषा में फूल पत्ते, बोलचाल, चुभते चौपदे, चोखे चौपदे ग्रादि कई ग्रंथ लिखे ग्रौर वे सदैव मुहावरेदार बोलचाल की भाषा को ही ग्रधिक मार्मिक एवं प्रभावशालिनी मानते रहे, तथापि उनका विशेष झुकाव संस्कृत के तत्सम शब्दों से परिपूर्ण संस्कृत-गर्भित खड़ीबोली की ही ग्रोर रहा। जैसा कि ग्रापने "फूल-पत्ते" की भूमिका में लिखा भी है—"ग्राजकल जिस भाषा में खड़ी बोली की कविता लिखी जाती है, वह बनावटी है, गढ़ी हुई है, ग्रपनी बोलचाल की भाषा नहीं है। इन दिनों गद्य की भाषा भी नहीं है। यह भाषा ग्रब पढ़े-लिखों में समझ ली जाती है ग्रौर दूर तक फैल भी गई है। इसमें संस्कृत शब्दों की भरमार है। इन दिनों इसका लिखना ग्रासान है, इसका ग्रभ्यास हो गया है, यह साहित्यिक भाषा बन गई है। संस्कृत भाषा में, उसके शब्दों में, उसके समासों में कैसा बल है, वह कितनी मीठी है, उसमें कितनी लोच है, कितना रस है, कितनी लचक है, कितनी गुंजाइश है, कितना सुहावनापन है, उसमें कितना भाव है, कितना ग्रानन्द है, कितना रस-रहस्य है, मैं इसे कैसे बतलाऊँ। उसमें क्या नहीं, सब कुछ है, उसमें ऐसे ऐसे सामान हैं, ऐसे ऐसे विचार हैं, ऐसे ऐसे भाव हैं, ऐसे ऐसे रत्न हैं, ऐसे ऐसे पदार्थ हैं कि उनके

विना हम जी नहीं सकते, पनप नहीं सकते, न फूल फल सकते हैं। उससे मुँह मोडकर हिन्दी भाषा के पास क्या रह जायेगा ? वह कगाल वन जायेगी।

हिन्दी भाषा की चोटी उसी के हाथ मे है। ऊँचे-ऊँचे विषय उसी की गोद मे पलेंगे, उसी के सहारे हिन्दी भरी पूरी होगी। मैंने जो वोलचाल की ओर ध्यान दिलाया है, उसका इतना ही मतलव है कि एक रूप उसका भी रहे, जिससे वह सब कोर कसर दूर कर अपनी किसी और वहनो से पीछे न रहे और इस योग्य वन जाये कि उसे लोग राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर विठला सकें।"[१]

इस कथन मे कवि ने स्पष्ट रूप से यह सकेत कर दिया है कि कवि समय के अनुसार ही सस्कृत पदावली युक्त हिन्दी की ओर झुका है, अन्यथा उसका विचार तो यह है कि वोलचाल की खडी वोली हिन्दी ही समृद्ध और सम्पन्न होनी चाहिए। अपने इन्ही विचारो के कारण कवि प्रियप्रवास-काल से ही दोनो प्रकार की भाषा के प्रयोग करता रहा। 'प्रियप्रवास' सन् १९१३ ई० मे लिखा गया था और 'फूल पत्ते' का प्रकाशन सन् १९३५ ई० मे हुआ था। इस २२ वर्ष की अवधि मे कविका विचार एकदम परिवर्तित हो गया, क्योंकि 'प्रियप्रवास' लिखते समय कवि सस्कृत गर्भित खडीवोली को ही राष्ट्र-भाषा के उपयुक्त समझता था[२] और 'फूलपत्ते' की भूमिका मे आकर कवि वोलचाल मे प्रयुक्त होने वाली सरल एव मुहावरेदार खडी वोली को राष्ट्रभाषा के सिंहासन पर आसीन करने के वारे मे सोचने लगा। अत 'प्रियप्रवास' की भाषा को कवि के प्रयोगकाल की भाषा कहे तो कोई अनुचित वात नहीं, क्योंकि उस समय कवि यह प्रयोग कर रहा था कि हिन्दी की साहित्यिक भाषा का रूप कैसा होना चाहिए। उसे हिन्दी मे शब्द-भडार की कमी दिखाई दी। इसलिए उसकी दृष्टि उर्दू, व्रज और सस्कृत भाषाओ की ओर गई और उसने उनकी सजातीय एव समान प्रवृत्ति वाली भाषाओ से अधिक से अधिक शब्द लेकर उसकी पूर्ति आरम्भ करदी। इस दृष्टि से विचार करें तो कवि हरिऔध का स्थान अत्यत महत्वपूर्ण दिखाई देता है, क्योंकि हिन्दी भषा के स्वरूप का निर्माण करने के लिए हरिऔध जी ने जो-जो प्रयोग किये, वे व्यर्थ ही नहीं गये, अपितु उनके द्वारा ही एक ऐसी सशक्त एव समृद्ध खडी वोली हिन्दी का निर्माण हुआ, जिसने छायावादी युग मे सभी प्रकार के भावो को

---

१ फूल पत्ते-दो चार वातें, पृ० २३-२४

२ देखिए प्रियप्रवास, भूमिका, पृ० ६

निरूपित करने का श्रेय प्राप्त करके आधुनिक युग में राष्ट्रभाषा का पद भी प्राप्त कर लिया। अतः भाषा की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है, इसमें कवि के भाषा संबंधी प्रयोगों को अच्छी तरह देखा जा सकता है और यह आगामी कवियों के लिए आलोक-स्तम्भ बनकर उनका मार्ग भी पथ प्रदर्शन करता हुआ दिखाई देता है।

'प्रियप्रवास' में शब्द-शक्तियों का प्रयोग—काव्य में प्रयुक्त शब्दों का अर्थ जानने के लिए प्रायः तीन शक्तियाँ बतलाई गई हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। इनमें से किसी शब्द के सांकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति को अभिधा कहते हैं। इसे मुख्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति भी कहा जाता है। जब मुख्यार्थ के समझने में बाधा उत्पन्न होती है, तब मुख्य अर्थ से भिन्न, परन्तु मुख्यार्थ से किसी न किसी रूप में सम्बद्ध जिस अर्थ का बोध जो शक्ति कराया करती है, उसे लक्षणा कहते हैं और तीसरी व्यंजना शक्ति शब्द और अर्थ की वह शक्ति है जो अभिधा और लक्षणा के शान्त हो जाने पर एक ऐसे अर्थ का बोध कराया करती है, जो सर्वथा विलक्षण होता है। इनमें से अभिधा शक्ति का कार्य तो सीधा सादा है। वह किसी भी शब्द के अपने मुख्य अर्थ को बताकर शान्त हो जाती है। साधारणतया इसी शक्ति के आधार पर सभी काव्यों के अर्थ साधारण व्यक्ति समझा करते हैं, क्योंकि इसके द्वारा किसी चमत्कार या अन्य विलक्षण बातों का पता नहीं चलता। उसके लिए तो लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का सहारा लेना पड़ता है। हरिऔध जी के 'प्रियप्रवास' में भी अधिक विलक्षण या चमत्कारपूर्ण अर्थों वाले शब्दों की भरमार नहीं है। इसलिए इस काव्य को समझने के लिए अभिधा का सहारा ही पर्याप्त है। परन्तु कहीं-कहीं कवि ने काव्य कौशल दिखाते हुए ऐसे-ऐसे शब्दों, पदावलियों एवं वाक्यों का प्रयोग भी किया है, जिनको केवल अभिधा के द्वारा नहीं समझा जा सकता। उनके लिए अन्य दोनों शक्तियों का आश्रय अपेक्षित है। अतः अभिधा शक्ति के निरूपण की कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती। उसके द्वारा तो काव्य की प्रत्येक पंक्ति का अर्थ सुगमता से लगाया जा सकता है क्योंकि जहाँ केवल वाच्यार्थ-प्रधान पंक्तियाँ होती हैं, वहाँ वह अभिधा शक्ति विद्यमान रहती है। जैसे :—

अभिधा—दिवस का अवसान समीप था। गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु शिखा पर थी अब राजती। कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

उक्त पक्तियो मे सध्या का वर्णन किया गया है और प्रत्येक शब्द का प्रसिद्ध अर्थ-ही-यहाँ अभिप्रेत है। अत. यहाँ वाच्यार्थ की प्रधानता रहने के कारण अभिधा शक्ति ने इन पक्तियो को सरलता एव सुबोधता प्रदान की है।

लक्षणा—जहाँ तक लक्षणा शक्ति का सम्बन्ध है; इसका प्रयोग प्राय: मुख्यार्थ या वाच्यार्थ मे बाधा उत्पन्न होने पर—ही होता है। मुख्यार्थ-मे बाधा उत्पन्न करने वाले कारणो मे से कुछ कारण रूढ़िगत होते हैं और कुछ प्रयोजनगत। इसी आधार पर लक्षणा को सर्वप्रथम दो भेदो मे विभक्त किया जाता है—रूढ़िलक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। 'प्रियप्रवास' मे इन दोनो लक्षणाओ के स्वरूप देखे जा सकते हैं। जैसे —

रूढ़िलक्षणा—बहु-भयकर थी यह यामिनी।
विलपते व्रज-भूतल के लिये ।२।६१

इन पक्तियो मे 'व्रज-भूतल' से अभिप्राय व्रज के रहने वाले समस्त प्राणियो से है और यहाँ पर व्रज-निवासियो के शोक-जन्य विलाप एव रात्रि के कष्ट का ही वर्णन किया गया है। अत. 'व्रज-भूतल' का मुख्यार्थ तो व्रजभूमि ही होता है, परन्तु यहाँ लक्ष्यार्थ से ही इसका अर्थ व्रज के रहने वाले प्राणी या व्रज के निवासी किया गया है। इस अर्थ-ग्रहण का मूलकारण रूढ़ि है, क्योकि 'व्रज' कह देने से व्रज के प्राणिसमूह एव वहाँ के पदार्थ आदि का बोध हो जाता है। इसी कारण यहाँ रूढ़िलक्षणा है।

प्रयोजनवती लक्षणा—प्रिय ! सब नगरो मे वे कुबाला मिलेंगी।
न सुजन जिनकी हैं वामता बूझ पाते।
सकल समय ऐसी साँपिनो से बचाना।
वह निकट हमारे लाड़िलो के न आवें ।५।५३

उक्त पक्तियो मे कवि ने कुनारियो अथवा दुश्चरित्र स्त्रियो के लिए "साँपिन" शब्द का प्रयोग किया है। "साँपिन" का मुख्यार्थ सर्पिणी या नागिन होता है, परन्तु एक स्त्री तो नागिन हो नही सकती। अत यहाँ पर भी मुख्य अर्थ मे बाधा उपस्थित होती है। परन्तु कवि ने दुष्टा स्त्रियो के बुरे आचरण को बताने के प्रयोजन से "साँपिन" शब्द का प्रयोग किया है, जो नारियो के नागिन के समान विषाक्त होकर भयकर आचरण करने की व्यजना कर रहा है। इसी कारण यहाँ प्रयोजनवती लक्षणा है।

इसके अनन्तर उपादान एव उपलक्षणा की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किए गए जाते है—उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। इनमे से जहाँ

वाक्यार्थ की संगति के लिए अन्य अर्थ के लक्षित किये जाने पर भी अपना अर्थ न छूटे वहाँ उपादान लक्षणा होती है और जहाँ वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए वाच्यार्थ अपने को छोड़कर केवल लक्ष्यार्थ को सूचित करे वहाँ लक्षण-लक्षणा होती है। उपादान लक्षणा को अजहत्स्वार्था लक्षणा तथा लक्षणलक्षणा को जहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं।[1] 'प्रियप्रवास' में कवि ने इन दोनों लक्षणाओं का भी प्रयोग किया है।

उपादान लक्षणा—सब परस्पर ये कहते यही।
कमल-नेत्र निमंत्रित क्यों हुए।
कुल स्ववधु समेत व्रजेश का।
गमन हो सब भाँति यथेष्ट था।२।२७

इन पंक्तियों में कवि ने श्रीकृष्ण का नाम न लेकर "कमल-नेत्र" को निमंत्रित होता हुआ लिखा है। परन्तु 'कमल जैसे नेत्र' श्रीकृष्ण से अलग नहीं हैं। अतः 'कमल-नेत्र' पद श्रीकृष्ण के कमल जैसे नेत्र का उपादान करता है और यह 'नेत्र' शब्द अपना अर्थ भी नहीं छोड़ता। इसी कारण 'कमल-नेत्र' पद में उपादान लक्षणा है।

लक्षणलक्षणा- क्या देखूँगी न अब रहता इंदु को आलयों में।
क्या फूलेगा न अब गृह में पद्म सौंदर्यशाली।८।६३

उक्त पंक्तियों में 'इंदु' तथा 'पद्म' का लक्ष्यार्थ श्रीकृष्ण है, जिसकी व्यंजना आलय एवं गृह शब्द द्वारा हो रही है। अतः यहाँ 'इंदु' और 'पद्म' शब्द अपना मुख्यार्थ पूर्णतया छोड़ बैठते हैं। इसी कारण यहाँ लक्षण-लक्षणा है।

इस लक्षणा को उपमान-उपमेय के आरोप तथा अध्यवसान के आधार पर पुनः दो भागों में विभक्त किया जाता है—सारोपा लक्षणा और साध्यवसाना लक्षणा। इनमें से जिस लक्षणा में विषयी एवं विषय की एकरूपता करने के लिए आरोप हो अथवा आरोप्यमाण और आरोप का विषय इन दोनों की शब्द द्वारा उक्ति हो, उसे सारोपा लक्षणा कहते हैं और जहाँ आरोप का विषय लुप्त रहे—शब्दों में प्रकट न किया गया हो और आरोप्यमाण द्वारा ही उसका कथन हो वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[2] इन दोनों लक्षणाओं के स्वरूप की झाँकी भी 'प्रियप्रवास' में विद्यमान है।

---

१ काव्य दर्पण—पृ० ३१-३२

२. वही—पृ० ३५-३६

इसी तरह लक्षणा के ऊपर बताए गए चारो भेदो की रूढ़ि और प्रयोजनवती लक्षणा से सम्बद्ध कर देने पर आठ प्रकार की रूढ़िमूला और आठ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा हो जाती है। फिर प्रयोजनवती लक्षणा को भी गूढ़ और अगूढ़ के भेद से दो भागो मे बाँटा जाये तो सोलह प्रकार की लक्षणा होजाती है और धर्मी और धर्म के भेद से इसके बत्तीस भेद हो जाते हैं तथा पदगत और वाक्यगत होने से चौंसठ भेद अकेली प्रयोजनवती लक्षणा के हो जाते है। ऐसे ही पदगत और वाक्यगत होने के कारण सोलह भेद रूढ़ि-मूला लक्षणा के माने गये हैं। इस तरह कुल मिलाकर लक्षणा अस्सी प्रकार की हो जाती है। इन सब के उदाहरण खोजने तथा उनका दिग्ददर्शन कराने से कोई लाभ नही। व्यर्थ ही विस्तार हो जाता है। दूसरे सभी भेदो को 'प्रियप्रवास' मे देखा भी नही जा सकता। अत थोडे से उदाहरण देकर ही यहाँ इतना कह देना पर्याप्त है कि कवि ने लक्षणा शक्ति का भी प्रयोग किया है, जिससे उसके काव्य मे चमत्कार के साथ-साथ अर्थ-गाभीर्य की भी सृष्टि हुई है। वैसे उसने अभिधा को अधिक अपनाया है और उसी के आधार पर कथानक मे धारावाहिकता उत्पन्न की है, परन्तु काव्य मे मार्मिक स्थलो को सरस एव आकर्षक बनाने के लिए कवि ने लक्षणा का सहारा लिया है, जो उसके कला-कौशल का द्योतक है।

व्यजना—अभिधा और लक्षणा के उपरान्त इस तीसरी व्यजना शक्ति के सहारे वाच्यार्थ एव लक्ष्यार्थ से भिन्न एक तीसरे व्यग्यार्थ का पता लगाया जाता है, जो काव्य मे गूढ़ एव गम्भीर होकर गुप्तरूप से छिपा रहता है। इस शक्ति के द्वारा काव्य मे निहित सरस एव आकर्षक गूढार्थो का ज्ञान प्राप्त किया जाता है तथा इससे गहन एव गम्भीर रहस्यो का उद्घाटन किया जाता है। इस शक्ति की सबसे बडी विशेषता ही यह है कि यह शब्द के बल पर ही नही अर्थ के बल पर भी एक अन्यार्थ को व्यजित करती है। परन्तु जहाँ शब्द के बल पर यह व्यग्यार्थ का बोध कराया करती है, वहाँ यह दो प्रकार की होती है—अभिधामूला तथा लक्षणामूला। इनमे से अभिधामूला शाब्दी व्यजना के पद्रह भेद होते है और लक्षणामूला शाब्दी व्यजना के बत्तीस। साथ ही आर्थी व्यजना के तीस भेद होते हैं। इस तरह व्यजना के भी अनेक भेद होते हैं। यदि उन सभी भेदो को 'प्रियप्रवास' मे ढूंढने का प्रयत्न किया जाय, तो मिल जाते है, परन्तु विस्तार-भय से केवल कुछ प्रमुख भेदो के स्वरूप को ही उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत करके यह देखने की चेष्टा की जायगी

कि कवि ने व्यजना-शक्ति का प्रयोग करते हुए काव्य को कितना नरम एव चित्ताकर्षक बनाने का प्रयत्न किया है।

अभिधा-मूला शाब्दी-व्यजना—सयोग, वियोग, साहचर्य, प्रकरण आदि के द्वारा अनेकार्थ शब्द के प्रकृतोपयोगी एकार्थ के नियन्त्रित हो जाने पर जिस शक्ति द्वारा अन्यार्थ का ज्ञान होता है वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यजना होती है।[1] जैसे :—

(१) आई वेला हरि गमन की छागई खिन्नता सी।

(२) अब नहीं वह भी अवलोकती, मधुमयी छवि श्री घनश्याम की।

उक्त दोनो उदाहरणो मे हरि और घनश्याम शब्दो के अर्थ क्रमश सूर्य और नीले बादल भी होते हैं, किन्तु 'गमन की वेला' तथा कृष्ण की शोभा का प्रसग रहने के कारण उक्त दोनो शब्द श्रीकृष्ण के ही वाचक है। इसलिए यहाँ प्रकरण-सभवा-अभिधा-मूला व्यजना है। एक और उदाहरण लीजिए :—

(१) जिस प्रिय वर को पा ग्राम सूना हुआ है।

इस पक्ति मे 'वर' शब्द के श्रेष्ठ, पति, भेंट, दान, जामाता, केसर आदि कई अर्थ होते हैं। परन्तु यहाँ ग्राम से जाने वाला तथा गोकुल ग्राम को सूना बनाने वाला 'वर' और कोई नही श्रेष्ठ श्रीकृष्ण ही हैं। अत यहाँ वियोग-सभवा-अभिधा-मूला-शाब्दी-व्यजना है। इसी तरह शाब्दी व्यजना के अन्य भेद भी ढूँढने पर मिल सकते हैं।

लक्षणामूला-शाब्दी व्यजना—जिस प्रयोजन के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है वह प्रयोजन जिस शक्ति द्वारा प्रतीत होता है, उसे लक्षणामूला शाब्दी व्यजना कहते हैं।[2] यह व्यजना प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा से मिलती-जुलती है। 'प्रियप्रवास' मे इनका भी प्रयोग हुआ है। जैसे :—

> सखि ! मुख अब तार क्यो छिपाने लगे हैं।
> यह दुख सहने की ताब क्या है न लाते।
> परम-विकल होके आपदा टालने मे।
> वह मुख अपना है लाज से या छिपाते।

---

१ काव्यदर्पण, पृ० ८२

२ वही, पृ० ४६

विद्यमान है और इसी कारण काव्य मे सरसता के साथ-साथ उक्ति-वैचित्र्य एव अर्थ-गाभीर्य की झलक भी मिल जाती है। फिर भी लक्ष्यार्थ एव व्यग्यार्थ का प्रयोग अधिक नही मिलता। इसका एक कारण तो यह है कि यह काव्य कवि की प्रौढ कृति नहीं है। दूसरे, इसका निर्माण जिस युग मे हुआ था उस समय तक खडी बोली इतनी सशक्त एव सक्षम नही हुई थी कि उसमे लक्ष्यार्थ एव व्यग्यार्थ को व्यक्त करने की सामर्थ्य आसके। इसका पूर्ण विकास आगे चलकर छायावादी युग में हुआ। अत. कवि ने यहाँ अभिधा के सहारे वाच्यार्थ को ही अधिकाधिक रम्य एव सरस बनाने का प्रयत्न किया है।

'प्रियप्रवास' मे गुणो का स्वरूप—गुणो को रस का धर्म कहा गया है। कारण यह है कि विभिन्न रसो का आस्वादन करते समय चित्त के भाव भी भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। जैसे, शृगार रस का वर्णन पढकर या सुनकर अथवा देखकर हृदय मे माधुर्य का सचार होता है और वीर रस के वर्णन द्वारा ओज की दीप्ति रग-रग मे फैल जाती है। ये माधुर्य, ओज आदि ही गुण कहलाते हैं, जो रसो से सम्बद्ध होकर चित्त मे विभिन्न स्थितियो को जाग्रत करते रहते हैं और हृदय को विस्तृत एव उदार बनाने में सहायक होते हैं। गुणो की सख्या के बारे मे पहले बडा विवाद रहा है। भरत मुनि ने दस गुण बतलाए थे। व्यास जी ने उन्नीस गुण कहे। दडी ने दस गुणो का वर्णन किया। वामन ने उनकी सख्या बीस करदी और भोज ने चौबीस गुणो का निरूपण किया। परन्तु भामह ने केवल माधुर्य, ओज तथा प्रसाद नामक तीन गुणो को ही स्वीकार किया और मम्मटाचार्य ने भी इन तीन गुणो को ही काव्य के लिए सर्वथा उचित समझा। आजकल उक्त तीन गुणो को ही प्रमुखता दी जाती है। वैसे श्लेष, समता, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, कान्ति, समाधि आदि गुण भी माने गए हैं। फिर भी अधिकाश आचार्य तीन गुणो को ही मानते हैं। प० रामदहिन मिश्र का मत है कि "यद्यपि आचार्यों ने प्रधानतया तीन ही गुण माने हैं, पर आधुनिक रचना पर दृष्टिपात करने से कुछ अन्यान्य गुणों का मानना आवश्यक प्रतीत होता है। आजकल ऐसी अधिकाश रचनायें दीख पडती हैं जिनमें न तो प्रसाद गुण है और न ओज गुण, बल्कि इनके विपरीत उनके अनेक स्वरूप देख पडते हैं।"[१] परन्तु आपने उक्त तीन गुणो का ही विशेष रूप से वर्णन किया है तथा इनके अतिरिक्त और किसी गुण को प्रमुखता नही दी है। इनके अतिरिक्त आचार्य बा० गुलाबराय का मत

---

१ काव्य दर्पण, पृ० ४०९

है कि" मम्मट ने इन दशो को माधुर्य, ओज, प्रसाद—तीन के ही भीतर लाने का प्रयत्न किया है, यद्यपि इस प्रयत्न मे उनको आंशिक ही सफलता मिली है। पहली बात तो यह है कि इन दश गुणो की व्याख्या के सम्बन्ध मे धर्म के तत्व की भांति यही कहा जा सकता है कि "नैको मुनिर्यस्यवच. प्रमाणम्" और मम्मट ने यदि वामन के बतलाये हुए दश गुणो की अन्विति तीन मे करदी है तो उससे और आचार्यों के बतलाये हुए गुणो मे नही होती। इसके अतिरिक्त इन दस या बीस गुणो मे हमको शैली के बहुत से तत्व और प्रकार मिल जाते हैं।"[२] इतना मानते हुए भी बाबूजी ने प्रमुखता तीन गुणो को ही दी है।

गुणो की सख्या तीन मानने का प्रमुख कारण यह है कि चित्त की तीन ही प्रमुख वृत्तियाँ होती है—कोमल, कठोर तथा मिश्रित। इन तीनो वृत्तियो का सम्बध क्रमश माधुर्य, ओज और प्रसाद से है, क्योकि जो गुण अन्त करण को द्रवित करके अथवा पिघलाकर उसे प्रसन्न कर देता है उसे माधुर्य कहते है। यह गुण सभोग शृगार, करुण रस, विप्रलम्भ शृगार और शान्तरस मे रहता है तथा इनमे भी उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है। इसके लिए ट, ठ, ड, ढ को छोड़कर क से म तक के ऐसे वर्ण अपेक्षित होते हैं, जो अपने-अपने अन्त्य वर्ण से मिलकर श्रुति मधुर ध्वनि की सृष्टि किया करते हैं। इस गुण के लिए समासरहित छोटे-छोटे शब्द अथवा अल्प समास वाली रचना अच्छी होती है। इस तरह मधुर एव कोमल पदो वाली रचना ही माधुर्य गुण के लिए सर्वथा उपयुक्त होती है,[३] इसी तरह चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण को ओज कहा जाता है।[४] यह गुण वीर, वीभत्स और रौद्र रस मे उत्तरोत्तर उत्कृष्ट रूप से विद्यमान रहता है। इसके लिए ऐसी दीर्घ समासवती एव औद्धत्यपूर्ण पद योजना आवश्यक होती है, जिसमे सयुक्ताक्षर रेफ, सयुक्त णकार, द्वित्व वर्ण, टवर्ग, तालव्य शकार, मूर्धन्य षकार आदि रहते हैं।[५], इस गुण का सम्बध चित्त की कठोर वृत्ति से रहता है, जब कि माधुर्य का कोमल वृत्ति से। इसके साथ ही जो गुण 'प्रसाद' कहलाता है वह सहृदय-

---

१. सिद्धान्त और अध्ययन, भाग १, पृ० १६४
२ चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते। साहित्यदर्पण ८।२
३ साहित्य दर्पण—८।२-३
४ ओजश्चित्तस्य विस्ताररूप दीप्तत्वमुच्यते। सा० द० ८।४
५. साहित्यदर्पण—८।४-६

हृदय की एक ऐसी निर्मलता है जो कि चित्त मे उसी भाँति व्याप्त हो जाती है जिस भाँति सूखी लकडी मे आग।[1] यह प्रसाद गुण सभी रसो का धर्म माना जाता है और इसकी अवस्थिति सभी रचनाओ की विशेषता मानी जाती है। सूखे इंधन मे अग्नि के प्रकाश अथवा स्वच्छ कपडे मे जल की झलक की भाँति प्रसाद गुण द्वारा चित्त में एक साथ किसी अर्थ का प्रकाश हो जाता है। और वह चित्त को व्याप्त कर लेता है। इनमे से प्रसाद गुण की स्थिति माधुर्य और ओज के साथ भी हो सकती है, परन्तु माधुर्य और ओज दोनो एक साथ नही रहते।

माधुर्य—अब यदि 'प्रियप्रवास' की ओर दृष्टि डालें तो पता चलेगा कि हरिऔध जी ने इस काव्य मे माधुर्य गुण को अपनाते हुए बडी सरस रचना की है। यदि यह कहा जाय कि 'प्रियप्रवास' मे माधुर्य का ही प्राधान्य है तो कोई अत्युक्ति नही, क्योकि वियोग शृगार एव करुणा की अविरल धारा बहाते हुए कवि ने यहाँ अन्त करण को द्रवित कर देन वाले अथवा पिघला देने वाले इस गुण का ही सर्वाधिक प्रयोग किया है। यहाँ यशोदा का करुण-क्रदन, राधा की विरह-कातरता, गोपियो की विक्षिप्तावस्था, गोपो की खिन्नता, व्रज के अन्य प्राणियो की शोकावस्था आदि मे सर्वत्र कोमल एव मधुर पदावली युक्त माधुर्य गुण भरा हुआ दिखाई देता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद देखिए —

हा ! वृद्धा के अतुल धन हा ! वृद्धता के सहारे।
हा ! प्राणो के परम-प्रिय हा ! एक मेरे दुलारे।
हा ! शोभा के सदन सम हा ! रूप लावण्य वाले।
हा ! बेटा हा ! हृदय-धन हा ! नेत्र-तारे हमारे।
कैसे होके अलग तुझसे आज भी मै बची हूँ।
जो मैं ही हूँ समझ न सकी तो तुझे क्यो बताऊँ।
हाँ जीऊँगी न अब, पर है वेदना एक होती।
तेरा प्यारा वदन मरती बार मैंने न देखा।[2]

इन पक्तियो मे कवि ने कोमल एव मधुर पदावली का प्रयोग करते

---

१ चित्त व्याप्नोति य क्षिप्र शुष्केन्धनमिवानल।
स प्रसाद समस्तेषु रसेषु रचनासु च। सा० द० ८।७-८

२ प्रियप्रवास ७।५६-५७

हुए चित्त को पिघलाने के लिए जो मधुर पद-योजना की है, उसमें वियोग एवं करुणा के साथ-साथ माधुर्य गुण विद्यमान है। इसे पढ़ते ही अथवा सुनते ही चित्त द्रवित हो जाता है और सारा वर्णन अत्यंत हृदयग्राही जान पड़ता है।

ओज—'प्रियप्रवास' में यद्यपि माधुर्य की प्रधानता है, तथापि ओज गुण को अपनाते हुए कवि ने श्रीकृष्ण के शौर्य, पराक्रम एवं वीरता का वर्णन किया है। इस गुण के अनुकूल वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस होते हैं, क्योंकि इनके स्थायी भाव उत्साह, जुगुप्सा तथा क्रोध के कारण ही हृदय में दीप्ति उत्पन्न होती है, हृदय का विस्तार होता है और उत्तेजना का संचार होता है। मुख्यतया उत्साह एवं क्रोध ही ओज गुण के अधिक अनुकूल होते हैं। 'प्रियप्रवास' में इसके उदाहरण भी पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं। जैसे व्रज को उत्पीड़ित करने वाले व्योमासुर को एक दिन अपने सामने देखकर श्रीकृष्ण कहने लगे —

सुधार चेष्टा वह व्यर्थ हो गई। न त्याग तूने कु-प्रकृति को किया।
मन यही है अब युक्ति उत्तमा। तुझे वधूं मैं भव-श्रेय-दृष्टि से।
क्षमा नहीं है खल के लिए भली। समाज-उत्सादक दण्ड योग्य है।
कुकर्म-कारी नर का उबारना। सु-कर्मियों को करता विपन्न है।
अतः अरे पामर सावधान हो। समीप तेरे अब काल आ गया।
न पा सकेगा खल आज त्राण तू। सम्हाल तेरा वध वांछनीय है।[1]

उक्त पंक्तियों में परुष पदावली युक्त ऐसी रचना की गई है, जिसे सुनकर अथवा पढ़कर अनायास ही चित्त में स्फूर्ति आ जाती है, उसमें दीप्ति जाग्रत हो जाती है और आवेग उमड़ आता है। इतना ही नहीं इससे हृदय में विस्तार होता है और वह उद्विग्न होकर आवेश युक्त हो जाता है। अतः यहाँ ओज गुण विद्यमान है।

प्रसाद—यह गुण तो यहाँ सर्वत्र विद्यमान है। इसके द्वारा कवि ने अपने काव्य को सरल, सरस तथा सुमधुर बनाने की चेष्टा की है, जिससे उसके अर्थ को समझने में कोई परेशानी नहीं होती। श्रवणमात्र या पठनमात्र से ही तुरन्त अर्थ की प्रतीति हो जाती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :—

---

१. प्रियप्रवास १३।७७-८२

यह सकल दिशायें आज रो सी रही हैं।
यह सदन हमारा, है हमे काट खाता।
मन उचट रहा है चैन पाता नहीं है।
विजन-विपिन मे है भागता सा दिखाता।
सदन रत न जानें कौन क्यो है बुलाता।
गति पलट रही है भाग्य की क्यो हमारे।
उह! कसक समाई जा रही है कहाँ की।
सखि! हृदय हमारा दग्ध क्यो हो रहा है।[1]

उक्त पक्तियो मे कवि ने सरल और सुबोध रचना करते हुए श्रवण-मात्र से अर्थ प्रतीति कराने वाले शब्दो की योजना की है, जो प्रसाद गुण-व्यजक है।

'प्रियप्रवास' मे रीतियों का स्वरूप—रीति शब्द रीड् गतौ गत्ययक रीड् धातु मे क्तिन् प्रत्यय के सयोग से वनता है। अत रीति का अर्थ है—मार्ग, पथ, गति, प्रणाली या पद्धति। इसी कारण रीति से किसी लेखक की विशिष्ट रचना-प्रणाली का बोध होता है। साधारणतया प्रत्येक लेखक या कवि के लिखने का ढग अपना निजी होता है, उसमे कुछ विशिष्टता होती है, जो अन्य कवि या लेखकों मे नहीं दिखाई देती और जिसके परिणामस्वरूप हम तुरन्त पहँचान लेते हैं कि अमुक रचना अमुक व्यक्ति की है। यद्यपि यह विशिष्टता या यह भेद अत्यत सूक्ष्म होता है, क्योंकि एक ही भाषा के कवियो मे भाषागत अन्तर तो होता नहीं, केवल उनकी रचना-प्रणाली या भाव-निरूपण की पद्धति मे ही अन्तर होता है। इसी कारण काव्य का मर्म समझने के लिए रीति का जानना भी अत्यावश्यक है। अग्रेजी मे इसे स्टाइल (Style) कहकर पुकारते हैं। स्टाइल शब्द लैटिन भाषा के Stilus, Stylus शब्द से निकला है, जिसका शाब्दिक अर्थ 'लौह लेखनी' या लोहे की कलम होता है। प्राचीन रोमन काल मे पट्टियो के ऊपर मोम जमाकर लोहे की कलम मे लिखा जाता था। इसी कारण लिखने के इस ढग को स्टाइल कहने लगे। अत स्टाइल भी लिखने या बोलने की विशिष्ट प्रणाली को कहते हैं। इस तरह रीति से अभिप्राय ऐसी पद-सघटना से है जो रसानुकूल शब्दों को अपनाती हुई अपनी विशिष्टता से रसादि का उपकार किया करती है। कालरिज के

---

1. प्रियप्रवास—४।३२-३३

शब्दो मे इसे 'उत्तम शब्दो की उत्तम रचना'[1] कहें तो भी कोई अत्युक्ति नही। रीतियाँ अनेक मानी गई हैं और समयानुसार उनमे परिवर्तन भी होते रहे हैं। परन्तु विद्वानो ने साधारणतया चार रीतियाँ बतलाई हैं—वैदर्भी, गौडी, पाचाली तथा लाटी। ऐसा जान पडता है कि प्रत्येक रीति का नाम उस देश-विशेष की रचना-प्रणाली के आधार पर पडा है।

वैदर्भी—प्राय जहाँ पर माधुर्य-व्यजक वर्णों की ललित योजना होती है, वहाँ वैदर्भी रीति मानी जाती है। इसमे माधुर्य गुण, सुकुमार वर्ण, असमास या मध्य समास पदावली तथा सुकुमार रचना का एकत्र योग होता है।[2] 'प्रियप्रवास' मे कवि ने इस रीति को अनेक स्थलो पर अपनाया है और ऐसा जान पडता है कि सम्पूर्ण काव्य मे वैदर्भी रीति की ही प्रधानता है। इस रीति का एक ही उदाहरण देना पर्याप्त है —

फूलो का यो अवनि-तल मे देख के पात होना।
ऐसी भी थी हृदय-तल मे कल्पना आज होती।
फूले फूले कुसुम अपने अक मे से गिराके।
वारी वारी सकल तरु भी खिन्नता है दिखाते ॥५।६

यह रचना माधुर्य गुण-व्यजक है।

गौडी—ओज प्रकाशक वर्णों से युक्त आडम्बर पूर्ण बध वाली रचना को गौडी रीति कहते है। इसमे ओज गुण, कठोर वर्ण, दीर्घ समास, विकट रचना आदि काव्य साधनो का एकत्र समावेश होता है। इसके लिए वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्णों का क्रम से द्वितीय तथा चतुर्थ वर्ण के साथ सयोग किया जाता है, रेफ के साथ किसी वर्ण का आगे या पीछे योग रहता है तथा ट वर्ग युक्त दीर्घ समासो का प्रयोग किया जाता है।[3] 'प्रियप्रवास' मे गौडी रीति की बहुलता नही है। कही-कही एकाध पद देखने को मिल जाता है —

निदाघ का काल महा दुरन्त था। भयावनी थी रवि-रश्मि हो गयी।
तवा समा थी तपती वसुन्धरा। स्फुलिंग वर्षा रत तप्त व्योम था।
प्रदीप्त थी अग्नि हुई दिगन्त मे। ज्वलन्त था आतप ज्वाल माल सा।
पतग की देख महा प्रचण्डता। प्रकम्पिता पादप-पुज-पक्ति थी।

---

१ The best words in the best order

२ भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० २०६।

३ वही, भाग २, पृ० २०७।

अनुप्रास अलंकार का नाम भी कोमलानुप्रास अथवा ग्राम्यानुप्रास दिया है।
'प्रियप्रवास' मे इस कोमला वृत्ति के अनुकूल मधुर एव कोमल रचना भी मिल जाती है, जिसमे कोमलाक्षरो के अतर्गत सुकुमार भावो का प्रदर्शन हुआ है। जैसे—

सच्चिन्ता की सरस-लहरी-सकुला-वापिका थी।
नाना चाहें कलित-कलियाँ थी लतायें उमगे।
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना-वेलियाँ थी।
सद्वाछा के विहग उसके मजु-भाषी बडे थे।
भोला-भाला-मुख सुत-वधू-भाविनी का सलोना।
प्राय होता प्रकट उसमे फुल्ल-अम्भोज-सा था।
वेटे द्वारा सहज-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थी विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता सी।

उक्त पक्तियो मे कवि ने लकार, ककार तथा रकार युक्त कोमल पदावली का प्रयोग करते हुए कोमला वृत्ति को अपनाया है।

उपनागरिका—इसमे टवर्ग को छोडकर शेष वर्गों मे से उसी वर्ग के अन्तिम वर्ण के सयोग से मधुर शब्दो की योजना की जाती है अर्थात् इसमे ङ्क, ञ्च, न्त, म्प आदि की प्रधानता रहती है। यह वृत्ति नगर की चतुर, सयानी तथा विदग्ध वनिता की सुकुमार वाक्यावली के समान होने के कारण उपनागरिका कहलाती है। 'प्रियप्रवास' मे इस वृत्ति के अनुकूल रचना पर्याप्त मात्रा मे मिलती है। जैसे —

अतसि - पुष्प - अलकृतकारिणी। शरद नील-सरोरुह रञ्जिनी।
नवल-सुन्दर-श्याम-शरीर की। सजल-नीरद-सी कल-कान्ति थी।
अति-समुत्तम-अङ्ग-समूह था। मुकुट-मजुल, औ मनभावना।
सतत थी जिसमे सुकुमारता। सरसता प्रतिविम्वित हो रही।

अथवा

जम्बू अम्ब कदम्ब निम्ब फलसा जम्वीर औ आँवला।
लीची दाडिम नारिकेल इमिली औ शिंशिपा इगुदी। आदि

उक्त पदो मे अनुस्वार साहित पचम वर्ण युक्त शब्दो का ही प्राधान्य है। अत यहाँ माधुर्य व्यजक सुकुमार वाक्यावली के कारण उपनागरिका वृत्ति है।

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० २५७

परुषा—पहले केवल दो ही वृत्तियों का प्रचलन था। परन्तु आचार्य उद्भट ने एक तीसरी परुषा वृत्ति की नवीन उद्भावना की। इसमें स, श, ष वर्णों की टवर्ग या रेफ के साथ मिश्रण होकर संयुक्ताक्षरों की बहुलता पाई जाती है।[1] 'प्रियप्रवास' के कुछ स्थलों पर इस परुषा वृत्ति का भी प्रयोग मिल जाता है। जैसे :—

विलोल जिह्वा मुख से मुहुर्मुहुः।
निकालता था जब सर्प क्रुद्ध हो।
निपात होता तब भूत-प्राण था।
विभीषिका-गर्त नितान्त गूढ़ था।
प्रलम्ब आतंक-प्रसू, उपद्रवी।
अतीव मोटा यम-दीर्घ-दण्ड सा।
कराल आरक्तिम नेत्रवान भी।
विपाक्त-फूत्कार-निकेत सर्प था। १३।८०-८१

उक्त पंक्तियों में कवि ने रेफ युक्त संयुक्ताक्षरों का प्रयोग करते हुए सर्प की प्रचण्डता एवं भीषणता का वर्णन करते हुए परुष पदावली का प्रयोग किया है। अतः यहाँ परुषा वृत्ति है।

अतएव कवि ने रसानुकूल रीतियों एवं वृत्तियों का प्रयोग करते हुए अपने रचना-कौशल को प्रकट किया है। जिस तरह 'प्रियप्रवास' में वैदर्भी रीति की बहुलता है, उसी तरह यहाँ उपनागरिका वृत्ति का प्रयोग भी अधिक मात्रा में किया गया है क्योंकि माधुर्य-व्यंजक वर्णों की बहुलता उपनागरिका वृत्ति में ही होती है और 'प्रियप्रवास' में ऐसे ही वर्णों की बहुलता है, जो माधुर्य, सौकुमार्य एवं सारल्य के द्योतक हैं।

'प्रियप्रवास' में वक्रोक्ति का स्वरूप—वक्रोक्ति शब्द 'वक्र' और 'उक्ति' इन दो शब्दों के योग से बना है अर्थात् जहाँ उक्ति की वक्रता हो वहीं वक्रोक्ति होती है। आचार्य कुंतक ने अपने 'वक्रोक्ति काव्यजीवितम्' नामक ग्रंथ में वक्रोक्ति की परिभाषा करते हुए लिखा है—"वक्रोक्तिरेव वैदग्ध्य-भंगीभणितिरुच्यते।" इसमें से कवि कर्म की कुशलता का नाम है वैदग्ध्य या विदग्धता। भङ्गी का अर्थ है विच्छित्ति, चमत्कार, चारुता और भणिति का अर्थ है कथन प्रकार। इस प्रकार इन तीनों का समन्वित अर्थ यह हुआ कि कवि के कर्म की कुशलता से उत्पन्न होने वाले चमत्कार के ऊपर आश्रित होने

वसत ऋतु के अभाव मे सुदर नदी, दर्शनीय कुज, सुदर वन, दिव्य वृक्ष-लतायें, शोभाशाली विहग आदि का कोई महत्व नही, क्योकि वसत ऋतु मे ही इन सबका सौंदर्य आह्लादकारी हो जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण के बिना भी उक्त सभी पदार्थों का होना व्यर्थ है। अत. कवि ने पर्याय-वक्रता के चमत्कार द्वारा 'माधो' शब्द का प्रयोग करते हुए यहाँ अत्यत मार्मिकता एव सरसता का सचार किया है। इसी प्रकार पद-पूर्वार्ध-वक्रता के अन्य भेद भी 'प्रियप्रवास' मे मिल सकते हैं। परन्तु विस्तारभय से सबका विवेचन न करके उक्त दो उदाहरणो से ही कवि के कौशल का पता लगा सकते हैं।

(३) पदपरार्ध-वक्रता—इस वक्रता का प्रयोग पदो के उत्तरार्द्ध मे होता है। इसके भी काल-वैचित्र्य-वक्रता, कारक-वक्रता, सख्या-वक्रता, पुरुष-वक्रता, उपग्रह-वक्रता, प्रत्यय-वक्रता आदि कई भेद होते हैं। इनमे से कारक-वक्रता के अतर्गत कविजन किसी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए कारको मे विपर्यय कर देते हैं, जिससे काव्य मे समधिक रुचिरता आ जाती है। विशेषतया जहाँ कवि अचेतन पदार्थ मे चेतनत्व का आरोप करके उसमे चेतन की सी क्रिया का निवेश कर देते हैं, वहाँ रस का परिपोष होने के कारण कारक-वक्रता होती है।[1] 'प्रियप्रवास' मे इस कारक-वक्रता के उदाहरण पर्याप्त मात्रा मे मिल जाते हैं। जैसे—

> ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
> या होता अति ही स-गर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
> या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद ससार मे।
> मैं हूँ सुदर मानदड ब्रज की शोभामयी भूमि का।९।१५

यहाँ कवि ने गोवर्द्धन पर्वत का वर्णन एक अत्यत गर्वपूर्ण व्यक्ति के रूप मे किया है, जो अपने घमड मे चूर होकर सिर ऊपर उठाकर सदैव देखता हो। अत अचेतन गोवर्द्धन पर्वत मे एक चेतन व्यक्ति के गुणो का आरोप करके यहाँ कारक-वक्रता का प्रयोग किया गया है। यह पदपरार्ध-वक्रता का ही एक भेद है। इसके अन्य भेदो को भी 'प्रियप्रवास' मे देखा जा सकता है।

(४) वाक्य-वक्रता—इस वक्रता का प्रयोग वाक्य मे होता है। इसके असख्य भेद है। सारे अलकार इसी वाक्य-वक्रता के अतर्गत आते हैं।

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३९८-३९९

वैसे भी कवियों की प्रतिभा अनंत होती है। अतः जिस वाक्य को एक कवि एक प्रकार से कहता है, उसे दूसरा दूसरे ढंग से प्रस्तुत करता है। इसी कारण कवि-प्रतिभा की अनंतता के कारण इस वाक्य-वक्रता के भेद भी अनंत हो गये हैं। कुंतक ने इसी वक्रता के अंतर्गत रसवत्, प्रेयस्, ऊर्जस्वी तथा समाहित नामक अलंकारों का भी विवेचन किया है।[1] इस वाक्य-वक्रता में वस्तु-वक्रता भी आ जाती है और इसी वस्तु-वक्रता के अंतर्गत कुंतक ने स्वभावोक्ति अलंकार को मान लिया है, क्योंकि जिस वस्तु का वर्णन स्वभाविक रूप से किया जाय वहीं स्वभावोक्ति अलंकार होता है। परन्तु कुंतक ने स्वभाविक वर्णन की अपेक्षा रसात्मक वर्णन को अधिक महत्व दिया है। इस वाक्य-वक्रता का रूप 'प्रियप्रवास' में तो पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है, क्योंकि अलंकारों के प्रयोग में सर्वत्र वाक्य-वक्रता का प्रयोग हुआ है। इनके उदाहरण आगे चलकर अलंकार-विधान के अंतर्गत देखे जा सकते हैं। यहाँ अनावश्यक विस्तार के भय से उनके उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

(५) प्रकरण-वक्रता—इस वक्रता का प्रयोग प्रकरण में होता है। प्रकरण प्रबंध के एक देश को कहते हैं और प्रकरणों के पारस्परिक सहयोग से ही प्रबंध की प्रकृष्टता सम्पन्न होती है। यदि प्रकरण में ही किसी प्रकार का दोष होता है, तो सम्पूर्ण प्रबंध भी दोषयुक्त कहलाता है। अतः कविजन प्रकरण को सरस, उपादेय तथा सुंदर बनाने का प्रयत्न करते हैं और उसमें ऐसे-ऐसे प्रसंगों की योजना की जाती है, जिससे सम्पूर्ण काव्य में चारुता आ जाती है। इसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक माना गया है कि नायक के चरित्र में ऐसी दीप्ति उत्पन्न की जाती है, जिससे सौंदर्य का उन्मीलन होता है और लालित्य का विकास होता है इसे प्रकरण-वक्रता का अन्यतम प्रकार स्वीकार किया गया है।[2] इस अन्यतम प्रकार के आधार पर यदि 'प्रियप्रवास' के नायक अथवा नायिका पर दृष्टि डाली जाय, तो पता चलेगा कि कवि ने इन दोनों के चरित्र में एक ऐसी अद्भुत वक्रता अथवा चमत्कार की सृष्टि की है, जो 'प्रियप्रवास' से पूर्ववर्ती काव्यों में नहीं दिखाई देती। यहाँ पर श्रीकृष्ण तथा राधा के जीवन को लोकोपकार, विश्व-प्रेम, स्वजाति-सेवा, लोक-कल्याण, आर्त्तजनों के प्रति उदारता, अनाथों की रक्षा आदि से परिपूर्ण दिखाकर प्रकरण-वक्रता के अन्यतम प्रकार का प्रयोग किया

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ३७३-३७४

२. वही, पृ० ४१५

है, क्योकि काव्य मे केवल गोपियो का विलाप ही विलाप नही है, यहाँ गोप, गोपी, नद, यशोदा, राधा आदि भी विलाप करती हैं। दूसरे, विलाप को ही यहाँ महत्व प्रदान नही किया गया है, अपितु श्रीकृष्ण के चले जाने पर राधा के हृदय मे किस तरह विश्व-प्रेम जाग्रत होता है, इसको प्रमुख रूप से दिखाने की चेष्टा की गई है। अत ये बातें 'व्रजागना-विलाप' नाम से सिद्ध न होती, जबकि 'प्रियप्रवास' अर्थात् 'प्रिय के गमन' द्वारा पूर्णतया सिद्ध हो रही हैं। इसी कारण यहाँ प्रबध-वक्रता के चतुर्थ प्रकार के दर्शन होते हैं। प्रबध-वक्रता का पाँचवा भेद भी किसी न किसी प्रकार से यहाँ मिल जाता है, क्योकि कवि ने लोक-प्रसिद्ध श्रीकृष्ण की कथा को एक नया मोड एव नया रूप प्रदान करते हुए ही यहाँ प्रस्तुत किया है, जिससे कथानक मे चारुता आगई है और प्रबध काव्य मे नवीनता के साथ-साथ मार्मिकता आगई है।

निष्कर्ष यह है कि कवि ने 'प्रियप्रवास' मे वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारो एव भेद-प्रभेदों का प्रयोग करते हुए काव्य को सरस एव मार्मिक बनाने की चेष्टा की है और चमत्कार उत्पन्न करते हुए कौतूहल की भी सृष्टि की है। परन्तु ऐसा नही है कि सारा काव्य वक्रोक्ति से ही परिपूर्ण हो। वक्रोक्ति के ये भेद तो यत्र-तत्र ही मिलते हैं और जहाँ तक प्रबध-वक्रता का प्रश्न है, वह भी काव्य को अधिक विशिष्टता प्रदान नही करती, अपितु उसके द्वारा कहीं-कही तो कथा हास्यास्पद भी हो गई है। जैसे कवि ने प्राय अधविश्वास एव रूढ़ि परम्परा को नष्ट करने का प्रयत्न किया है, परन्तु तृतीय सर्ग के अतर्गत नीरव निशीथ मे विकट-दत दिखाकर प्रेतो एव मुख-फैलाए हुए प्रेतिनियो का वर्णन करके कवि स्वय अधविश्वास मे लीन हो गया है। इसी तरह कालीदह मे कृष्ण के पेड पर चढ़कर कूदने, यमुना मे लापता हो जाने तथा उस कालीनाग के सिर पर खडे होकर वशी बजाने का वर्णन करके कवि ने अलौकिकता को ही अपना लिया है और वह किसी प्रकार भी इस घटना को मानवीय रूप नही दे सका है। यही बात गोवर्द्धन पर्वत के उँगली पर उठाने की है। हरिऔध जी ने लिखा है कि भयकर वर्षा के समय श्रीकृष्ण ने समस्त व्रजजनो को प्रेरणा देकर या अपनी वाणी से उत्तेजित करके या उठाकर गोवर्द्धन पर्वत की कदराओ मे सुरक्षित भेज दिया था और श्रीकृष्ण मे इतनी स्फूर्ति थी कि वे समस्त व्रजवासियो के पास तुरन्त पहुँच जाते थे तथा जो कुछ वे कहते थे सभी लोग उसे करने लिए तुरन्त तैयार हो जाते थे। बस इसी बात को मुहावरे के रूप मे "उँगली पर उठाना"

कहते हैं। अतः श्रीकृष्ण ने गोवर्द्धन के आस-पास रहने वालों को बस इसी तरह उँगली पर उठा लिया था। कवि के इस निरूपण में भी कोई विशेष वक्रता नहीं आ पाई है। ऐसी ही अन्य बातें भी हैं। अतः प्रबंध-वक्रता का कोई उत्कृष्ट रूप यहाँ दिखाई नहीं देता। इसी कारण यहाँ वक्रोक्ति को तो अपनाया गया है, परन्तु उसका कोई विशिष्ट रूप इस काव्य में चित्रित नहीं हुआ है।

अलंकार-विधान—"अलंकरोतीति अलंकारः" इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो अलम् अर्थात् भूषित करे वह अलंकार कहलाता है। वामनाचार्य ने "सौंदर्यमलङ्कारः" कहकर अलंकार को शब्द और अर्थ में सौंदर्य उत्पन्न करने वाला माना है। परन्तु अधिकांश विद्वान् गुणों को काव्य का स्थायी धर्म और अलंकारों को अस्थायी धर्म मानते हैं। वैसे भी अलंकार साधन हैं, साध्य नहीं हो सकते। इसलिए दंडी की यह परिभाषा उचित ही है कि "काव्य-शोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते" अर्थात् अलंकार काव्य की शोभा बढ़ाने वाले होते हैं। परन्तु चन्द्रालोककार जयदेव ने तो यहाँ तक कह डाला है कि जो कोई काव्य को अलंकार से रहित मानता है, वह विद्वान् अग्नि को उष्णता से रहित क्यों नहीं मानता।[1] इससे अलंकारों की अनिवार्यता पर जोर दिया गया दिखाई देता है। परन्तु आगे चलकर आपने "हारादिवदलंकारः सन्निवेशो मनोहरः" कहकर अलंकारों को हार आदि आभूषणों की भाँति काव्य-शरीर को सजाने वाला माना है। अब जिस तरह बिना आभूषणों के भी शरीर की शोभा हो सकती है, उसी तरह बिना अलंकारों के भी काव्य सुशोभित एवं मनोहर बन सकता है। परन्तु भामह ने लिखा है—"न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनिता-मुखम्" अर्थात् सुन्दर होकर भी स्त्री का मुख बिना आभूषणों के शोभा नहीं देता और इसी बात को आचार्य केशव ने इस तरह लिखा है कि भले ही कोई स्त्री सुन्दर जाति की हो, सुलक्षणी हो, सुन्दर वर्ण की हो, सरस हो और सुन्दर वृत्त की हो, परन्तु जैसे वह बिना आभूषण के शोभा नहीं देती, वैसे ही कविता भी उक्त सभी लक्षणों से युक्त होकर भी बिना अलंकारों के शोभा नहीं पाती।[2] अतः इन आचार्यों के मतानुसार कविता में अलंकारों का होना

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती ।
   असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ।
   —चन्द्रालोक १।८

२. जदपि सुजाति, सुलच्छनी, सुबरन सरस सुवृत्त ।
   भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त ।

सौंदर्य के लिए सर्वथा अपेक्षित है। यही कारण है कि सभी कवि किसी न किसी सीमा तक अपने काव्य मे अलकारों को अपनाते आये हैं और अलकारो से कोई भी अपना पल्ला नही छुडा पाया है। परन्तु अलकारो की अधिकता कभी रुचिकर नही होती।

'प्रियप्रवास' मे कवि हरिऔध ने भी अलकारो को अपनाया है और भाव-निरूपण मे उनका उचित उपयोग किया है। साधारणतया अलकार कथन के विभिन्न ढंग हैं। इसलिए काव्य मे उनका प्रयोग सर्वथा अनिवाय सा हो जाता है। जब कथन-प्रणाली ही अलकार है, तब काव्य इनसे कैसे मुक्त हो सकता है? 'प्रियप्रवास' मे इसी कारण अलकारो के विभिन्न रूप विद्यमान हैं और कवि ने चमत्कार एव सौंदर्य की सृष्टि के लिए उनका उचित उपयोग किया है। परन्तु हरिऔध जी के अलकार-विधान की सबसे बडी विशेषता यह है कि उसमे परम्परागत उपमानो की अधिकता होने पर भी उनके प्रयोग मे नवीनता दिखाई देती है और अलकारो के कारण कही भी रस या भाव-निरूपण मे कोई व्याघात उत्पन्न नही हुआ है। वैसे हरिऔध जी ने अलकारो के बहुत से भेदो को अपने काव्य मे स्थान दिया है। परन्तु विस्तारभय से केवल थोडे से अलकारो के उदाहरण देकर ही उनके अलकार-विधान की विशेषताओ को जानने का प्रयत्न किया जायेगा।

'प्रियप्रवास' मे अलंकारो का स्वरूप—अलकारो को मुख्यतया तीन भागो मे विभक्त किया जाता है—शब्दालकार, अर्थालकार तथा उभयालकार। जहाँ शब्द के कारण कुछ चमत्कार होता है वहाँ शब्दालकार होता है, जहाँ अर्थ मे कविजन कुछ चमत्कार उत्पन्न कर देते हैं वहाँ अर्थालकार होता है और जहां दोनो अलकार साथ होते हैं वहाँ उभयालकार होता है। परन्तु प्रमुख रूप से शब्द और अर्थ की दृष्टि से दो प्रकार के ही अलकार होते हैं। शब्दालकार मे से अनुप्रास अलकार प्रमुख है। इस अलकार द्वारा वर्ण-मैत्री का प्रयोग करते हुए एकसी झकार वाले शब्दो का एक साथ प्रयोग किया जाता है। इसके पाँच भेद माने गये हैं, परन्तु उनमे से प्रमुख भेदो के स्वरूप 'प्रियप्रवास' मे इस तरह विद्यमान हैं:—

छेकानुप्रास—

फूली फैली लसित लतिका वायु मे मद डोली।
प्यारी-प्यारी ललित लहरें भानुजा मे विराजीं।
सोने की सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कूलो कुजो कुसुमित वनो मे जगी ज्योति फैली

यहाँ पर 'फूली-फैली' मे 'फ' और 'ल' की, 'ललित-लतिका' मे 'ल' और 'त' की, 'ललित-लहरें' मे 'ल' की, 'कलित-किरणें' मे 'क' की, 'फूलो-कुजो' मे 'क' की और 'जगी-ज्योति' मे 'ज' की एक-एक बार आवृत्ति होने के कारण छेकानुप्रास अलकार है।

वृत्यनुप्रास—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नही काम था।
काँटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी।

यहाँ 'क' की अनेक बार आवृत्ति हुई है, इसलिए वृत्यनुप्रास है।

श्रुत्यनुप्रास—

किस तपोवन किस काल मे सच बता मुरली कल नादिनी।
अवनि मे तुझको इतनी मिली, मधुरता, मृदुता, मनहारिता।

यहाँ अन्तिम शब्दो मे दन्त्य-वर्णो की समता होने से श्रुत्यनुप्रास है।

अन्त्यानुप्रास—यह अनुप्रास वहीं होता है, जहाँ तुकात छन्द लिये जाते हैं। परन्तु 'प्रियप्रवास' तो अतुकान्त छन्दो मे लिखा गया है। अत यहाँ इस अलकार का प्रयोग अधिक नही हुआ है। फिर भी कहीं-कहीं इसकी झलक विद्यमान है। जैसे,

प्रिय पति वह मेरा प्राण-प्यारा कहाँ है।
दुख-जलधि-निमग्ना का सहारा कहाँ है।

यमक—

विलसित उर मे है जो सदा देवता सा।
वह निज उर मे है ठौर भी क्यो न देता।
नित वह कलपाता है मुझे कान्त हो क्यो।
जिस बिन कल पाते है नही प्राण मेरे।

यहा 'कलपाता' और 'कलपाते' शब्द एक से होकर भी अलग-अलग अर्थ के द्योतक है।

पुनरुक्ति—

पुन-प्रिया-सहित मजुल राग गा गा।
ला-ला स्वरूप उनका जन-नेत्र आगे।
ले-ले अनेक उर-वेधक-चारु तानें।
की श्याम ने परम मुग्धकरी क्रियायें।

यहाँ 'गा-गा' 'ला-ला' और 'ले-ले' मे एक ही वात को वार-वार कहकर चमत्कार उत्पन्न किया गया है।

श्लेष—

विपुल धन अनेको रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम ! वतला दो लाल मेरा कहाँ है।
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो।

यहाँ 'लाल' शब्द पुत्र और रत्न का वाचक होने के कारण अत्यन्त चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। इसीलिए यहाँ श्लेष अलकार है।

अर्थालकार—इन शव्दालकारो के अतिरिक्त कवि ने विभिन्न अर्थालकारो को भी अत्यन्त सुन्दरता एव सजीवता के साथ अपने काव्य मे अपनाया है। जिनमे से कुछ प्रमुख अर्थालकारो का स्वरूप इस प्रकार है —

उपमा—सादृश्यमूलक अलकारो मे उपमा का स्थान सर्वोपरि है। इस अलकार का प्रयोग विभिन्न सादृश्यो के आधार पर होता है, जिनमे से आकृति-सादृश्य तथा भाव या गुण-सादृश्य तथा रग-सादृश्य प्रमुख हैं। इसके साथ ही यह अलकार अनेक प्रकार से काव्य मे प्रयुक्त होता है। कही अमूर्त्त के लिए मूर्त्त वस्तु का साम्य, कही मूर्त्त वस्तु के लिए अमूर्त्त-साम्य, कहीं अमूर्त्त के लिए अमूर्त्त-साम्य और कही मूर्त्त के लिए मूर्त्त-साम्य की योजना की जाती है। 'प्रियप्रवास' मे इस अलकार का प्रयोग इस प्रकार हुआ है :—

आकृति-साहश्य—

(१) मकर-केतन के कल-केतु-से ।
लसित थे वर-कुडल कान मे ।
(२) विकट दर्शन कज्जल मेरू-सा, सुर गजेन्द्र समान पराक्रमी।
द्विरद क्या जननी उपयुक्त है, यक पयोमुख वालक के लिए।

भाव या गुण-साहश्य—

फूले कज समान मजु-दृगता थी मत्तता-कारिणी।
सोने सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेपिनी।
राधा की मुसकान की मधुरता थी मुग्धता-मूर्ति सी।
काली-कुचित-लम्बमान-अलकें थी मानसोन्मादिनी।

रंग-सादृश्य—

गगन साध्य समान सु-ओष्ठ थे।
दसन थे युगतारक-से लसे।
मृदु हँसी वर ज्योति समान थी।
जननि मानस की अभिनंदिनी।

अमूर्त के लिए मूर्त उपमान—

बेटे द्वारा सहज-सुख के लाभ की लालसायें।
हो जाती थीं विकच बहुधा माधवी-पुष्पिता-सी।

यहाँ कवि ने 'लालसा' जैसे अमूर्त भाव के लिए 'पुष्पिता माधवी लता' जैसे मूर्त उपमान का प्रयोग करके समता दी है।

मूर्त वस्तु के लिए अमूर्त उपमान—

हरीतिमा का सु-विशाल-सिंधु-सा।
मनोज्ञता की रमणीय-भूमि-सा।
विचित्रता का शुभ-सिद्ध-पीठ-सा।
प्रशान्त-वृन्दावन दर्शनीय था।

यहाँ पर 'वृन्दावन' जैसे मूर्त पदार्थ की समता हरीतिमा के सिंधु, मनोज्ञता की भूमि, विचित्रता के सिद्ध पीठ आदि अमूर्त पदार्थों से की गई है।

अमूर्त के लिए अमूर्त उपमान—

विलोकनीया नभ नीलिमा समा, नवाम्बुदों की कल-कालिमोपमा।
नवीनतीसी कुसुमोपमेय थी, कलिंदजा की कमनीय श्यामता।

यहाँ कवि ने यमुना की श्यामता की समता आकाश की नीलिमा तथा बादलों की कालिमा से दी है और दोनों ही अमूर्त हैं।

मूर्त के लिए मूर्त उपमान—

दोनों कंधे वृषभ-वर-से हैं बड़े ही सजीले।
लम्बी बाहें कलभ-कर-सी शक्ति की पेटिका हैं।

यहाँ पर श्रीकृष्ण के कंधे जैसे मूर्त पदार्थ हैं, वैसे ही उनके उपमान वृषभ-स्कंध भी मूर्त उपमान हैं उसी तरह उनकी भुजायें भी मूर्त पदार्थ हैं और हाथी के बच्चे की सूँड भी मूर्त उपमान है।

मालोपमा—कही-कही कवि ने चमत्कार उत्पन्न करते हुए एक ही वस्तु के लिए विभिन्न उपमायें देकर इस मालोपमा अलकार का भी प्रयोग किया है, जिससे काव्य मे रुचिरता, प्रभावोत्पादकता और सरसता भी आगई है और एक बिम्बग्राही चित्र भी पाठको के सम्मुख उपस्थित हो गया है। जैसे श्रीकृष्ण के हृदय की समता करने के लिए कवि ने विभिन्न उपमानो की योजना करते हुए इस अलकार का इस तरह प्रयोग किया है :—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किशलय सा है स्नेह के उत्स सा है।

पूर्णोपमा—कवि ने प्राय. पूर्णोपमाओ का ही अधिक प्रयोग किया है। उक्त उदाहरणो मे से कई स्थानो पर पूर्णोपमा अलकार विद्यमान है। परन्तु फिर भी जहाँ उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक शब्द सभी विद्यमान हो, ऐसा एक और उदाहरण नीचे दिया जाता हैं .—

'नीले फूले कमल-दल सी गात की श्यामता है।'

यहाँ 'गात' उपमेय है, 'कमल दल' उपमान है, 'श्यामता' साधारण धर्म है और 'सी' वाचक शब्द है। अत यहाँ पूर्णोपमा अलकार है।

उत्प्रेक्षा—सादृश्यमूलक अलकारो मे उत्प्रेक्षा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। इसके द्वारा कविजन बडी-बडी उन्नत एव असभावित कल्पनायें करते हुए अपने विचार प्रकट किया करते हैं। इसके तीन प्रमुख भेद होते हैं—वस्तूत्प्रेक्षा, हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा। इनमे से 'प्रियप्रवास' मे वस्तूत्प्रेक्षा अलकार को अधिक अपनाया गया है। परन्तु अन्य दोनो उत्प्रेक्षाओ के उदाहरण भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

वस्तूत्प्रेक्षा—

विपुल सुन्दर वदनवार से, सकल द्वार बने अभिराम थे।
विहँसते व्रज-सद्म-समूह के, वदन मे दसनावलि थी लसी।
नव-रसाल-सुपल्लव के बने, अजिर मे वर तोरण थे बँधे।
विपुल-जीह विभूषित था हुआ, वह मनो रस-लेहन के लिये।

हेतूत्प्रेक्षा—

सारा नीला सलिल सरि का शोक-छाया-पगा था।
कजो मे से मधुप कढ के घूमते थे भ्रमे से।

मानो खोटी विरह घटिका सामने देख के ही।
कोई भी थी अवनतमुखी कान्ति-हीना मलीना।

फलोत्प्रेक्षा—

धीरे-धीरे पवन ढिग जा फूल वाले द्रुमो के।
शाखाओ से कुसुम-चय को थी धरा पै गिराती।
मानो यो थी हरण करती फुल्लता पादपो की।
जो थी प्यारी न ब्रज जग को आज न्यारी व्यथा से।

रूपक—कवि हरिऔध ने जिस तरह उपमा एव उत्प्रेक्षा जैसे सादृश्य-मूलक अलकारो द्वारा भावो के मार्मिक चित्र अकित किये है, उसी तरह रूपक अलकार के प्रयोग द्वारा भी काव्य मे सरसता एव सजीवता की सृष्टि की है। यह रूपक अलकार प्रमुख रूप से तीन प्रकार का कहलाता है—निरग-रूपक, सागरूपक और परम्परित रूपक। इन तीनो रूपको के उदाहरण 'प्रियप्रवास' मे इस तरह विद्यमान है।

निरगरूपक—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय-कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वगी कल हासिनी सुरसिका क्रीडा-कला-पुत्तली।

सागरूपक—

ऊधो मेरे हृदय-तल था एक उद्यान-न्यारा।
शोभा देती अमित उसमे कल्पना-क्यारियाँ थी।
न्यारे-प्यारे-कुसुम कितने भाव के थे अनेको।
उत्साहो के विपुल विटपी थे महा मुग्धकारी।
सच्चिन्ता की सरस-लहरी-सकुला-वापिका थी।
नाना चाहे कलित कलियाँ थी लतायें उमगें।
धीरे-धीरे मधुर हिलती वासना-वेलियाँ थी।
सद्वाछा के विहग उसके मजु-भाषी बड़े थे।

परम्परितरूपक—

होगी हा ! वह मग्नभूत अति ही मेरे वियोगाब्धि मे।
जो हो सम्भव ताप पोत बन के ना त्राण देता उसे।

उक्त सादृश्यमूलक अलकारो के अतिरिक्त कवि ने अन्य बहुत से सादृश्यगर्भ, विरोधगर्भ, तर्कन्यायमूल, गूढार्थ-प्रतीतिमूल, लोकन्यायमूल, चार-

व्यवहारमूल तथा विशेषणवैचित्र्यमूल अलकारो का भी प्रयोग किया है। जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं —

रूपकातिशयोक्ति—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल ब्रजधरा को फूँक देता जलाता।

विरोधाभास—

जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उजाला।
तेरा होना उदय ब्रज मे तो अँधेरा करेगा।

शुद्धापह्नुति—

अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है।

व्यतिरेक—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बडा ही।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नही है।

सदेह—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चिता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद ससार मे।
मैं हू सुन्दर मानदण्ड ब्रज की शोभामयी भूमि का।

कैतवापह्नुति—

विकलता उनकी अवलोक के रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के नयन से गिरता वह वारि था।
विपुल नीर वहाकर नेत्र से मिष कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मोन ही रुदन थी करती ब्रज की धरा।

स्मरण—

मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि मे कूजने मे खगो के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहनी वंशिका की।

प्रतीप—

है दाँतों की झलक मुझको दीखती दाड़िमों में।
बिम्बाओं में वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलों में जघन-युग की मंजुता देखती हूँ।
गुल्फों की सी ललित सुषमा है गुलों में दिखाती।

भ्रान्तिमान—

अति सशंकित और सभीत हो मन कभी यह था अनुमानता।
ब्रज समूह विनाशन को खड़े यह निशाचर हैं नृप कंस के।

परिकर—

स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना।
बहुत संभव है यदि यों कहें सुन नहीं सकती 'जगदम्बिका'।

परिकरांकुर—

रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी।
समझ था पड़ता बरसात में उदक का रस नाम यथार्थ है।

विषम—

काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीय कंज कृति में क्या है न कोई कमी।
पोरों में कब ईख की विपुलता है ग्रंथियों की भली।
हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं।

दृष्टान्त—

कमल का दल भी हिमपात में दलित हो पड़ता सब काल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी निगलता करता बहु क्लान्त है।
कुसुम सी सुप्रफुल्लित बालिका हृदय भी न रहा प्रफुल्ल ही।
वह मलीन सकल्मष हो गया प्रिय मुकुन्द-प्रवास-प्रसंग से।

निदर्शना—

कुपथगा रो बहु कष्टप्रायिता बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्वकृटको से स्वभय सर्वदा निवारिता हो बरसी दुनाता

व्यवहारमूल तथा विशेषणवैचित्र्यमूल अलकारो का भी प्रयोग किया है। जिनके उदाहरण इस प्रकार हैं —

रूपकातिशयोक्ति—

अब नभ उगलेगा आग का एक गोला।
सकल व्रजधरा को फूँक देता जलाता।

विरोधाभास—

जो देवेगा अवनितल को नित्य का सा उजाला।
तेरा होना उदय व्रज मे तो अँधेरा करेगा।

शुद्धापह्नुति—

अहह अहह देखो टूटता है न तारा।
पतन दिलजले के गात का हो रहा है।

व्यतिरेक—

मृदुल कुसुम सा है औ तुने तूल सा है।
नव किसलय सा है स्नेह के उत्स सा है।
सदय हृदय ऊधो श्याम का है बडा ही।
अहह हृदय मा के तुल्य तो भी नही है।

सदेह—

ऊँचा शीश सहर्ष शैल करके था देखता व्योम को।
या होता अति ही सगर्व वह था सर्वोच्चता दर्प से।
या वार्ता यह था प्रसिद्ध करता सामोद ससार मे।
मैं हू सुन्दर मानदण्ड व्रज की शोभामयी भूमि का।

कैतवापह्नुति—

विकलता उनकी अवलोक के रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिष ओस के नयन से गिरता वहु वारि था।
विपुल नीर वहाकर नेत्र से मिष कलिन्द-कुमारि-प्रवाह के।
परम कातर हो रह मौन ही रुदन थी करती व्रज की धरा।

स्मरण—

मैं पाती हूँ मधुर ध्वनि मे कूजने मे खगो के।
मीठी तानें परम प्रिय की मोहनी वशिका की।

प्रतीप—

है दाँतो की झलक मुझको दीखती दाडिमो मे।
विम्बाओ मे वर अधर सी राजती लालिमा है।
मैं केलो में जघन-युग की मंजुता देखती हूँ।
गुल्फो की सी ललित सुषमा है गुलो मे दिखाती।

भ्रान्तिमान—

अति सशकित और सभीत हो मन कभी यह था अनुमानता।
व्रज समूह विनाशन को खडे यह निशाचर हैं नृप कंस के।

परिकर—

स्वसुत रक्षण औ पर-पुत्र के दलन की यह निर्मम प्रार्थना।
बहुत सभव है यदि यो कहें सुन नही सकती 'जगदम्बिका'।

परिकरांकुर—

रसमयी लख वस्तु अनेक की सरसता अति भूतल व्यापिनी।
समझ था पडता बरसात मे उदक का रस नाम यथार्थ है।

विषम—

काले कुत्सित कीट का कुसुम मे कोई नहीं काम था।
कॉटे से कमनीय कज कृति मे क्या है न कोई कमी।
पोरो में कब ईख की विपुलता है ग्रथियो की भली।
हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं।

दृष्टान्त—

कमल का दल भी हिमपात से दलित हो पडता सब काल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी निगलता करता बहु क्लान्त है।
कुसुम सी सुप्रफुल्लित बालिका हृदय भी न रहा प्रफुल्ल हो।
वह मलीन सकलुष हो गया प्रिय मुकुन्द-प्रवास-प्रसग से।

निदर्शना—

कुभगजो की बहु कष्टदायिता बता रही थी जन नेत्रवान को।
स्वकटको से स्वयमेव सर्वदा विदारिता हो बदरी द्रुमावली

अर्थान्तरन्यास—

हृदय चरण मे तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी।
पर सफल हमे सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल मे जो लिखा है।

विभावना—

श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोयी।
रोते-रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनो।
ज्यो-ज्यो लज्जा विवश वह थी रोकती वारिधारा।
त्यो-त्यो आंसू अधिकतर थे लोचनो मध्य आते।

मानवीकरण—

आविर्भूता गगन-तल मे हो रही है निराशा।
आशाओ मे प्रकट दुख की मूर्तियां हो रही हैं।
ऐसा जी मे व्रज-दुख-दशा देख के था समाता।
भू-छिद्रो से विपुल करुणा-धार है फूटती सी।

निष्कर्ष यह है कि हरिऔध जी का अलकार-विधान अत्यत पुष्ट एव समृद्ध है और उन्होने अधिकाश प्राचीन अलकारो को अपनाते हुए अपने काव्य-कौशल को प्रकट किया है, जिसमे कही भी भावो के निरूपण मे व्याघात उत्पन्न नही हुआ है। हरिऔध जी ने प्राय भावानुरूप अलकारो का प्रयोग किया है और कही-कही तो अलकारो के कारण भावो मे उत्कृष्टता एवं मार्मिकता भी आ गई है। जैसे श्लेष अलकार का उदाहरण देते हुए ऊपर जिस 'लाल' शब्द का उल्लेख किया गया है, इस शब्द द्वारा कवि ने वहाँ कितनी मार्मिकता एव प्रभावोत्पादकता भरदी है। ऐसे ही अन्य स्थल भी है, जहाँ कवि ने अलकारो के सहारे भावो मे तीव्रता लाने का प्रयत्न किया है। इतना ही नही कवि ने सागरूपको के बनाने मे भी बड़ा ही कौशल दिखाया है। परन्तु कही-कही ये सागरूपक इतने लम्बे और अरुचिकर हो गये हैं कि काव्य का आनद जाता रहा है। जैसे, दशम सर्ग मे कवि ने जो हृदय मे उद्यान का आरोप करके सागरूपक बनाया है, वह कला-कौशल की दृष्टि से अत्यत मार्मिक है तथा यहाँ रूपक का निर्वाह भी सुदर है, परन्तु सरसता एव धारा-प्रवाह की दृष्टि से उतना रुचिकर नही है। इतने लम्बे-लम्बे सागरूपक अधिक आनदप्रद नही होते। फिर भी कवि ने अलकारो के प्रयोग में

स्वाभाविकता एव सरसता का अधिक ध्यान रखा है और बहुत कम स्थलो पर अलकारो को जान-बूझकर ठूंसने का प्रयत्न किया है। निस्सदेह कवि अलकार-योजना मे पर्याप्त सफल रहा है और उसने अलकारो के द्वारा भाव-व्यजना मे भी अपूर्व चमत्कार एव अद्भुत काव्य-कौशल प्रकट किया है।

छन्द-विधान—काव्य मे श्रवणशीलता एव श्रुतिप्रियता की सृष्टि के लिए किसी न किसी प्रकार के छद की आवश्यकता का अनुभव आरम्भ से ही हुआ था। यही कारण है कि ऋग्वेदादि प्राचीन काव्य-ग्रथो मे भी लय, गति एव एक व्यवस्थित क्रमानुसार छदो का प्रयोग हुआ है। भारतीय साहित्याचार्यो मे से भामह तथा रुद्रट ने तो महाकाव्य की विशेषताओ का उल्लेख करते हुए छद के बारे मे कुछ नही लिखा है। परन्तु सर्वप्रथम दडी ने महाकाव्य मे पढ़ने एव सुनने मे मधुर एव रमणीक छन्दो की आवश्यकता का उल्लेख किया है तथा बतलाया है कि प्रत्येक सर्ग मे एक ही छद का प्रयोग करना चाहिए तथा सर्ग के अत मे भिन्न छद का प्रयोग अपेक्षित है।[1] आचार्य हेमचन्द्र तथा विश्वनाथ ने भी छद के बारे मे दडी की ही बात का समर्थन किया है। परन्तु आचार्य विश्वनाथ ने इतना और जोड दिया है कि महाकाव्य मे एक सर्ग ऐसा भी हो सकता है, जिसमे नाना प्रकार के छन्दो का प्रयोग किया जा सकता है। इन आचार्यो मे से हेमचन्द्र ने एक बड़ी ही महत्वपूर्ण बात की ओर सकेत किया है। आपने लिखा है कि "अर्थानुरूप छन्दस्त्वम्" अर्थात् सदैव अर्थ के अनुरूप छद-योजना होनी चाहिए।[2] पाश्चात्य विद्वानो मे से अरस्तू ने भी वीर-महाकाव्य (Epic) के लिए आरम्भ से लेकर अन्त तक एक ही छद हेक्सामीटर का प्रयोग आवश्यक माना है, यह हेक्सामीटर षट्पदी छद होता है।[3] परन्तु पाश्चात्य विकसनशील महाकाव्यो मे सर्वत्र छदो का प्रयोग दिखाई नहीं देता और न उनमे सर्ग के अत मे छद बदलते ही है, वरन् बीच-बीच मे गद्याश के प्रयोग भी मिलते है। वैसे ये महाकाव्य जनता के मध्य मे राज-दरबारो के बीच वाद्य-यन्त्रो के साथ गाये जाते थे तथा सस्वर सुनाये जाते थे। अत. इनमे गेय एव सुपाठ्य छदो का प्रयोग हुआ है, जिनसे भावानुरूप प्रभाव की सृष्टि मे अत्यत सहायता मिली है। परन्तु छद का होना

---

१ काव्यादर्श १।१८-१९

२ उत्सर्गविरुद्ध यथा रसानुरूपसदर्भत्वम्, अर्थानुरूपच्छन्दस्त्वम्"—इत्यादि
—हेमचन्द्र काव्यानुशासन, अध्याय ८

३ Aristotles Poetics—Part III—of the Epic Poem

कोई आवश्यक तत्व नही माना गया है। फिर भी प्रभावात्मकता एव भाव-प्रेषणीयता के लिए छदो की सहायता जितनी अपेक्षित है उतनी अन्य किसी की नही। इसी कारण काव्य में छन्दो की प्रशसा करते हुए पाश्चात्य कवि कॉलरिज ने लिखा है कि छद साधारण मनोवेगो और ध्यान सबधी चेतना एव सवेदनशीलता की वृद्धि मे वडी सहायता पहुँचाते हैं।[१] यही बात कविवर यीट्स ने दुहराई है कि छद मस्तिष्क को जाग्रत-मूर्छा की स्थिति मे सुलाने का कार्य करता है।[२] अग्रेजी के प्रसिद्ध आलोचक आई० ए० रिचर्ड्स भी काव्य की प्रभावोत्पादक शक्ति के लिए छन्दो का होना आवश्यक मानते हैं।[३]

भारतीय मनीषियो मे से आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'छद के बधन के सर्वथा त्याग मे हमे तो अनुभूत नाद-सौंदर्य की प्रेषणीयता का प्रत्यक्ष ह्रास दिखलाई पडता है।'[४] प्रसादजी ने भी छदो की प्रभावशालीनता पर विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि 'प्रायः सक्षिप्त और प्रभावमयी तथा चिरस्थायिनी जितनी पद्यमय रचना होती है, उतनी गद्य-रचना नहीं। इसी स्थान मे हम सगीत की भी योजना कर सकते हैं। सद्य प्रभावोत्पादक जैसा सगीत पद्यमय होता है, वैसी गद्य रचना नही।'[५] कविवर पत ने तो यहाँ तक लिखा है कि "कविता तथा छद के बीच बडा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कविता हमारे प्राणो का सगीत है, छद हृत्कम्पन, कविता का स्वभाव ही छद मे लयमान होता है।"[६]

भारतीय साहित्य मे ये छद दो प्रकार के प्रचलित हैं—वर्णिक तथा मात्रिक। वर्णों की गणना और वर्ण-क्रम के आधार पर जिन छदो की रचना होती है उन्हें वर्णिक छद कहते हैं और जिन छदो मे वर्णों के ऊपर ध्यान न देकर केवल मात्राओ की गणना की जाती है, उन्हे मात्रिक छद कहते हैं। सस्कृत काव्य मे प्राय वर्णिक छदो का ही प्रचार रहा है और अधिकाश कवितायें वर्णो के क्रम से ही निर्मित छदो मे लिखी गई हैं, जबकि हिन्दी की

---

१. Principles of Literary Criticism—p. 143.
२ वही, पृ० १४३
३. वही, पृ० १३९
४ चिन्तामणि, भाग २, पृ० १५९
५ इन्दु, कला २, किरण १, श्रवण शुक्ला २, सं० १९६७, पृ० २०
६ पल्लव की भूमिका, पृ० २१

अधिकांश कवितायें मात्रिक छंदों में ही निर्मित हुई हैं। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने रामचरित मानस में थोड़े से वर्णिक छंदों में भी अपनी रचना की थी, तथापि वर्णिक छंदों की ओर सबसे अधिक ध्यान आधुनिक युग में ही दिया गया। प० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सर्वप्रथम हिन्दी-के कवियों से मात्रिक छंदों के अतिरिक्त संस्कृत के वर्णिक छंदों को अपनाने का आग्रह किया और स्वयं ने भी वर्णिक छंदों में कवितायें लिखीं। इनके आग्रह एवं अनुरोध का ही यह परिणाम था कि हरिऔध जी ने अपना सारा 'प्रियप्रवास' काव्य वर्णिक छंदों में ही लिखा।

'प्रियप्रवास' की छंद-योजना—'प्रियप्रवास' में सर्वत्र वर्णिक छंदों का ही प्रयोग हुआ है। संस्कृत साहित्य में इन वर्णिक छंदों में लिखी हुई रचनायें प्रायः अतुकान्त हैं। इसी तरह 'प्रियप्रवास' में भी सर्वत्र अतुकान्त एवं अन्त्यानुप्रास-हीन कविता है। यहाँ पर कवि ने द्रुतविलम्बित, मालिनी, शार्दूलविक्रीडित, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका, वंशस्थ और शिखरणी नामक सात छंदों को अपनाया है, जिनमें से सर्वाधिक द्रुतविलम्बित, मालिनी, मन्दाक्रान्ता और वंशस्थ छंदों का प्रयोग किया गया है। साधारणतया वर्णनात्मकता एवं शीघ्रतापूर्वक कथा के कहने में द्रुतविलम्बित छंद सर्वथा उपयुक्त होता है। इसी कारण कवि ने जहाँ-जहाँ कथा को शीघ्रतापूर्वक किसी के मुख से या स्वयं कहना आवश्यक समझा है, वहाँ-वहाँ द्रुतविलम्बित छंद का प्रयोग किया है। ऐसे ही वसन्ततिलका, मालिनी तथा मन्दाक्रान्ता छंद सदैव वियोग या विलाप के वर्णन में सर्वथा उपयोगी होते हैं। महाकवि कालिदास ने अपने 'मेघदूत' की रचना मन्दाक्रान्ता छंद में की है तथा भवभूति ने वसन्ततिलका तथा मालिनी छंद में राम के विलाप का वर्णन करते हुए उत्तररामचरित नाटक में करुण रस की अभिव्यक्ति की है। अतः वियोग-जन्य खिन्नता, उदासी, अवसाद या विलाप आदि का वर्णन करने के लिए कवि ने यहाँ सर्वत्र वसन्ततिलका, मन्दाक्रान्ता तथा मालिनी छंद अपनाये हैं, जिनमें इन वियोग-जन्य भावों की मन्द-मन्द गति से उठने की प्रक्रिया, उनके प्रसार एवं उनके प्रभाव का अत्यंत प्रभावशाली वर्णन मिलता है। इनके अतिरिक्त अन्य छंदों को भी कवि ने सर्वथा भावानुरूप प्रयोग करने का प्रयत्न किया है। इन समस्त छंदों के लक्षण एवं उदाहरण इस प्रकार हैं :—

द्रुतविलम्बित—इस छंद का लक्षण यह है—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ

गण	वर्ण	सूत्र	सकेत
१–यगण	=एक लघु दो गुरु	= यमाता	= । ऽ ऽ
२–मगण	=तीनो गुरु	= मातारा	= ऽ ऽ ऽ
३–तगण	=दो गुरु एक लघु	= ताराज	= ऽ ऽ ।
४–रगण	=पहला गुरु, दूसरा लघु तथा तीसरा गुरु	= राजभा	= ऽ । ऽ
५–जगण	=पहला लघु, दूसरा गुरु और तीसरा लघु	= जभान	= । ऽ ।
६–भगण	=पहला गुरु दोनो लघु	= भानस	= ऽ । ।
७–नगण	=तीनो लघु	= नसल	= । । ।
८–सगण	=पहले दोनो लघु तीसरा गुरु	= सलगा	= । । ऽ

इस तरह हरिऔध जी ने हिन्दी-काव्य मे नवीन क्रान्ति उत्पन्न करते हुए जहाँ कथानक के अतर्गत नवीन उद्भावना की थी, वहाँ परम्परागत छदो के अतर्गत भी नवीन परम्परा का उद्घोष किया था। इसमे कोई सदेह नही कि सस्कृत के वर्णिक छदो का प्रयोग अत्यत दुरूह तथा दुष्कर होता है और मात्रिक छदो के प्रयोग मे कोई कठिनाई उपस्थित नही होती। इसी कारण हिन्दी-कविता मे मात्रिक छदो की ओर अधिक झुकाव रहा और वर्णिक छदो की दुरूहता मे फँसने का प्रयत्न अधिक नही किया गया। फिर भी आधुनिक युग मे इस ओर भी सराहनीय प्रयत्न हुए, उनमे से हरिऔध जी का यह प्रयत्न सर्वथा प्रशसनीय है। परन्तु जैसाकि कविवर पत ने लिखा है कि "हिन्दी का सगीत केवल मात्रिक छदो ही मे अपने स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, वर्णिक छन्दो मे नही"[1] इस आधार पर प्रतीत होता है कि हरिऔध जी वर्णिक वृत्तो के प्रयोग मे तो सर्वथा सफल हुए हैं और पर्याप्त परिश्रम करके उनका भावानुकूल प्रयोग भी किया है, परन्तु छदो के द्वारा जो श्रुतिसुगमता, श्रुतिमधुरता एव सगीतात्मकता का सृजन होता है उनके लिए हरिऔध जी के ये छद अधिक सफल नही दिखाई देते। सस्कृत कविता मे तो उक्त तीनो गुण विद्यमान हैं, परन्तु हरिऔध जी की

---

१ पल्लव की भूमिका, पृ० २३

इस कविता में ये गुण क्यों नहीं आ सके हैं—इनका प्रमुख कारण यह है कि संस्कृत भाषा विभक्ति-प्रत्यय-विभूषित तथा समास एवं संधि-प्रधान भाषा है। उसमें संश्लिष्टात्मक पदों की प्रधानता रहती है, जबकि हिन्दी विश्लेषणात्मक भाषा है, इसमें विभक्ति-प्रत्यय लगकर भी जटिलता नहीं होती और इसके प्रत्येक पद पृथक्-पृथक् ही लिखे जाते हैं, जिससे यहाँ समास एवं संधि की प्रधानता नहीं होती। इसीलिए उक्त वर्णिक छंद संश्लिष्टता-प्रधान संस्कृत-भाषा में तो श्रुतिसुगमता श्रुतिमधुरता, एवं संगीतात्मकता की सृष्टि में अत्यंत सफल होते हैं, परन्तु हिन्दी जैसी विश्लेषणात्मक एवं संधि-समास-विहीन भाषा में इन वर्णिक छंदों के कारण कृत्रिमता, आडम्बर एवं अस्वाभाविकता आ जाती है। यही कारण है कि कवि हरिऔध पर्याप्त परिश्रम करने के उपरान्त भी 'प्रियप्रवास' की कविता में उतनी सरलता, श्रुतिमधुरता एवं संगीतात्मकता की सृष्टि नहीं कर सके हैं, जितनी कि उनके 'रसकलस' में विद्यमान है। यहाँ भाव एवं रस के अनुकूल छंदों का प्रयोग होते हुए भी वे कृत्रिमता एवं अस्वाभाविकता से परिपूर्ण दिखाई देते हैं, उनमें भावों की धारावाहिकता नष्ट हो गई है और उनने हिन्दी-कविता की स्वाभाविक प्रवृत्ति को अत्यंत आघात पहुँचा है। यही कारण है कि हिन्दी-काव्य क्षेत्र में आगे चलकर इस परम्परा का पालन नहीं हुआ और किसी भी महाकवि ने संस्कृत वृत्तों में अपने महाकाव्य का सृजन नहीं किया। अतः हरिऔध जी के इन छंदों में उनकी प्रयोग करने वाली प्रवृत्ति के दर्शन तो होते हैं और उनके परिश्रम एवं कार्य-कुशलता की भी जानकारी प्राप्त होती है, परन्तु ये छंद काव्य का स्थायी प्रभाव डालने में सर्वथा असफल सिद्ध हुए हैं।

'प्रियप्रवास' में औचित्य—काव्य में औचित्य से तात्पर्य यह है कि काव्य के समस्त उपकरणों का उपयुक्त, अनुरूप तथा अनुकूल प्रयोग हो। साधारणतया जो वस्तु जिसके अनुरूप होती है, उसे 'उचित' कहा जाता है और उचित का भाव ही 'औचित्य' कहलाता है। काव्य में औचित्य की सर्वाधिक व्यवस्था आचार्य क्षेमेन्द्र ने की है। वैसे सर्वप्रथम इस औचित्य का प्रतिपादन भरत मुनि ने अपने 'नाट्य-शास्त्र' में किया है, क्योंकि वहाँ पर नाटक के प्रसंग में पात्र, प्रकृति, वेश-भूषा, भाषा आदि के औचित्य पर भरत मुनि ने अपने विचार प्रकट किये हैं। इस औचित्य के अनेक भेद माने गये हैं, क्योंकि आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने 'औचित्य-विचार-चर्चा' में पद, वाक्य, प्रबंधार्थ, गुण, अलंकार आदि से संबंधित २७ प्रकार के औचित्य नामक भेद बतलाये हैं, जिनके आधार पर किसी भी काव्य के गुण-दोषों पर विचार

किया जाता है।[1] उनमे से प्रवधौचित्य, गुणौचित्य, अलकारौचित्य, रसौचित्य, लिगौचित्य, नामौचित्य आदि प्रमुख हैं, जिनके आधार पर हम 'प्रियप्रवास' मे औचित्य के देखने का प्रयत्न करेंगे।

प्रवधौचित्य—इस औचित्य से तात्पर्य यह है कि समग्र प्रवध तात्पर्य के अनुरूप होना चाहिए। ऐसा होने से उसमे सहृदयो के चित्त को आवर्जन करने वाले चमत्कार की क्षमता उत्पन्न होती है।[2] 'प्रियप्रवास' मे कवि ने श्रीकृष्ण तथा राधा को लोकोपकार, समाज-सेवा, लोक-हित, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण दिखाने के लिए सम्पूर्ण प्रवध की योजना की है। यहाँ पहले श्रीकृष्ण को लोकोपकार-निरत दिखाकर त्याग, तपस्या, समाज-सेवा, स्वजाति-उद्धार आदि मे लीन दिखाया है और विश्वप्रेम मे ओत-प्रोत होकर अपने प्रियजन एव प्रियजन्य-भूमि तक का परित्याग करते हुए अकित किया है। तदुपरान्त श्रीकृष्ण को अपना सर्वस्व मानने वाली राधा को भी उनके चरण-चिह्नो पर चलते हुए त्याग, तपस्या सेवा, एव विश्व-प्रेम की सजीव मूर्ति के रूप मे अकित किया गया है। सारी कथा उक्त भावो के सर्वथा अनुकूल तथा कवि के तात्पर्य के सर्वथा अनुरूप ही विकसित हुई है। इससे 'प्रियप्रवास' मे प्रवधौचित्य पूर्णतया विद्यमान दिखाई देता है। परन्तु कवि के सम्मुख एक उद्देश्य यह भी रहा है कि श्रीकृष्ण के समस्त अलौकिक एव अद्भुत कार्यों को लौकिक एव मानवीय रूप दिया जाय और इसके लिये उसने जहाँ-तहाँ परिवर्तन प्रस्तुत करते हुए प्रवध की मूल कथा मे अनोखी उद्भावनायें की हैं। जैसे—कालियनाग के नाथने की कथा, गोवर्द्धन पर्वत को अँगुली पर उठाने की कथा, दावानल की कथा आदि। परन्तु इनमे कवि अपने उद्देश्य मे सफल नही हुआ है और न इन प्रसगो को वह अपने तात्पर्य के अनुरूप ढाल सका है। अत 'प्रियप्रवास' मे प्रवध-सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है।

गुणौचित्य—जहाँ कवि ओज, प्रसाद एव माधुर्य नामक गुणो का सन्निवेश प्रस्तुत अर्थ के सर्वथा अनुरूप करता है, वहाँ गुणौचित्य के दर्शन होते हैं। 'प्रियप्रवास' में प्रसाद और माधुर्य की ही प्रधानता है और यशोदा, नद, गोप, गोपियो एव राधा के प्रसगो म सर्वत्र उक्त दोनो गुणो का समावेश अर्थ के अनुरूप ही हुआ है। परन्तु बीच-बीच मे कवि ने श्रीकृष्ण के वीरतापूर्ण, समाज-सेवा एवं जाति-उद्धार के कार्यो का वर्णन करते हुए ओज गुण की

---

१. भारतीय साहित्य-शास्त्र, भाग २, पृ० ९७।
२ वही, पृ० ९७

योजना की है, वहाँ ओजगुण का सन्निवेश भी ओजस्वी उक्तियों से परिपूर्ण होने के कारण सर्वथा प्रकर्षशाली है। जैसे —

विपद से वर-वीर समान जो, समर-अर्थ समुद्यत हो सका।
विजय भूति उसे सब काल ही, वरण है करती सु-प्रसन्न हो।
पर विपत्ति विलोक स-शंक हो, शिथिल जो करता पग-हस्त है।
अवनि में अवमानित शीघ्र हो, कवल है बनता वह काल का।

अत यही कहा जायेगा कि 'प्रियप्रवास' में गुणौचित्य का पूर्णरूपेण निर्वाह हुआ है।

अलकारौचित्य—औचित्य-विचार-चर्चा में लिखा है कि "प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकार-विन्यास होने से कवि की उक्ति उसी प्रकार चमत्कृत होती है, जिस प्रकार पीन स्तन पर रखे गये हार से हरिणलोचना सुंदरी।"[1] इस तरह जहाँ प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप अलकारों की योजना होती है, वहाँ निस्सदेह वे प्रस्तुत अर्थ के साथ-साथ इसके भी पोषक होते हैं। 'प्रियप्रवास' में कवि ने यही भरसक प्रयत्न किया है कि सर्वत्र अलकारों की योजना अर्थानुरूप हो। जैसे कवि ने 'लाल' शब्द में श्लेष का चमत्कार उत्पन्न करते हुए तथा अन्य रत्नों से उसे उत्कृष्ट घोषित करते हुए यशोदा के मुख से अत्यत उचित पदावली का उच्चारण कराया है —

"विपुल धन अनेकों रत्न हो साथ लाये।
प्रियतम! बतला दो लाल मेरा कहाँ है।
अगणित अनचाहे रत्न ले क्या करूँगी।
मम परम अनूठा लाल ही नाथ ला दो। ७।८८

परन्तु कहीं-कहीं अनौचित्य के भी दर्शन हो जाते हैं। जैसे कवि का श्रीकृष्ण से रहित यशोदा की तुलना करते हुए उसे मछली के समान कहना तो सर्वथा उचित है, परन्तु निम्नलिखित पक्तियों में उसे सर्प के समान कहा है और श्रीकृष्ण को मणि के तुल्य कहा है, अर्थात् यशोदा स्त्री है उनकी समता सर्प से ठीक नहीं और श्रीकृष्ण पुरुष है, इसलिए उनकी समता स्त्रीलिंग उरग-मणि से ठीक नहीं है। अतः यहाँ अलकार सम्बन्धी अनौचित्य भी है —

---

१ अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।
—औचित्य-विचार-चर्चा, श्लोक १५।

निज प्रिय मणि को जो सर्प खोता कभी है।
तडप तडप के तो प्राण है त्याग देता।
मम सदृश मही मे कौन पापीयसी है।
हृदय-मणि गँवा के नाथ जो जीविता हूँ। ७।४८

इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि कवि ने राधा की समता देते हुए "शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी" कहकर मणि की समता स्त्रीलिंग राधा से दी है, जो सर्वथा औचित्यपूर्ण है। इसी तरह निम्नलिखित पक्ति मे भी अलकार सम्बन्धी अनौचित्य विद्यमान है —

"फूले कज समान मजु दृगता थी मत्तता कारिणी।"

यहाँ पर 'दृगों' को नही अपितु 'दृगता' को 'फूले कजो' के समान कहा है। पहले तो लिंगौचित्य ही नही है। दूसरे, प्राय नेत्र या दृग ही कज के समान होते है, कही 'दृगता' कंज के समान नही होती। यदि कहना ही था तो दृगता को 'कजता' के समान कहना चाहिए था। परन्तु कवि ने इस औचित्य की ओर ध्यान नही दिया है। इसलिए यत्र-तत्र अलकार सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है।

रसौचित्य—प्रत्येक काव्य मे रसौचित्य पर सर्वाधिक ध्यान रखा जाता है। क्योकि रस ही काव्य की आत्मा है और यदि रसौचित्य पर ही ध्यान नही रखा जायगा तो सारा काव्य ही निर्जीव एव नीरस हो जायगा। कहने की आवश्यकता नही कि 'प्रियप्रवास' मे 'विप्रलम्भ शृगार' को प्रमुखता दी गई है तथा अन्य सभी रस उसके अगरूप मे वर्णित हैं। परन्तु कवि ने विप्रलम्भ शृगार को इतनी गहनता, गभीरता एव स्थिरता प्रदान करने का प्रयत्न किया है, जिससे वह करुण रस की कोटि मे पहुँच गया है, क्योकि शोक नामक भाव जो पहले सचारी भाव के रूप मे था, आगे चलकर स्थायी भाव बन जाता है। वैसे सभी वर्णन पूर्णतया रसौचित्य की कोटि मे ही आते हैं। परन्तु 'पवन दूतीप्रसग' मे राधा ने पवन से वार्त्तालाप करते हुए उसे अपना सदेश कृष्ण तक पहुँचाने के लिए जो नानाप्रकार की युक्तियाँ बताई हैं, वह वर्णन पूर्णतया औचित्य की सीमा को पार कर गया है, क्योकि एक श्रान्ता विरहिणी इस तरह कुशलतापूर्वक युक्तियाँ नही बता सकती। अत. वहाँ रस सम्बन्धी अनौचित्य विद्यमान है। यही बात कालीनाग की कथा के वर्णन मे भी है। वहाँ कवि का झुकाव श्रीकृष्ण के ओजपूर्ण कार्यों की व्याख्या करते हुए वीर-रस के वर्णन की ओर है और इसीलिए श्रीकृष्ण के मुख से यह भी कहलवाया है :—

"अत' करूँगा यह कार्य मे स्वय, स्वहस्त मे दुर्लभ प्राण को लिये।
स्वजाति औ जन्म-धरा निमित्त मैं, न भीत हूँगा विकराल व्याल से।

परन्तु कुछ ही क्षणो उपरान्त हम उन्ही श्रीकृष्ण को उस महाव्याल मे युद्ध आदि न करके केवल उसके फणों पर खडे होकर मधुर मुरली बजाते हुए देखते है और इस अद्भुत दृश्य को देखकर वीर रस का अनुभव न करके अद्भुत रस में डुबकियाँ लगाने लगते है। अत वीर रस का वर्णन न करके कवि यहाँ अद्भुत रस के वर्णन में लीन हो जाता है। इसी कारण यहाँ रसौचित्य का ध्यान नहीं रखा गया है।

लिंगौचित्य—प्राय· प्रकृत अर्थ के पोषक विशिष्ट लिंग वाले शब्दो की योजना ही लिंगौचित्य के अंतर्गत आती है। 'प्रियप्रवास' मे कवि ने प्राय. लिंगौचित्य का बहुत ध्यान रखा है। परन्तु फिर भी कही-कही जाने या अनजाने लिंग सम्बन्धी अनौचित्य हो गया है। अभी अलकार-औचित्य के अंतर्गत हम कुछ उदाहरण ऐसे दे चुके है, जहाँ स्त्रीलिंग उपमेय के लिए पुल्लिंग उपमान तथा पुल्लिंग उपमेय के लिए स्त्रीलिंग उपमान आगये है। इनके अतिरिक्त सागरूपक बनाते समय भी कवि इस लिंग सम्बन्धी औचित्य की परवा न करके पुल्लिंग 'विहग' का आरोप स्त्रीलिंग 'सदवाद्या' मे,[1] स्त्रीलिंग 'कलाओ' का आरोप पुल्लिंग 'सरस-सुम' मे[2] तथा स्त्रीलिंग 'बेलि' का आरोप पुल्लिंग 'पुण्य' मे[3] कर बैठा है। इसी तरह सप्तम सर्ग मे कवि ने यशोदा के विलाप का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण के लिए सजल जलद, सुधा का सोत, दिनकर, स्वच्छ सोता चित्रो का चितेरा आदि कहकर लिंगौचित्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा है, परन्तु वहीं पर शुको के समान घर को मुखरित करने वाला तथा खगो के समान वनो मे कलरव करने वाला कहकर कवि ने पिक के समान वाटिका को ध्वनित करने वाला बताया है।[4] यहाँ पुल्लिंग श्रीकृष्ण के लिए स्त्रीलिंग 'पिक' का प्रयोग सर्वथा अनौचित्य का द्योतक है। इस तरह कही-कहीं लिंग सम्बन्धी अनौचित्य भी विद्यमान है, परन्तु 'प्रियप्रवास' मे अधिकतर लिंगौचित्य की ही रमणीयता दर्शनीय है।

---

१ प्रियप्रवास १०।४९
२ वही १०।५२
३. वही १०।६२
४ वही ७।२१

नामौचित्य—जहाँ पर प्रकृत अर्थ के अनुरूप नामो की योजना की जाती है, वहाँ नामौचित्य होता है। साधारणतया सार्थक नामो की योजना से ही काव्य मे रमणीयता एव मार्मिकता आती है। जैसाकि आचार्य शुक्ल ने भी लिखा है कि "कवि मनुष्यो के नामो के स्थान पर कभी-कभी उनके ऐसे रूप, गुण या व्यापार की ओर इशारा करता है जो स्वाभाविक और अर्थगर्भित होने के कारण सुनने वाले की भावना के निर्माण मे योग देते हैं। गिरिधर, मुरारि, त्रिपुरारी, दीनबधु, चक्रपाणि, मुरलीधर, सव्यसाची इत्यादि शब्द ऐसे ही हैं। ऐसे शब्दो को चुनते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वे प्रकरण-विरुद्ध या अवसर के प्रतिकूल न हो। जैसे, यदि कोई मनुष्य किसी दुर्धर्ष अत्याचारी के हाथ से छुटकारा पाना चाहता हो तो उसके लिए "हे गोपिकारमण ! हे वृन्दावन विहारी !" आदि न कहकर कृष्ण को पुकारने की अपेक्षा 'हे मुरारि ! हे कसनिकदन !" आदि सबोधनो से पुकारना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि श्रीकृष्ण के द्वारा कस आदि दुष्टो का मारा जाना देखकर उसे उनसे अपनी रक्षा की आशा होती है, न कि उनका वृन्दावन मे गोपियो के साथ विहार करना देखकर। इसी तरह किसी आपत्ति से उद्धार पाने के लिए कृष्ण को "मुरलीधर" कहकर पुकारने की अपेक्षा "गिरिधर" कहना अधिक अर्थसगत है।"[1] इस कथन से स्पष्ट है कि कवि को काव्य मे अर्थसगत नामो का प्रयोग करना चाहिए तथा अनुपयुक्त नामो के प्रयोग से बचना चाहिए। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि हरिऔध ने भी 'प्रियप्रवास' मे प्राय सार्थक एव अर्थसगत नामो का ही प्रयोग किया है। जैसे —

(१) आई वेला हरि-गमन की छागई खिन्नता सी ।५।२०

यहाँ पर कवि ने श्रीकृष्ण के लिए 'हरि' शब्द का प्रयोग किया है। हरि का एक अर्थ सूर्य भी होता है और जिस तरह सूर्य के छिपने का समय आते ही सर्वत्र अधकार छा जाता है, उसी तरह व्रज मे भी श्रीकृष्ण के गमन का समय आते ही सर्वत्र अधकार जैसा विषाद (खिन्नता) छा गया था। अतः यहाँ 'हरि' शब्द सर्वथा सार्थक है।

(२) बोली सशोक अपरा यक गोपिका यो।
ऊधो अवश्य कृपया व्रज को जिलाओ।

---

१ चिन्तामणि, भाग १. प्रथम सस्करणपृ०, २४६

जाओ तुरन्त मथुरा करुणा दिखाओ।
लौटाल श्याम-घन को व्रज मध्य लाओ।१८।७५

यहाँ पर कवि मृतप्राय व्रज के लिए जिस 'श्याम-घन' के लौटाने की बात कही है उसमे 'श्याम-घन' नाम अत्यन्त सार्थक है, क्योकि मरे हुए एव जले हुए पेड पौधो तथा मृतप्राय प्राणियो को जलवाले काले बादल ही जीवन प्रदान किया करते है।

(३) कालिंदी की कलित-सरिता दर्शनीया-निकुंजे।
प्यारा वृन्दा-विपिन विटपी चारु न्यारी लतायें।
शोभावाले विहग जिनके है दिये हा। उसीने।
कैसे माधो-रहित व्रज की मेदनी को बनाया।१५।३६

यहाँ कवि ने 'माधो' शब्द का अत्यत सार्थक प्रयोग किया है, क्योकि माधव का अर्थ वसत भी होता है और वसत के बिना जैसे नदी, कुज, वन, लता, पक्षी आदि मे कोई शोभा नहीं आती, उसी तरह कृष्ण के बिना भी यमुना, कुजो, वृन्दावन आदि मे कोई शोभा नहीं रही है। अत. 'माधो' शब्द दोनो ओर सकेत करता हुआ अपनी सार्थकता एव उपयुक्तता सूचित कर रहा है।

इस तरह कवि ने 'प्रियप्रवास' मे विविध औचित्यो का समावेश करके अपने काव्य को सरस एव सुन्दर बनाने की चेष्टा की है और अपने काव्य-कौशल को भी व्यक्त किया है, परन्तु जहाँ-तहाँ अनौचित्य आगये है, जिनसे काव्य मे कुछ दोष दिखाई देते है, फिर भी ये दोष इतने नहीं है जो सर्व-साधारण की दृष्टि मे आवे, अपितु ये चन्द्रमा के कलक की भाँति कवि के कला-कौशल की ज्योत्स्ना मे छिप जाते है और उनकी ओर अनायास ही ध्यान नहीं जाता। अत यह मानना पडेगा कि 'प्रियप्रवास' मे औचित्य के उत्कृष्ट रूप की ही अभिव्यंजना हुई है।

'प्रियप्रवास' मे काव्य-शैलियो का स्वरूप—शैली भावाभिव्यक्ति का ढग है। यही वह साधन है, जिसके द्वारा कवि अपने हृदयस्थ भावो को पाठको एव श्रोताओ तक पहुँचाता है। इसके लिए कभी वह सरल पद्धति का प्रयोग करता है, कभी गूढ, साहित्यिक एव क्लिष्ट पद्धति को अपनाता है और कभी अत्यन्त सशक्त पद्धति का प्रयोग करता है। सभी प्रकार की पद्धतियो द्वारा वह अपने विचार दूसरो तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। इसी कारण शैली मे सबसे बडा गुण प्रेषणीयता का होना है। जहाँ कवि अपनी भाषा को समान एव व्यजना-शक्ति से इतना ओजित बना देता है कि श्रोता एव पाठक उस

मूल-भाव तक बडी कठिनाई से पहुँच पाते हैं, वहां इस प्रेषणीयता के गुण का ह्रास हो जाता है और कविता सर्वजनसुलभ नही रहती, परन्तु जहां कवि सरल एव सरस पदावली के साथ अपने विचारो को व्यक्त करता है, वहां यह प्रेषणीयता का गुण सर्वाधिक देखा जाता है। इस शैली के द्वारा ही किसी कवि का पता सुगमता से चल जाता है, क्योकि प्रत्येक कवि की अपनी एक प्रमुख शैली होती है। साधारणतया शैली के पांच गुण प्रमुख रूप से माने गये हैं—(१) ओजस्विता, (२) सजीवता, (३) प्रौढ़ता, (४) प्रभावशालीनता और (५) प्रेषणीयता। अत वही शैली सर्वश्रेष्ठ होती है, जिसमे शब्दो का चयन इतना सुन्दर एव सुष्ठु हो, कि उसमे उक्त सभी गुणो का समावेश पूर्णरूपेण हो सके और जो रोचकता, व्यजकता एव धारावाहिकता के कारण अत्यत सुस्पष्ट एव सजीव हो। साधारणतया काव्य की शैलियां चार प्रकार की होती हैं—(१) सरल शैली, (२) अलकृत शैली, (३) गुम्फित या क्लिष्ट शैली और (४) गूढ या साकेतिक शैली। 'प्रियप्रवास' मे केवल प्रथम तीन शैलियो का स्वरूप ही मिलता है। चौथी गूढ या साकेतिक शैली के दर्शन यहां नही होते।

सरल शैली—इस शैली के अतर्गत सरल, सुबोध और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग होता है, प्रसाद गुण की प्रधानता रहती है और अत्यत सरलतापूर्वक भावो की अभिव्यक्ति होती है। 'प्रियप्रवास' मे इस शैली का प्रयोग अधिकाश स्थलो पर हुआ है। जैसे—

फूले नीले वनज-दल-सा गात का रंग प्यारा।
मीठी-मीठी मलिन मन की मोदिनी मजु-बातें।
सोवे-डूबी-अलक यदि है श्याम की याद आती।
ऊधो मेरे हृदय पर तो सांप है लोट जाता। १०।५७

अलंकृत शैली—इस शैली के अतर्गत अलकार-प्रधान भाषा का प्रयोग किया जाता है और सुमधुर शब्दो द्वारा चमत्कार उत्पन्न करते हुए भावो को व्यक्त किया जाता है। 'प्रियप्रवास' मे इस शैली के भी यत्र-तत्र दर्शन हो जाते हैं। जैसे—

मेरी आशा नवल-लतिका थी बडी ही मनोज्ञा।
नीले पत्ते सकल उसके नीलमो के बने थे।
हीरे के थे कुसुम फल थे लाल गोमेदको के।
पन्नो द्वारा रचित उसकी सुदरी डठियां थीं। १०।७६

गुम्फित एव क्लिष्ट शैली—इस शैली के अतर्गत परस्पर सगुम्फित लम्बे-लम्बे समास-बहुल शब्दो एव वाक्यो का प्रयोग होता है तथा कभी-कभी एक ही वाक्य मे कितने ही अन्य वाक्य भी सम्मिलित रहते हैं और पदावली भी अत्यत क्लिष्ट एव सगुम्फित होती है। 'प्रियप्रवास' मे इस क्लिष्ट शैली का प्रयोग अधिक तो नही हुआ है, परन्तु कहीं-कहीं कवि का झुकाव इसकी ओर अवश्य रहा है। जैसे—

> नाना-भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद-आपूरिता ।
> लीला-लोल-कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू-भगिमा-पडिता ।
> वादित्रादि समोद-वादन-परा आभूषणा-भूषिता ।
> राधा थी सुमुखी विशाल-नयना आनद-आन्दोलिता ।
> सद्वस्त्रा-सदलकृता गुणयुता सर्वत्र-सम्मानिता ।
> रोगी-वृद्ध-जनोपकार-निरता सच्छास्त्र-चिन्तापरा ।
> सद्भावातिरता अनन्य-हृदया सत्प्रेम-सपोषिका ।
> राधा थी सुमना प्रसन्नवदना स्त्री-जाति-रत्नोपमा । ४।६-८

इनके अतिरिक्त गूढ एव साकेतिक शैली का प्रयोग यहा नहीं हुआ है, परन्तु उक्त तीनों शैलियों में से भी प्रथम सरल शैली को ही कवि ने यहाँ सर्वाधिक अपनाया है। अत. शैली की दृष्टि से 'प्रियप्रवास' मे प्रेषणीयता का गुण सर्वाधिक विद्यमान है। परन्तु जहाँ-जहाँ गुम्फित एव गूढ शैली का प्रयोग हुआ है, वहाँ कवि की कविता अत्यत बोझिल एव कृत्रिम बन गई है और उसकी स्वाभाविकता पूर्णतया नष्ट हो गई है। उसके लिए कवि ने भले ही यह दलील दी हो कि "क्या--रामचरितमानस, रामचद्रिका और विनय-पत्रिका मे भी 'प्रियप्रवास' अधिक सस्कृत-गर्भित है।"[1] परन्तु यह बात स्पष्ट है कि रामचरितमानस, रामचद्रिका या विनयपत्रिका के भी वे पद या वे पद्य-भाग अधिक सजीव एव अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है, जहाँ पर कवियों ने क्लिष्ट एव गुम्फित शैली का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए विनय-पत्रिका के प्रारम्भिक स्तोत्रों को देखा जा सकता है। वे उतने प्रभावशाली नहीं है, जितने कि शेष पद दिखाई देते है। यही बात 'प्रियप्रवास' के बारे मे भी है। यहाँ पर भी कवि का झुकाव जहाँ-तहाँ क्लिष्टतापूर्ण सस्कृत-गर्भित

१. प्रियप्रवास—भूमिका, पृ० १०

प्रभविष्णुता, उद्देश्य की महानता एव काव्य-कला की प्रौढता को देखकर भी हम आँखें मीचलें और उसे महाकाव्य न मानें यह दूसरी बात है। वैसे 'प्रियप्रवास' निस्सदेह अपनी कोटि का एक अनुपम महाकाव्य है तथा आधुनिक युग के सभी महाकाव्यों का पथ-प्रदर्शक है।

प्रकरण ५

प्रियप्रवास में संस्कृतिक निरूपण

भारतीय संस्कृति—भारतीय संस्कृति की अविच्छिन्न धारा वैदिक काल से लेकर आज तक प्रवाहित है और इसमें न जाने कितनी अन्य संस्कृतियों का भी सम्मिश्रण हुआ है, परन्तु इसके अपने प्रवाह में कोई व्याघात उत्पन्न नहीं हुआ है और न इसकी धारा क्षीण ही हुई है। इस संस्कृति को स्वरूप देने में निगम, आगम, बौद्ध, जैन, द्रविड़, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि कितनी ही संस्कृतियों का हाथ रहा है और इसी कारण इसे सामासिक संस्कृति भी कहा जाता है, फिर भी यह सांस्कृतिक धारा अन्यान्य संस्कृतियों के सम्मिश्रण पर भी अपना स्वरूप अक्षुण्ण बनाये हुए है। भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि इसके विभिन्न रूप हैं। जैसे प्राचीन ग्रंथों के आधार पर देवसृष्टि का प्रथम उल्लेख मिलने के कारण हम इसे दो रूपों में देखते हैं—देव-संस्कृति और मानव-संस्कृति। आगे चलकर यह देव-संस्कृति पूर्णतया मानव-संस्कृति में विलीन हो गई और मानव-संस्कृति फिर दो रूपों में दिखाई देने लगी—वैदिक संस्कृति और अवैदिक संस्कृति। उनमें से जो संस्कृति वैदिक ग्रंथों के आधार पर पल्लवित हुई वह वैदिक संस्कृति है और जो वैदिक साहित्य से परे वेद-बाह्य विचारों के आधार पर विकसित हुई उसे अवैदिक संस्कृति माना जा सकता है। इनमें से वैदिक संस्कृति भी पुनः दो रूपों में विकसित हुई—निगम संस्कृति और आगम संस्कृति। निगम संस्कृति तो पूर्णतया वैदिक विचारों के आधार पर विकसित हुई थी, परन्तु आगम संस्कृति वैदिक विचारों को ही लेकर विभिन्न तन्त्रों या आगमों के आधार पर पल्लवित हुई। ऐसे ही अवैदिक संस्कृति में कितनी ही अन्य संस्कृतियाँ सम्मिलित हैं। जैसे आग्नेय संस्कृति, द्रविड़ संस्कृति, जैन संस्कृति, बौद्ध-संस्कृति तथा अन्य विदेशी संस्कृतियाँ, जिनमें यूनानी, शक, आभीर, मुस्लिम, अंग्रेजी आदि संस्कृतियाँ सम्मिलित हैं। इस प्रकार भारतीय संस्कृति में

विभिन्न रूपो मे विभक्त दिखाई देती है और यह शका होती है कि इतने सम्मिश्रण के उपरान्त भी भारतीय सस्कृति का अपना स्वरूप कैसे अक्षुण्ण बना रहा ? इसके लिए सबसे सुदर उदाहरण गगाजी का दिया जाता है। जैसे, गगा नदी मे अनेक-नदी और नाले मिलते है, फिर भी गगा की पावनी धारा अक्षुण्ण रूप से बहती चली जाती है और सर्वत्र गगा की धारा के नाम से ही प्रसिद्ध है। यही बात भारतीय सस्कृति के बारे मे भी है। इसमे भी अनेकानेक सस्कृतियो का सम्मिश्रण हुआ है, परन्तु वे सभी सस्कृतियाँ इसमे आकर इस तरह घुलमिल गई हैं कि आज उनका अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं दिखाई देता, अपितु वे सभी मिलकर भारतीय सस्कृति की मुख्य धारा के नाम से प्रसिद्ध है। साथ ही इतनी सस्कृतियो के मिलने के उपरान्त भी भारतीय सस्कृति की कुछ अपनी ऐसी विशेषतायें रही हैं, जिनके कारण यह सस्कृति सबका समन्वय करती हुई आज तक विद्यमान है तथा बाह्य सस्कृतियो से प्रभावित होकर भी इसकी अन्तरात्मा मे तनिक भी परिवर्तन नही हुआ है। इतना ही नही इसकी पावनी शक्ति इतनी प्रबल है कि बरसाती नालो के रूप मे मिली हुई अन्य सस्कृतियो को भी इसने पवित्र करके अपना रूप प्रदान कर दिया है और आज वे सभी बाह्य सस्कृतियाँ घुलमिल कर भारतीय सस्कृति के रूप मे एकाकार हो गई हैं।

'प्रियप्रवास' मे भारतीय संस्कृति का स्वरूप—भारतीय संस्कृति का स्वरूप एक रसायन के रूप मे तैयार हुआ है। इसी कारण इसमे विभिन्न विशेषतायें विद्यमान हैं और वे सब अपना-अपना निजी गुण रखते हुए भी एक सामूहिक गुण के रूप मे परिणत हो गई हैं। 'प्रियप्रवास' का निर्माण आधुनिक युग के द्वितीय चरण मे हुआ था। उस समय वैदिक एव अवैदिक विचारो का प्रचार एव प्रसार करने के लिये भारत मे कितनी ही सास्कृतिक सस्थायें कार्य कर रही थी, जिनमे से ब्रह्मसमाज, आर्यसमाज, थियोसफीकल सोसाइटी, रामकृष्णमिशन, प्रार्थनासमाज, राधास्वामी सम्प्रदाय, आदि प्रसिद्ध हैं। इनके विचारो से सभी प्रभावित हुये थे। प्रभावित होने का प्रमुख कारण यह था कि ये सभी सास्कृतिक सस्थायें लोकोपकार, देश-सेवा, समाज-सेवा, एकता, समता, विश्व-प्रेम, लोक-हित आदि के विचारो को प्रमुखरूप से लेकर चली थी, कोई भी सस्था भारतीय सस्कृति के मूल सिद्धान्तो से विमुख न थी और सभी के अतर्गत अधिक से अधिक भारतीय सास्कृतिक परम्परा विद्यमान थी। अत. उक्त सस्थाओ और भारतीय परम्परा से पूर्णतया प्रभावित होकर हरिऔध जी ने भारतीय सस्कृति के उन सिद्धान्तो, उद्देश्यो एव प्रमुख विचारो

को 'प्रियप्रवास' में स्थान दिया, जो पूर्णतया युग के अनुकूल थे और जिनसे राष्ट्रीय नव जागरण एवं देशोन्नति में पूरी-पूरी सहायता मिल सकती थी। अब हम भारतीय संस्कृति के उन्हीं विचारों को क्रमशः प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

आदर्श परिवार—भारतीय संस्कृति में परिवार का अत्यधिक महत्व है। यहाँ की संयुक्त कुटुम्ब-प्रणाली इतनी उत्कृष्ट एवं उपादेय है कि उसी के कारण मानव के सुंदर चरित्र एवं उन्नत विचारों का निर्माण होता है। इस परिवार की पाठशाला में ही वह जीवन के सम्पूर्ण रहस्यों की शिक्षा सुगमता से ग्रहण कर लेता है और अपने आदर्श को अपनाकर जीवन-क्षेत्र में पदार्पण करने के लिए सुयोग्य हो जाता है। हरिऔध जी ने अपने 'प्रियप्रवास' में ऐसे ही सुंदर एवं आदर्श परिवार की झाँकी अंकित की है, जिसमें माता यशोदा, पिता नंद तथा परम लाडिला पुत्र कृष्ण तीन सदस्य हैं और उनमें परस्पर इतना स्नेह, इतना दुलार एवं इतना आदर भाव है कि वे भारतीय कुटुम्ब का आदर्श बने हुए हैं। यहाँ माता यशोदा एक आदर्श माता के रूप में अंकित है, जो अपने पुत्र के लालन-पालन में बड़ी ही कुशल हैं। 'वे अपने पुत्र को प्रभात होते ही बड़ी उत्कंठा के साथ मीठी मेवा, मृदुल नवनी और पक्वान्न खिलाया करती थीं तथा कजरी गाय का दूध पिलाया करती थीं। उनका पुत्र कृष्ण बड़ा ही सकोची था। अतः वे उसे गोद में लेकर बड़ी रुचि के साथ खिलाया-पिलाया करती थीं। यदि पुत्र का मुख तनिक भी म्लान हो जाता, तो उनका हृदय भी व्यथित हो उठता था और वे पुत्र का मुख देखते-देखते ही अपना सारा दिन व्यतीत करती थीं। यदि पुत्र के खाने पीने का समय तनिक भी टल जाता था, तो माता को बड़ी व्यथा होती थी। वे पुत्र के खेलने-कूदने का भी बड़ा ही ध्यान रखती थीं। रंग-बिरंगे सुखकारी खिलौने तथा नट आदि के खेलों से पुत्र को सदैव प्रसन्न रखने का प्रयत्न करती थीं।'[1] यही उनका लाड़िला पुत्र जब कंस के निमंत्रण पर मथुरा जाने लगा तब भला ऐसी स्नेहमयी जननी का हृदय क्यों न विदीर्ण होता। पुत्र के जाते ही उनकी वेदना एवं व्यथा अनन्त हो गई और जब वह पुत्र लौटकर ही न आया, तब तो उस माता के दुःख की कोई सीमा न रही। इस तरह एक आदर्श माँ के जीवन की सुंदर झाँकी 'प्रियप्रवास' में अंकित है।

१ प्रियप्रवास १०।२६–३०

जैसी आदर्श माँ यहाँ चित्रित है वैसा ही आदर्श पुत्र भी यहाँ विद्यमान है। एक पुत्र के रूप मे अकित 'श्रीकृष्ण अपनी माता यशोदा तथा पिता नद को अत्यत स्नेह करते थे। अपनी मधुर क्रीडाओ से सबका मन मोहित करते रहते थे। वे वडी ही सरस बातें किया करते थे। सदैव छोटे और वडे सभी की भलाई के कार्य करते रहते थे। वचपन से ही उन्हे दूसरो के हित का वडा ध्यान रहता था। सभी से अत्यत प्यार के साथ मिलते थे। दुख के दिनो मे सभी की सहायता करते थे। वडो से वडी विनम्रता के साथ मिलते थे और वडी शिष्टता के साथ वातचीत किया करते थे। वे कभी किसी से विरोध की बातें नही करते थे। वडे प्रेम के साथ समस्त वालको के साथ खेला करते थे और अपूर्व फल-फूल खिला-खिला कर स्वय भी प्रसन्न होते तथा अपने साथियो को भी प्रसन्न रखते थे। यदि वे देखते कि कही मित्रो मे कलह हो गया है तो वे तुरन्त उसे शान्त कर देते थे। यदि कोई वली निर्बल को सताता था तो वे उसे तिरस्कृत करते थे और यदि कोई व्यक्ति वडे प्रेम के साथ अपना कार्य करता था तो यह देखकर उन्हें प्रसन्नता होती थी। माता, पिता तथा गुरुजन आदि किसी भी वडे व्यक्ति का कोई छोटा व्यक्ति निरादर करता था तो वे वडे ही खिन्न और दुखी होकर उन छोटे व्यक्तियो या पुत्रो को समझाते हुए सदुपदेश दिया करते थे। वे सदैव सेवा और उपकार मे लीन रहते थे। इसी कारण वे अकेले नद-यशोदा के ही पुत्र न थे, अपितु सारा व्रज उन्हे अपना समझता था, सतानहीन व्यक्ति उनको ही अपनी सतान मानते थे और सतानवान व्यक्ति अपनी सतान की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर ही अधिक भरोसा रखते थे। इस तरह थोडी अवस्था मे ही वे अत्यत सम्मान एव आदर के पात्र वन गये थे।'[1]

भारतीय सस्कृति मे गमन के समय प्राय छोटे व्यक्ति अपने से वडो के चरण छूते हैं और वडे व्यक्ति आशीर्वाद देते है। परिवार के इस उज्ज्वल रूप की झाँकी भी 'प्रियप्रवास' मे अत्यत रमणीयता के साथ अकित है। श्रीकृष्ण तथा वलराम मथुरा चलते समय अपनी माता यशोदा के चरण छूते हैं और माता यशोदा उन्हे आशीर्वाद देती हुई कहती हैं—"हे जीवनाधार जाओ और दोनो भैया शीघ्र लौटकर मुझे अपना चन्द्रमुख दिखाना। तुम्हारे मार्ग मे धीरे-धीरे सुदर पवन वहे, सूर्य अपनी तीव्रता न दिखावें, वृक्ष प्यारी छाया प्रदान करें, वनो मे शान्ति फैले, मार्ग की समस्त वाधायें शान्त हो,

---

१ प्रियप्रवास १२।८०–९०

आपत्तियाँ दूर हों, तुम्हारी यात्रा सफल हो और तुम कुशलतापूर्वक घर लौट कर आओ।"[1] यहाँ पर स्पष्ट ही "गच्छ पुनरागमनाय" वाली भारतीय संस्कृति की आदर्शान्मिक वाणी गूँजती हुई सुनाई पड़ती है।

पिता के रूप में नन्द का जीवन भी अत्यंत स्नेह, दुलार एवं कर्त्तव्य-परायणता से परिपूर्ण दिखलाया गया है। कंस का निमंत्रण पाकर उनका पितृ-हृदय भी अपने लाडले पुत्र के लिए दहल जाता है। उनकी रात बड़ी कठिनाई से कटती है[2] और जब मथुरा से अकेले ही लौट कर आते हैं तो वे अपना मुख तक दिखाना अच्छा नहीं समझते तथा घर आने में उनके पैर मन-मन भर के हो जाते हैं। उनका मुख उदास हो जाता है और वे एक विक्षिप्त की भाँति घर लौटते हैं।[3] कारण स्पष्ट ही है कि वे अपने सर्वस्व तथा प्राणप्रिय पुत्र को मथुरा छोड़ कर अकेले ही चले आये थे। इतना ही नहीं उनकी वेदना उद्धव के सम्मुख और भी शतधा होकर फूट पड़ती है तथा वे अपने यमुना में डूबने पर कृष्ण द्वारा बचाये जाने को अत्यंत बुरा मानते हैं, क्योंकि यदि उस समय उनका लाडला पुत्र उन्हें न बचाता, तो अब यह असह्य वेदना न सहनी पड़ती।[4] उनकी यह असह्य पीड़ा एवं उनका यह अटूट प्रेम उस परिवार के उच्च आदर्श का द्योतक है। इस तरह हरिऔधजी ने भारतीय परिवार के इस सांस्कृतिक आदर्श का अत्यंत सजीवता के साथ निरूपण किया है तथा माता-पिता के असीम स्नेह एवं पुत्र के आदर्श जीवन की अत्यंत मार्मिक झाँकी अंकित की है। भारतीय परिवारों में स्नेह का जैसा अटूट बंधन एवं हृदयों का जैसा अभिन्न संबंध विद्यमान है, वैसा अन्य किसी भी संस्कृति में नहीं दिखाई देता। हरिऔधजी ने परिवार की इसी सांस्कृतिक धारा का वर्णन 'प्रियप्रवास' में करके भारतीय जीवन की अनुपम झाँकी प्रस्तुत की है।

आदर्श समाज—आदर्श परिवार की भाँति 'प्रियप्रवास' में आदर्श समाज का चित्र भी अंकित किया गया है। यह समाज ब्रज के जीवन श्रीकृष्ण का अनन्य प्रेमी है। श्रीकृष्ण के प्रति इतना स्नेह, इतना दुलार, इतना अनुराग एवं इतना [illegible] इस समाज में भरा हुआ है कि जिस समय वे अपने आत्म-

---

१. प्रियप्रवास ५।४४–४५

२. वही ३।२१–२५

३ वही ६।१३-६

४ वही १०।८६-८८

वालो के साथ शाम को गायें चराकर लौटते हैं, सारा समाज काम-काज छोड़कर अपने प्रिय नेता एव उदार बधु के दर्शन के लिए दौड पडता है। आबाल-वृद्ध नर-नारी अपने-अपने घर से निकल पडते हैं और श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी का दर्शन करके अपने जीवन को धन्य समझते हैं, व्रज-वनितायें तो अनिमेष नेत्रो से उनकी छवि देखती हुई पत्थर की मूर्ति सी बन जाती हैं, व्रज के शिशु हर्ष से उछलते हुए उनके चारो ओर इकत्रित हो जाते हैं, युवक-जन रस की निधि लूटते से जान पडते हैं और वयोवृद्ध उस सौंदर्य को निहार कर अपने नेत्रो का फल प्राप्त करते हैं। इस तरह व्रज का सारा समाज श्रीकृष्ण को देखकर हर्ष एव आनद मे विभोर हो जाता है।[1] परन्तु जैसे ही व्रज-प्रदेश मे कस के निमत्रण पर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने का समाचार सुनाया जाता है, वैसे ही यह प्रफुल्लित समाज शोक मे निमग्न होकर अपने जीवन-धन के बारे मे सशकित हो उठता है। श्रीकृष्ण के गमन पर तो ऐसा जान पडता है मानो इस सम्पूर्ण समाज का प्राण ही निकल कर कही जारहा हो। इस समाज की ऐसी दुरवस्था क्यो न हो ? क्योकि श्रीकृष्ण ने अपने अटूट प्रेम, असीम स्नेह एव अथक परिश्रम द्वारा व्रज के समाज को इतना सुसगठित कर लिया था कि वे सभी अपने को एक कुटुम्ब अथवा एक नीड मे रहने वाले प्राणियो के रूप मे मानते थे। उनमे ऐसी एकरूपता स्थापित हो गई थी कि वे सभी शरीर के अवयवो की भाँति अभिन्न हो गये थे। उनके श्रीकृष्ण उनकी आत्मा थे और समस्त व्रज का समाज शरीर था। इसके लिये श्रीकृष्ण ने भी उनके जीवन मे घुलमिल कर पूर्णतया अभिन्नता स्थापित करली थी। इसीलिये तो कालीनाग का वध करते समय जैसे ही श्रीकृष्ण यमुना मे कूदे सारी व्रजभूमि मे हाहाकार मच गया, सारा समाज यमुना के किनारे आकर इकत्रित हो गया और जब तक श्रीकृष्ण वशी बजाते हुए सकुशल ऊपर नही आगये तब तक सभी व्यक्ति किनारे पर खडे रहे।[2] यही बात दावाग्नि, प्रलयकारिणी भीषण वृष्टि, व्योमासुर-वध आदि के अवसर पर भी हुई। श्रीकृष्ण ने समाज की हित-कामना से उनका अत्यत सुन्दर सगठन किया था। उसी का यह परिणाम था कि व्रज की सम्पूर्ण बाधाओ को वे सब मिलजुल कर सुगमता से दूर कर लेते थे। उन्होने समाज को सगठित करने के लिए बचपन से ही प्रयत्न किया था। वे अपने मित्रो, सुहृदो एव बधुओ के साथ खेलते हुए स्वय हार जाते थे

---

१. प्रियप्रवास १।११-२८
२ वही ११।३८-४०

और उन्हें विजयी बनाया करते थे। वन में अपने सखाओं को भूखा देखकर स्वयं पेड़ों पर चढ़कर मीठे फल तोड़-तोड़ कर उन्हें खिलाया करते थे। यशोदाजी उनके लिए वन में बड़े-बड़े सुस्वादु भोजन प्रतिदिन भेजा करती थीं। श्रीकृष्ण उन समस्त व्यंजनों को अपने सखाओं के साथ बैठकर खाया करते थे। नवीन किसलयों अथवा अन्य कोमल पत्तों के खिलौने बनाकर वे अपनी ग्वाल मंडली में बाँटकर उन्हें प्रसन्न बनाया करते थे। कभी-कभी वे सघन वृक्ष की छाया में बैठकर देवता एवं दानवों की कथायें सुनाकर अपने सखाओं को प्रबोधन किया करते थे।[1] इस तरह उन्होंने समाज को एक ऐसी इकाई में परिणत कर दिया था कि वे सभी अपने को सदैव अभिन्न समझा करते थे और श्रीकृष्ण के संकेत पर मर-मिटने को उत्सुक रहा करते थे। इतना ही नहीं सारे समाज में इसी कारण श्रीकृष्ण की सी सच्चरित्रता, सरलता, सहृदयता, सज्जनता एवं उदारता व्याप्त हो गई थी और श्रीकृष्ण के चले जाने पर वे अपने जीवन-धन के गुणगान गाते हुए तथा उनके विरह-जन्य संताप को सहते हुए सदैव श्रीकृष्णमय होकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। अतएव हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' में ब्रज के ऐसे समाज की झाँकी अंकित की है, जो अपार स्नेह एवं असीम प्रेम की मूर्ति बना हुआ है तथा जिसके जीवन में एकता, समता, अनन्यता एवं अभिन्नता के साथ-साथ सांस्कृतिक समरसता पूर्णतया विद्यमान है, जो श्रद्धा एवं विश्वास से परिपूर्ण होने के कारण भेद में भी अभेद एवं अनेकता में भी एकता के दर्शन करता है तथा जिसमें श्रीकृष्ण जैसे समाज के नेता, राधा जैसी समाज-सेविका, गोप जैसे सच्चे हितैषी एवं सुसंगठित समाज-सेवी सैनिक, गोपियाँ जैसी स्नेहमयी सच्चे प्रेम की पुजारिन और सम्पूर्ण लता, वृक्ष, पशु आदि एक ही प्रेम-रंग में लीन दिखाये गये हैं। इस तरह 'प्रियप्रवास' में भारतीय संस्कृति की एकरूपता से परिपूर्ण आदर्श समाज का सजीव चित्रण हुआ है।

अवतारवाद—भारतीय जीवन में अवतारों की कल्पना का भी बड़ा महत्व है। यहाँ पशु एवं मानव आदि सभी रूपों में ईश्वर के अवतीर्ण होने की कल्पना की गई है। ऐसा माना जाता है कि अभी तक दस अवतार हो गये हैं जो कच्छप, मत्स्य, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, कृष्ण आदि के रूप में प्रसिद्ध हैं। हो सकता है कि इनके पीछे मानव के क्रमिक विकास का इतिहास छिपा हुआ हो, क्योंकि पहले जल-जीवों को अवतार माना, फिर

---

1 प्रियप्रवास १३।६४-१०१

का अत्यधिक महत्व स्वीकार किया गया है और यह विचार-धारा विश्व-संस्कृति का एक अखड एव अभिन्न अग है। परन्तु यह ईश्वर-प्रार्थना भारतीय मानवो के तो रग-रग मे व्याप्त है और कष्ट एव आपत्ति के समय तो नास्तिक से नास्तिक व्यक्ति के हृदय से भी ईश्वर के लिए विनम्र विनय अनायास निकलती हुई देखी गई है। अतएव हरिऔधजी ने भारतीय सस्कृति की इस प्रकृष्ट विचार-धारा को 'प्रियप्रवास' मे भी स्थान दिया है। यहाँ पर तृतीय सर्ग मे कस का निमत्रण आते ही माता यशोदा अपने इष्टदेव एव इष्टदेवी को मनाती हुई अत्यत श्रद्धा-भक्ति के साथ प्रार्थना मे निमग्न चित्रित की गई हैं। वे क्रमश. जगदीश्वर एव जगदम्बिका की प्रार्थना करती हुई अपने पुत्र के लिए कुशल-मगल की कामना करती हैं और अत्यत दैन्य एव लघुता प्रकट करती हुई श्रीकृष्ण के ऊपर आने वाले समस्त सकटों के निवारण के लिए याचना करती हैं।[1] उनकी इस प्रार्थना मे एक आर्त्त प्राणी की सी करुण पुकार एव दुर्बल व्यक्ति का सा दु.ख-दैन्य अत्यधिक मात्रा मे भरा हुआ है। इसके साथ ही यहाँ उस अटल विश्वास के भी दर्शन होते हैं, जो ईश्वर-प्रार्थना का मूल है और जिसके आधार पर एक अशक्त एवं दुर्बल प्राणी उस अनत शक्ति-सम्पन्न विभु का सहारा प्राप्त करने की इच्छा करता है। अतः हरिऔधजी ने भारतीय सस्कृति की इस प्रमुख विशेषता को भी अकित करके 'प्रियप्रवास' मे भारतीय जीवन की अन्तर्बाह्य समस्त विशेषताओ को चित्रित करने का प्रयास किया है।

व्रत-पूजा—भारत के धार्मिक जीवन मे व्रत-पूजा का भी अत्यधिक महत्व है। यहाँ यह विश्वास प्रचलित है कि विभिन्न व्रतो के करने से विभिन्न फलो की प्राप्ति होती है। भले ही इस व्रत-विधान का सबध शरीर को स्वस्थ एव हृष्ट-पुष्ट रखने से हो, परन्तु धार्मिक रूप देकर इन व्रत-उपवासो को भी लौकिक एव पारलौकि फल प्रदान करने वाला कहा गया है और यहाँ के पुराणो एव अन्य धर्म-ग्रथो मे इनकी महत्ता एव विशिष्टताओ का अत्यत विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। यही बात पूजा आदि के बारे मे भी है। प्राय. यहाँ तुलसी, दुर्गादेवी, भगवती आदि की पूजा का विधान प्रचलित है और यह कहा जाता है कि इनकी पूजा-अर्चना आदि के कारण कुमारी बालाओ को मनोवाछित पति की प्राप्ति होती है। भारतीय संस्कृति की इस गहन विश्वास-मयी विचारधारा को भी हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे स्थान दिया है।

---

१. प्रियप्रवास ३।४८-८५

इसीलिये यहाँ कवि ने कुमारी राधा को पति रूप में श्रीकृष्ण की प्राप्ति के हेतु विधि-विधान के साथ देवी भगवती की पूजा-अर्चना करते हुए अंकित किया है, अन्य देवी-देवताओं को मनाते हुए बताया है और बहुत से व्रत उपवास–आदि को रखते हुए चित्रित किया है।[1] इससे सिद्ध है कि अभीष्ट पति की प्राप्ति के लिए व्रत एवं पूजा का जो विधान कुमारियों के लिए यहाँ के सांस्कृतिक जीवन में प्रचलित है, उसकी ओर संकेत करते हुए कवि ने अपने काव्य में भारतीय संस्कृति की विभिन्न विशेषताओं को अंकित करने की चेष्टा की है।

तीर्थ-स्थानों का महत्व—भारतीय संस्कृति ने 'जननी-जन्मभूमि' के प्रति अगाध प्रेम एवं अगाढ़ श्रद्धा स्थापित करने के लिए तथा देश-प्रेम की उत्कट भावना जाग्रत करने के लिये भारत के तीर्थ-स्थानों का अत्यधिक महत्व बताया गया है। इन तीर्थों में नदी, नद, वन, पर्वत, नगर, सिन्धु आदि प्रकृति के अनन्त सौंदर्यशाली अवयव सम्मिलित हैं। साथ ही वे शुभस्थान भी तीर्थ माने जाते हैं, जहाँ पर अवतारी पुरुषों ने अथवा भगवान् ने अवतार लेकर क्रीड़ायें की हैं। इसी कारण यहाँ के धर्म-ग्रंथों में अन्यान्य तीर्थों की प्रशंसा की गई है और प्रत्येक भारतवासी नित्यप्रति अपनी प्रार्थनाओं में गंगा, यमुना, गोदावरी, सरस्वती, नर्मदा, सिंधु, कावेरी—इन सात नदियों तथा अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, कांची, अवन्तिका और द्वारावती नामक सात पवित्र मोक्षदायिनी नगरियों का नाम लेते हैं,[2] जिनसे एक ओर तो अपने पुनीत तीर्थस्थानों के प्रति प्रगाढ़ प्रेम एवं अगाध विश्वास प्रकट होता है और दूसरी ओर समूचे भारत का मानचित्र भी उनके सामने प्रस्तुत रहता है। यहाँ पर मथुरा, गोवर्द्धन, वृन्दावन, महावन, गोकुल आदि तीर्थों का भी अत्यधिक महत्व बताया गया है, क्योंकि इन स्थानों पर भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी पुनीत क्रीड़ायें की थीं। इस समस्त ब्रज-प्रदेश को वैष्णव सम्प्रदाय में तो गोलोक-धाम माना जाता है, जहाँ उनके पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण

---

१ सविधि भगवती को आज पूजती हूँ।
बहु-व्रत रखती हूँ देवता हूँ मनाती।
मम पति हरि होवें चाहती मैं यही हूँ।
पर विफल हमारे पुण्य भी हो चले हैं। ४।३६

२. अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैते मोक्षदायिका।

मे जन्मोत्सव मनाने की पद्धति का अत्यत रमणीकता एव मनोमोहकता के साथ उल्लेख किया है। आपने लिखा है कि जब गोकुल मे श्रीकृष्ण के जन्म का उत्सव मनाया गया, उस समय प्रत्येक घर के द्वार पर सुदर वदनवार बाँधे गये। नवीन आम्र-पल्लवो के श्रेष्ठ तोरण प्रत्येक घर के आँगन मे बनाये गये। प्रत्येक घर, गली, रास्ता, मदिर, चौराहे तथा वृक्षो पर ध्वजायें लगाई गईं। गोकुल की समस्त दूकानें विविध प्रकार से सजाई गईं। प्रत्येक द्वार पर जल से भरे हुए घडे रखे गये। समस्त गलियो को फूलो से सुसज्जित किया गया। सभी चौराहे सजाये गये। सारी गायें वस्त्र, आभूषण और मोर पख से सुशोभित की गईं। सारी ग्वालमडली विविध वस्त्रो एव अलकारो से सुसज्जित हुई। प्रत्येक घर मे मजुल मगलगान होने लगे। याचको को प्रचुर धन एव रत्न प्रदान किये गये और नद जी के घर मे गाने बजाने तथा नाचने की धूम मच गई।[1] कवि के इस वर्णन मे भारतीय सस्कृति की अत्यत पुष्ट परम्परा का उल्लेख हुआ है। भारत मे प्राय सर्वत्र जन्मोत्सव इसी तरह मनाया जाता है। साथ ही पुत्रोत्सव को यहाँ अत्यधिक महत्व भी दिया जाता है, क्योकि भारतीय सस्कृति मे यद्यपि कन्या का भी पर्याप्त महत्व है, तथापि कन्या की अपेक्षा पुत्र के जन्म को अधिक गौरव एव महत्व दिया जाता है। इस तरह कवि ने भारत की सास्कृतिक परम्परा की ओर सकेत करते हुए पुत्र जन्म एव जन्मोत्सव का अत्यत सजीव वर्णन किया है।

नवागतुक तथा जुलूस आदि के देखने का कौतूहल—भारतीय सस्कृति मे यह एक अन्यत प्राचीन परम्परा सी दिखाई देती है कि यहा के नर-नारी अपने नगर मे आये हुए किसी नवीन व्यक्ति अथवा किसी जुलूस आदि को देखने के लिए अत्यत कौतूहल एव आश्चर्य मे डूबकर अपने-अपने घर से निकल पड़ते हैं। यह विशेषता यहाँ की नारियो मे अधिक दिखाई देती है। क्योकि अन्य भारतीय ग्रथो मे भी इसके उल्लेख मिलते हैं। जैसे, महाकवि कालिदास ने रघुवश के सप्तम सर्ग मे युवराज अज के विदर्भ नगर मे प्रवेश करने पर वहाँ की नारियो को अत्यत उत्सुकता के साथ अपने-अपने केश-प्रसाधन आदि कार्यो को छोड-छोडकर गवाक्षो मे से अज को देखने के लिए खडी हुई अकित किया है और लिखा है कि कोई स्त्री तो अपना आधा ही केश-बधन करके आ खडी हुई, कोई खुली माला के साथ कोई शिथिल नीवी-बध के साथ और कोई खुली करधनी के साथ आ खडी हुई। कोई स्त्री

---

१. प्रियप्रवास ८।६–१६

महावर लगा रही थी, परन्तु अज को देखने के लिए शीघ्र दौड़कर आने से गवाक्ष तक के सम्पूर्ण मार्ग को महावर से रंजित करती हुई आ खड़ी हुई इत्यादि।[1] यही बात अश्वघोष-कृत 'बुद्धचरित' नामक महाकाव्य में मिलती है। वहाँ भी यही लिखा है कि जिस समय सिद्धार्थ का जुलूस प्रथम बार नगर में होकर निकला, उस समय नगर की अधिकांश स्त्रियाँ अत्यंत उत्सुक होकर अपनी-अपनी अट्टालिकाओं में आकर खड़ी हो गईं और अपना अपूर्ण शृंगार किये हुए ही कुमार सिद्धार्थ का जुलूस देखने लगीं। ऐसा ही वर्णन महाकवि बाण द्वारा रचित 'कादम्बरी' में मिलता है। वहाँ पर युवराज चन्द्रापीड के नगर-प्रवेश के अवसर पर नगर की सारी स्त्रियाँ अत्यंत उत्सुक होकर अपने-अपने कार्यों को अधूरा छोड़कर ही गवाक्षों, अट्टालिकाओं एवं छतों पर आ खड़ी होती हैं और क्षण भर में ही समस्त प्रासाद नारीमय जैसे हो जाते हैं। महाकवि बाण का यह वर्णन अत्यंत मार्मिक एवं चित्ताकर्षक है। कवि ने स्त्रियों के परस्पर संलाप द्वारा उनकी जिस उत्सुकता, देखने की तीव्र आकांक्षा, उनकी सम्भ्रमावस्था, स्पृहा, पारस्परिक परिहास, ईर्ष्या आदि का जो चित्र अंकित किया है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।[2] गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने 'रामचरितमानस' में जनकपुर के अंतर्गत राम लक्ष्मण के घूमने पर वहाँ के नगर-निवासियों की उत्सुकता, आतुरता एवं दर्शनाकांक्षा का वर्णन करते हुए लिखा है कि सभी नर-नारी अपने-अपने काम-धाम छोड़कर सहज ही सुन्दर दोनों राजकुमारों को देखने के लिए आ जुड़े हुए। युवतियाँ अपने-अपने घरों के झरोखों से राम के अनुपम रूप को देखती हुई तथा परस्पर बातें करती हुई उनके सौंदर्य की सराहना करती थीं, उनके वन-गमन की प्रशंसा करती थीं और प्रसन्न होकर जहाँ-तहाँ उन पर फूलों की वर्षा भी करती थीं।[3] हरिऔध जी ने भी इस सांस्कृतिक विशेषता का उल्लेख 'प्रियप्रवास' में किया है। वहाँ पर मथुरा से जैसे ही उद्धव गोकुल में आते हैं, वैसे ही उनके रथ को आता हुआ देखकर गोकुल के सभी नर-नारी अपने-अपने कार्यों को छोड़कर उन्हें देखने के लिए आतुर होकर उनके समीप दौड़े चले आते हैं। जो अपने पशुओं की प्रतीक्षा कर रहे थे, वे प्रतीक्षा छोड़कर तथा जो गायें बाँध रहे थे, वे गायों का बाँधना छोड़कर उन्हें देखने के लिए

---

१. रघुवंश, ७।५-११

२. कादम्बरी, पूर्वभाग, पृ० १८५–१८८

३. बालकाण्ड, दोहा २१९ से २२३ तक।

गोस्वामी तुलसीदास ने भी लिखा है कि "होनहार वड़ी प्रवल होती है। जव जैसा होना होता है, उसी के अनुसार सहायता मिल जाती है और होनहार स्वय किसी के पास नही आती, अपितु उसी व्यक्ति को वहाँ ले जाती है, जहाँ उसके लिए कुछ होना होता है।"[1] इसी भाग्य तथा दैव के बारे मे पचतन्त्र मे भी लिखा है कि "यदि दैव रक्षा करता है तो अरक्षित वस्तु की भी रक्षा हो जाती है और यदि दैव किसी का विनाश करना चाहता है तो सुरक्षित वस्तु का भी विनाश हो जाता है। इसीलिए एक अनाथ व्यक्ति जगल मे अरक्षित होकर भी जीवित रहा आता है और अनेक प्रयत्न करने पर भी एक व्यक्ति घर मे जीवित नही रहता।"[2] भारतीय सस्कृति की इसी विशेषता को दिखाने के लिए हरिऔधजी ने स्थान-स्थान पर इसका उल्लेख किया है। यहाँ हम 'प्रियप्रवास' से कुछ उदाहरण दे रहे हैं, जिनमे विधि की विडम्वना, दैव की प्रवलता, भाग्य की महानता, होनहार की अटलता, भाल के लेख की अमिटता आदि की ओर सकेत करते हुए कवि ने भावी या दैव अथवा भाग्य-वादिता सवधी विचारधारा को अकित किया है।—

(१) वह कव टलता है भाल मे जो लिखा है। ४।३५

(२) दिन , फल जव खोटे हो चुके हैं हमारे।
तव फिर सखि ! कैसे काम के वे वनेंगे। ४।४६

(४) विडम्वना है विधि की वलीयसी।
अखडनीया-लिपि है ललाट की।
भला नही तो तुहिनाभिभूत हो।
विनष्ट होता रवि-बंधु-कज क्यो। १३।२१

(४) हाँ ! भावी है परम-प्रवला दैव-इच्छा-वली है।
होते-होते जगत कितने काम ही हैं न होते। १४।३३

स्वजाति प्रेम एव राष्ट्रीयता—भारतीय सस्कृति मे अपनी जाति एव अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम का भी अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। यहाँ अत्यत प्राचीनकाल मे ही अपने समाज एव अपने राष्ट्र की सुव्यवस्था करने के लिए समाज को चार भागो मे विभक्त किया गया। इस विभाजन का आधार

---

१. होनहार भवितव्यता, तैसो मिलै सहाय।
आपुन आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लेजाय।—तुलसी

२ अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षित सुरक्षित दैवहत विनश्यति।
जीवत्यनाथो विपिनोऽप्यरक्षित कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति॥

श्रम तथा कर्म था। उस आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र नामक चार भागों में सारा समाज विभक्त था और प्रत्येक वर्ग या वर्ण अपने-अपने कार्य को सुचारू रूप से करता हुआ समाज को उन्नत एवं समृद्ध बनाने का प्रयत्न करता था। इतना होते हुए भी ये सभी वर्ग या वर्ण एक ही समाज के विभिन्न अंग माने जाते थे, उनमें कोई भेद-भाव नहीं था और वे सभी सामाजिक दृष्टि से समान थे। इसी समानता की घोषणा करने के लिए प्राचीन ग्रंथों में समाज को एक पुरुष मानकर समस्त वर्गों एवं वर्णों को उस पुरुष के अंग कहा गया था। जैसा कि ऋग्वेद में लिखा भी है कि "उस पुरुष का मुख ब्राह्मण था, उसकी भुजायें क्षत्रिय थे, उसकी जंघायें वैश्य थे और उसके चरण शूद्र थे।"[1] इस एकरूपता से परिपूर्ण समाज या जाति अथवा राष्ट्र के प्रति अटूट श्रद्धा एवं अनन्य प्रेम की भावना आदि-काल से ही उत्पन्न हुई और वह आज तक विद्यमान है। साधारणतया एक जाति अथवा एक राष्ट्र से यही अभिप्राय है कि जिस भूभाग पर एक से धार्मिक विचार एवं एक से रहन-सहन वाले ऐसे व्यक्ति रहते हों, जो उस भूमि को अपनी मातृभूमि उस देश को अपना देश, वहाँ के महापुरुषों को अपने पूर्वज एवं वहाँ के रीति-रिवाजों तथा उत्सवों को अपने रीति-रिवाज एवं उत्सव मानते हों। ऐसी ही जाति या ऐसे ही समाज को एक राष्ट्र कहा जाता है और ऐसे ही विचार वाले तथा अपने-अपने कार्यों में लगे रहने वाले व्यक्तियों के बारे में गीता में भी लिखा है कि 'अपने-अपने स्वाभाविक कर्मों में लगा हुआ मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है'[2] तथा 'अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरे के धर्म की अपेक्षा गुण रहित होने पर भी अपना धर्म श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए स्वधर्मरूप कर्म को करता हुआ मनुष्य पाप को प्राप्त नहीं होता।'[3] इस तरह अपने-अपने धर्म एवं कर्तव्य की शिक्षा देते हुए भारतीय ग्रंथों में अपनी जाति एवं अपने राष्ट्र के प्रति प्रेम उत्पन्न किया गया है और

---

१ ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृत.।
ऊरू तदस्य यद् वैश्य पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥
—ऋग्वेद, पुरुषसूक्त, १०।९०।१२

२. स्वे स्वे कर्मण्यभिरत संसिद्धि लभते नरः। १८।४५

३. श्रेयान्स्वधर्मो विगुण. परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥ १८।४७

फिर उसे जल या अन्न जिसकी इच्छा होती थी, उसे प्रदान करता था।[1] इस तरह भारतीय सस्कृति मे चीटी से लेकर सभी प्राणियो के सुख एव हित की कामना से नित्यप्रति किये जाने वाले उक्त पच महायज्ञो का विधान था और सभी व्यक्तियो के हृदयो मे यह भावना नित्यप्रति जाग्रत की जाती थी कि सदैव सभी के कल्याण की कामना करनी चाहिए, सभी प्राणियो के हित से सबधित कार्य करने चाहिए और कभी वैयक्तिक स्वार्थ मे लीन होकर अपने परिवार, समाज या देश का अहित नही करना चाहिए। हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे भी श्रीकृष्ण के ऐसे उज्ज्वल चरित्र का चित्रण किया है, जिसमे 'सर्वभूतहित' की कामना सर्वाधिक है, और जो बाल्यकाल से लेकर अन्तिम क्षणो तक सभी प्राणियो के हित सम्बन्धी कार्यों मे ही लीन रहे आते हैं। श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए ये उद्‌गार उनकी 'सर्वभूतहित' सम्बन्धिनी भावना को कितनी स्पष्टता के साथ व्यक्त कर रहे हैं —

"प्रवाह होते तक शेष-श्वास के। स-रक्त होते तक एक भी शिरा।
स-शक्त होते तक एक लोम के। किया करूँगा 'हित सर्वभूत' का।११।२७

इतना ही नही हरिऔधजी के विचार से तो ससार मे वही व्यक्ति सच्चा आत्मत्यागी है जिसे 'जगत-हित' या लोक-सेवा का भाव ही सर्वाधिक प्रिय है। जैसा आपने आगे चलकर लिखा भी है —

"जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल मे आत्मत्यागी वही है।१६।४२

यही कारण है कि 'प्रियप्रवास' की राधा अपने प्राणप्रिय श्रीकृष्ण को जगत-हित अथवा सर्वभूतहित मे लीन देखकर कभी यह स्वप्न मे भी कल्पना नही करती कि वे लौटकर गोकुल आवें और मेरे पास रहे, अपितु वह यही चाहती है कि—

"प्यारे जीवें जग-हित करें गेह चाहे न आवें"

इन शब्दो मे कवि ने लोक-हित या सर्वभूतहित को कितना महत्व दिया है, उसके ऊपर प्रणय को भी न्योछावर होता हुआ दिखाया है और एक प्रेमिका के जीवन मे भी आमूल-चूल परिवर्तन होते हुए अकित किया है, क्योकि श्रीकृष्ण की इस लोक-हित एवं सर्वभूतहित की भावना से अनुप्रेरित होकर राधा भी अपने जीवन मे लोक-हित को महत्व देने लगती है और

---

१ भारतीय सस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी, पृ० ९०-९५

आजीवन सर्वभूतहित मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है। जैसा कि कवि ने लिखा भी है —

> आटा चीटी विहग गण थे वारि औ अन्न पाते।
> देखी जाती सदय उनकी दृष्टि कीटादि मे भी।
> पत्तो को भी न तरु-वर के वृथा तोडती थी।
> जी से वे थी निरत रहती भूत-सम्वर्द्धना मे। १७।४८

अत यह कहा जा सकता है कि हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की इस उज्ज्वल एव उच्चतम भावना को स्थान देकर न केवल भारतीय जीवन की उज्ज्वल झाँकी प्रस्तुत की है, अपितु विश्व भर को यह शिक्षा भी दी है कि मानव का कल्याण इसी भावना को अपनाकर हो सकता है।

लोक-सेवा —'प्रियप्रवास' को भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल प्रतीक बनाने के लिए कवि ने इसमे भारतीय सस्कृति की उन सभी विशेषताओ को सर्वाधिक महत्व देने की चेष्टा की है, जो भारतीय सस्कृति की प्रमुख अग हैं, जिनके अपनाने के कारण ही भारत विश्व-गुरु की उपाधि से विभूषित था और जिनके कारण आज भी वह विश्व मे आदर एव प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है। उनमे से लोक-सेवा का भाव भी एक है। यहाँ इस सेवा-भावना को जाग्रत करने के लिए ही प्रारम्भ मे चार वर्णों की योजना की गई थी जिनमे से ब्राह्मण वर्ण अपनी बुद्धि एव ज्ञान के द्वारा समाज को सदाचार एव विवेक की शिक्षा देता हुआ समाज की सेवा करता था, क्षत्रिय वर्ण अपनी शारीरिक शक्ति के द्वारा शत्रुओ से देश की रक्षा करता हुआ समाज की सेवा करता था, वैश्य वर्ण कृषि आदि कार्य करता हुआ अन्न, धन आदि का उपार्जन करके समाज की सेवा करता था और शूद्र वर्ण समाज के व्यक्तियो की सेवा-सुश्रूषा करता हुआ इस कार्य को पूर्ण करता था। सभी प्राणी सेवा-भावना से अनुप्राणित होकर समाज का कार्य करते थे। इतना ही नही हमारे समाज मे जीवन के जिन चार पडावो की योजना की गई थी, उनमे भी लोक-सेवा को सर्वोपरि समझा गया था। जैसे ब्रह्मचर्य आश्रम, जीवन का प्रथम पड़ाव था, जिसमे समाज का एक व्यक्ति गुरुकुल मे जाकर गुरु की सेवा करता हुआ विद्या प्राप्त करता था। दूसरा पडाव गृहस्थाश्रम था, जिसमे नित्य पच महायज्ञ करता हुआ गृहस्थी चीटी से लेकर मानव तक सभी प्राणियो के भरण-पोषण की व्यवस्था करता था और बडी सहृदयता एव सहानुभूति के साथ अपने समाज की अन्न, धन आदि से सेवा करता था। प्राय ब्रह्मचारी, सन्यासी अथवा

अपाहिज व्यक्ति की भोजन संबंधी सेवा का भार गृहस्थी पर ही होता था। तीसरा पडाव वानप्रस्थ आश्रम माना गया था, जिसमे प्रवेश करके एक व्यक्ति समाज के कोलाहल से दूर जगल मे अपनी कुटी बनाकर रहता था और अपने प्रौढ अनुभव एव उन्नत विवेक के द्वारा समाज के गृहस्थियो, वच्चो, नारियो आदि को सदाचार, सच्चरित्र एव सद्व्यवहार की शिक्षा देता हुआ समाज की सेवा का कार्य किया करता था। इन वानप्रस्थो के आश्रमो मे जाकर राजा, महाजन, युवराज, युवक, युवती आदि अपनी-अपनी समस्याओ का समाधान प्राप्त किया करते थे और जीवन की जटिल ग्रन्थियो को सुलझाकर ये वानप्रस्थी लोग समाज मे सतुलन स्थापित करने की चेष्टा किया करते थे। इस तरह वानप्रस्थियो के आश्रम आध्यात्मिकता के केन्द्र बन जाते थे और अपने सादा जीवन एव उच्च विचारो द्वारा वे समाज की सेवा मे ही अपना जीवन व्यतीत करते थे। चौथा पडाव सन्यासाश्रम कहलाता था। इस आश्रम मे पहुँचकर समाज के व्यक्ति का कार्य अब केवल एक समाज या एक देश की ही सेवा करना न था, अपितु अब वह सम्पूर्ण ससार की सेवा मे लग जाता था और परमात्मा के चिंतन मे लीन होकर नि स्वार्थ एव निष्काम भाव से प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा को अपना लक्ष्य बना लेता था। इस तरह हमारे यहाँ के प्राचीन ऋषियो ने इस 'आश्रम-व्यवस्था' को ऐसा बनाया था कि एक आश्रम के बाद दूसरे आश्रम मे प्रवेश करता हुआ व्यक्ति स्वार्थ की एक तह को उतारता जाता था, यहाँ तक कि अन्तिम आश्रम मे पहुँचते-पहुँचते उस पर स्वार्थ की एक तह भी बाकी नही रह जाती थी, भीतर से शुद्ध-नि स्वार्थभाव सूर्य के प्रचण्ड प्रकाश की तरह चमक उठता था। "सन्यासी कौन होता था ? सन्यासी वह था जो कोढ़ियो और अपाहिजो को देखकर अपने बदन के कपडे से उनकी मरहम-पट्टी करता था। सन्यासी वह था, जो रोती-कलपती विधवाओ के पास बैठकर उनके आँसुओ मे अपने आँसू बहाता था। सन्यासी वह था जो लूलो और लँगडो को देखकर उन्हे अपने हाथ का सहारा देता था। ससार के बोझ को अपना बोझ, ससार के दु ख को अपना दु ख समझकर चिन्ता करने वाले सन्यासी आज नही रहे, तो भी सन्यास आश्रम का आदर्श यही था, इस आश्रम की मर्यादा यही थी।"[१]

हरिऔध जी ने इसी लोक-सेवा की भावना को 'प्रियप्रवास' मे अत्यत सजीवता के साथ अकित किया है। इसी कारण यहाँ चरित्रनायक श्रीकृष्ण

---

१ आर्य-सस्कृति के मूल तत्व, पृ० १६७

बचपन से ही प्राणिमात्र की सेवा करने मे लीन रहे आते थे और सदैव रोगी, विपद्-ग्रस्त एव असहाय प्राणियो की सेवा करते हुए वे सदैव व्रज मे आनद एव सुख का सचार किया करते थे। जैसा कि गोप-गण उनकी प्रशसा करते हुए प्राय कहा भी करते थे —

> "रोगी दुखी विपद-आपद में पडो की।
> सेवा सदैव करते निज-हस्त से थे।
> ऐसा निकेज व्रज मे न मुझे दिखाया।
> कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें। १२।८७

इतना ही नहीं वे इसी लोक-सेवा से अनुप्रेरित होकर गोकुल छोडकर मथुरा चले जाते है और अपने प्रिय सखा, स्नेहमयी माता, अन्यन्य प्रेमी गोपियो तक को छोड देते हैं तथा इसी लोक-सेवा के कारण फिर वे मथुरा को भी छोडकर द्वारिका मे जा बसते हैं। उनको इस सेवा-भावना का प्रभाव राधा पर भी पडता है। 'प्रियप्रवास' की चरित्रनायिका राधा भी इस सेवा-भाव को अपना मूल-मत्र बना लेती है और वह भी वृद्ध रोगी एव आपत्ति-ग्रस्त प्राणियो की सेवा करती हुई व्रज-भूमि मे देवी के पद को प्राप्त कर लेती है। जैसाकि हरिऔध जी ने लिखा भी है —

> "सलग्ना हो विविध कितने सान्त्वना-कार्य मे भी।
> वे सेवा थी सतत करती वृद्ध रोगी जनो की।
> दीनो, हीनो, निबल, विधवा आदि को मानती थीं।
> पूजी जाती व्रज-अवनि मे देवियो सी अत थीं। १७।४६

इस चित्रण का मूल कारण यह है कि हरिऔध जी यह मानते थे कि ससार मे मनुष्य राज्याधिकार या धन-द्रव्य आदि के कारण अत्यत मान तो अवश्य प्राप्त कर सकता है, परन्तु ससार मे उसी की पूजा होती है जो व्यक्ति नि.स्वार्थ भाव से प्राणियो के हित तथा 'लोक-सेवा' मे लीन रहता है।[1] इतना ही नहीं हरिऔध जी ने प्राणियो की सेवा से उत्पन्न सुख को तो गगाजी के तुल्य बताया है।[2] इसीलिए कवि ने भारतीय सस्कृति की उक्त

---

१ भू मे सदा मनुज है बहु-मान पाता।
राज्याधिकार अथवा धन-द्रव्य-द्वारा।
होता परन्तु वह पूजित विश्व मे है।
निस्वार्थ भूत-हित औ कर लोक-सेवा।—प्रियप्रवास १२।९०

२ प्राणी-सेवा जनित सुख की प्राप्ति तो जह्नुजा है। १६।४३

दोनो विशेषताओ को यहाँ सर्वाधिक तन्मयता एव सजीवता के साथ अकित किया है।

सात्विक कार्यों का महत्व—भारतीय सस्कृति मे कर्म का सिद्धान्त अत्यत महत्वपूर्ण है। यहाँ पर मानव को सौ वर्ष तक कर्म करते हुए ही जीने की इच्छा करने की सलाह दी गई है।[1] साथ ही यह भी बतलाया गया है कि हमे सदैव कर्म मे ही लगे रहना चाहिये, कभी उसके फल की इच्छा नही करनी चाहिए।[2] परन्तु कर्मों का विवरण देते हुए यहाँ तीन प्रकार के कर्म बतलाये गये हैं, जो सात्विक, राजस और तामस कहलाते हैं। इनमें से जो कर्म शास्त्रविधि से नियत किया हुआ तथा कर्त्तापन के अभिमान से रहित फल को न चाहने वाले पुरुष द्वारा रागद्वेष के बिना किया जाता है, उसे सात्विक कर्म कहते हैं।[3] दूसरे जो कर्म बहुत परिश्रम से युक्त होता है और फल को चाहने वाले अहकारी पुरुष द्वारा किया जाता है, वह राजस कहलाता है।[4] और तीसरा, जो कर्म परिणाम, हानि, हिंसा और सामर्थ्य को न विचार कर केवल अज्ञान से आरम्भ किया जाता है, वह तामस कर्म कहलाता है।[5] इन तीनो कार्यों के बारे मे यह बताया गया है कि जो जैसा कार्य करता है, वह वैसा ही फल अपने लौकिक एव पारलौकिक जीवन मे प्राप्त करता है। इसी कारण यहाँ सर्वाधिक महत्व सात्विक कार्यों को दिया गया है, क्योकि राजस और तामस कार्यों से तो मानव को राग-द्वेष आदि से परिपूर्ण अनेक दु ख एव यातनायें सहन करनी पडती हैं, जब कि सात्विक कार्यों के करने से वह इस लोक मे आनद एव सुखो को भोगता हुआ परलोक मे भी आनद एव सुख प्राप्त करता है। भारतीय सस्कृति के इसी सिद्धान्त को चित्रित करने के लिए हरिऔधजी ने सात्विकी वृत्ति से सम्पन्न सात्विकी कार्यों की भूरि-भूरि प्रशसा की है और श्रीकृष्ण द्वारा राधा के समीप भेजे

---

१. कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा.। यजु० ४०।२

२ कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन। गीता, २।४७

३. नियत सगरहितमरागद्वेषत कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्विकमुच्यते। गीता, १८।२३

४ यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदहृतम्॥ गीता, १८।२४

५ अनुबध क्षय हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते॥ गीता, १८।२५

गये सदेश मे स्पष्ट ही यह घोषित किया है कि ससार मे स्वार्थ से परे होकर सम्पूर्ण प्राणियो के कल्याण के लिए जो-जो सात्विक कार्य किये जाते हैं, वे सदैव श्रेयस्कर होते हैं अर्थात् उनके द्वारा न केवल अन्य प्राणियो का ही कल्याण होता है, अपितु अपना भी कल्याण होता है।[1] इतना ही नही आगे चलकर आपने तामसी, राजसी एव सात्विकी वृत्ति वाले व्यक्तियो का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट बताया है कि तामसी वृत्ति वाला व्यक्ति सदैव पर-पीडा, छिद्रान्वेषण, मलिनता आदि से भरे हुए कार्य किया करता है और राजसी वृत्ति वाला व्यक्ति नाना प्रकार के भोगो मे लीन होकर अपनी वासना की पूर्ति के लिये स्वार्थ पूर्ण कार्य किया करता है जब कि सात्विकी वृत्ति वाला व्यक्ति सदैव निष्काम भाव से ससार के लिये सुखदायक कार्य किया करता है, वह भोगो मे लीन नही होता और उसके हृदय मे ससार के सभी प्राणियो के प्रति अत्यत प्रेम विद्यमान रहता है। इसलिए सात्विक वृत्ति वाले प्राणी ही ससार मे आत्मत्यागी तथा श्रेष्ठ होते हैं।[2] इस तरह हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे सात्विक कार्यों की प्रेरणा देते हुए यह सकेत किया है कि मानव को सदैव विश्व-प्रेम मे लीन होकर प्राणिमात्र को सुखी करने का प्रयत्न करना चाहिए और औरो को सुखी देखकर स्वय सुखी होने की चेष्टा करनी चाहिए। भारतीय सस्कृति की इसी विशेषता को आगामी कवियो ने भी अपनाया है। कामायनीकार प्रसाद ने भी इसी बात पर सर्वाधिक जोर दिया है।[3] अत भारतीय सस्कृति मे कर्म करने की जो प्रेरणा दी गई है,

---

१ श्रेय कारी सतत दयिते सात्विकी-कार्य होगा।
जो हो स्वार्थोपरत-भव मे सर्व-भूतोपकारी। १६।४६

२ जो होता है हृदय तल का भाव लोकोपतापी।
छिद्रान्वेषी, मलिन, वह है तामसी-वृत्ति-वाला।
नाना भोगाकलित, विविधा-वासना-मध्य-डूबा।
जो है स्वार्थाभिमुख वह है राजसी-वृत्तिशाली।
निष्कामी है भव-सुखद है और है विश्व-प्रेमी।
जो है भोगोपरत वह है सात्विकी-वृत्ति-शोभी।
ऐसी ही है श्रवण करने आदि की भी व्यवस्था।
आत्मोत्सर्गी, हृदय-तल की सात्विकी-वृत्ति ही है। १६।९९-१००

३. औरो को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत करलो सबको सुखी बनाओ। कामायनी, पृ० १३२

कहने की आवश्यकता नही कि हरिऔध जी ने भी हिंसा एव अहिंसा के वारे मे अपने ऐसे ही विचार व्यक्त किये हैं, जो उक्त भारतीय विचार धारा से पूर्णतया मेल खाते हैं तथा जो भारतीय सस्कृति के पूर्णतया अनुकूल हैं। इसीलिये 'प्रियप्रवास' मे आपने लिखा है कि जव व्योमासुर आकर व्रज के ग्वाल-वाल एव गायो को सताता रहता है और श्रीकृष्ण उसकी दुष्ट-प्रवृत्ति को सुधारने की चेष्टा करते-करते थक जाते हैं, तव वे एक दिन उससे यह कह उठते हैं—"दुष्ट ! तेरे सुधार की समस्त चेष्टाये अव व्यर्थ हो गई हैं, क्योकि तूने अपनी कु-प्रवृत्ति का परित्याग नही किया है। इसलिये अव ससार के कल्याण के लिये तेरा वध करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है।' यह मैं जानता हूँ कि ससार मे 'हिंसा अवश्य ही अत्यत निदनीय कर्म है, परन्तु कभी-कभी हिंसा करना भी कर्त्तव्य हो जाता है, जिससे घर मे सर्प आदि अधिक न हो और पृथ्वी पर पापी अधिक न वढें। वैसे तो मनुष्य ही क्या, एक चीटी का वध करना भी पाप है, परन्तु एक पिशाच कर्म करने वाले पापी का वध करने मे कोई पाप नही है। जो मनुष्य समाज का उत्पीडक है, धर्म का द्रोही है, अपनी जाति का विनाशक है, ऐसे मनुष्य द्रोही एव दुरतपापी को कभी क्षमा नही करना चाहिये, वरच उसका वध करना ही श्रेयस्कर होता है, क्योकि दुष्ट के लिए क्षमा कभी भली नही होती। समाज को पीडा पहुँचाने वाला व्यक्ति तो सदैव दडनीय माना गया है, क्योकि यदि कुकर्म करने वाले व्यक्तियो की रक्षा की जायेगी, तो वे सदैव सुकर्म करने वालो को सकट देते रहेगे।'[1] हरिऔध जी के उक्त विचारो मे स्पष्ट ही हिंसा को निदनीय वताया गया है, परन्तु पापियो, दुष्टो एव समाज उत्पीडको की हिंसा करना भी 'अहिंसा' ही है। इस तरह हरिऔध जी ने भारतीय सस्कृति की अहिंसा सम्वन्धी विचार-धारा को अत्यत सजीवता के साथ 'प्रियप्रवास' मे अकित किया है।

सत्य—जीवन के पडाव मे अत्यधिक सहायता देने वाली दूसरी विचारधारा का नाम 'सत्य' कहकर अभिहित किया गया है। भारतीय सस्कृति जैसे चारो ओर फैली हुए हिंसा के अतर्गत अहिंसा को अपनाने की प्रेरणा देती है, वैसे ही सर्वत्र फैले हुए असत्य या अनृत मे से सत्य या ऋत की ओर उन्मुख होने के लिये प्रोत्साहन प्रदान करती है। यहाँ कहा गया है कि उस तपोमय आत्मा से सर्वप्रथम ऋत और सत्य का ही आविर्भाव हुआ

---

१. प्रियप्रवास १३।७६-८१

था ।[1] वेदो मे भी लिखा है कि 'सत्य' मे ही सबसे अधिक आत्मा का प्रकाश विद्यमान रहता है। इसलिये सत्य को देखना आत्मा को देखना है अथवा आत्मा को देखना सत्य को देखना है।[2] इस तरह आत्मा और सत्य दोनो की एकरूपता सिद्ध करते हुए आत्मसाक्षात्कार मे ही सत्य का साक्षात्कार होना बताया गया है। इतना ही नही इसी कारण उपनिषदो मे जाकर ब्रह्म को भी सत्य एव ज्ञान का स्वरूप कहा गया है।[3] इस प्रकार भारतीय सस्कृति मे सत्य को असाधारण महत्व देते हुए उसे जीवन मे अधिक से अधिक अपनाने का आग्रह किया गया है। यहाँ 'मुँह मे राम बगल मे छुरी' वाले असत्य एव आडम्बरपूर्ण जीवन को अपनाने की कभी प्रेरणा नही दी गई। यहाँ के धार्मिक ग्रथ, यहाँ के सत एव यहाँ के मनीषी सदैव 'सत्यवद' कहकर सत्य बोलने का ही आग्रह करते रहे और इसी कारण यह भावना भारतीय सस्कृति का एक उत्कृष्ट अग बनी हुई है।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे भी इस भावना को अत्यधिक महत्व दिया है। यहाँ पर श्रीकृष्ण तो 'सत्य' के ऐसे पुजारी अकित किये गये हैं कि उनको कही भी असत्य का पालन करने वाला अथवा असत् प्रवृत्तियो वाला व्यक्ति दिखाई देता, तो वे उसे समाज के लिये घातक समझकर पहले तो समझाते और यदि नही मानता तो तुरत उसे दूर कर देना ही अच्छा समझते।[4] सत्य मार्ग पर चलने वालो से उन्हे विशेष प्रेम था और जो वे किसी भी प्राणी को असत्य मार्ग का अनुसरणकरते हुए देखते तो तुरत उसे शिक्षा देकर या शासित करके सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न करते थे। इसी कारण उन्होंने कालीनाग, व्योमासुर, अघासुर, कस आदि को शासित किया और इसी कारण जरासध को भी कई बार समझाया था। इतना ही नही साधारण व्यक्तियो मे भी यदि वे यह देखते कि कोई व्यक्ति अत्यत प्रेम के साथ अपने कार्य कर रहा है, तो उन्हे अतीव आनद होता था और जब वे यह देखते कि कोई व्यक्ति अपने विशिष्ट गौरवपूर्ण पद की उपेक्षा करता हुआ अपने कार्य को ठीक

---

१ ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—उपनिषद्

२ तत्त्व पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये—ऋग्वेद

३. सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म—उपनिषद्

४. सुधार-चेष्टा बहु-व्यर्थ हो गई, न त्याग तूने कु-प्रवृत्ति को किया।
अतः यही है अब युक्ति उत्तमा, तुझे बधूँ मैं भय-प्रेम-दृष्टि से।

—प्रियप्रवास १३।७७

ढग से नही करता अथवा असत्य मार्ग पर जा रहा है। तब उन्हें बडी व्यथा होती थी। इसके साथ ही यदि वे किसी व्यक्ति को अपने माता-पिता या गुरुजनो का निरादर करते हुए असत्य मार्ग की ओर उन्मुख होता हुआ देखते, तो वे प्राय खिन्न एव दुखी होकर उस व्यक्ति को शिक्षा-सहित अनेक प्रकार से शासित करते हुए सत्य मार्ग पर लाने का प्रयत्न किया करते थे, जिससे समाज मे असत्य को छोडकर प्राणी सत्य को अपनाने लगें और उनके आचरण मे भी असत्यता न रहे।[1] यही कारण है कि कवि ने श्रीकृष्ण को सत्य का प्रतीक बनाकर यहां अकित किया है। यहां वे 'सच्चे जी से परम-व्रत के व्रती' बने हुए हैं[2] और अपने इस व्रत का पालन करते हुए सतत सत्य मार्ग पर बढते हुए चित्रित किये गये हैं। यही बात राधा के जीवन मे भी दिखाई गई है। वह भी कृष्ण के सत्य मार्ग का अनुसरण करने वाली व्रत की प्रतिमा है। उसके हृदय मे भी निष्काम भाव से छल-प्रपच छोडकर अपनी व्रजभूमि के प्रति सच्चा स्नेह जाग्रत हो जाता है और वह भी सदय-हृदय होकर कृष्ण के बताये हुए सत्य मार्ग पर सदैव बढ़ती रहती है। निस्सदेह ऐसे 'सच्चे स्नेही' भारतीय सस्कृति की अमूल्य निधि हैं और ऐसे सत्य का उद्घाटन करके कवि ने इस सस्कृति की एक प्रमुख विशेषता को काव्य के ताने बाने मे ऐसा चित्रित किया है, जिससे भारतीय सस्कृति की यह विशेषता मूर्तिमान हो उठी है।

अस्तेय—मानव जीवन को उन्नत बनाने वाली तीसरी महत्वपूर्ण विचार-धारा 'अस्तेय' के नाम से पुकारी गई है। 'अस्तेय' शब्द 'अ' और 'स्तेय' से बना है। अपना जो कुछ है उससे सतुष्ट न होकर दूसरे के पास जो कुछ है, उसे हर तरह से हडप लेने की प्रवृत्ति 'स्तेय' या 'चोरी' कहलाती है और ठीक इसके

---

१ होते प्रसन्न यदि वे यह देखते थे।
कोई स्वकृत्य करता अति प्रीति से है।
यों ही विशिष्ट-पद-गौरव की उपेक्षा।
देती नितान्त उनके चित को व्यथा थी।
माता पिता गुरुजनों वय मे बडो को।
होते निरादृत कहीं यदि देखते थे।
तो खिन्न हो दुखित हो लघु को सुतों को।
शिक्षा-समेत बहुधा बहु-शास्ति देते।
—प्रियप्रवास १२।८४-८५

२ प्रियप्रवास १४।२३

विपरीत दूसरे की वस्तु को बलपूर्वक न हड़पकर जो अपनी वस्तु है उसे भी दूसरो की उपयोगी कैसे बनाया जाय, अपनी आवश्यकताओ को घटाकर किसी तरह की फिजूलखर्ची मे न फँसते हुए दूसरो के कल्याण का उपाय सोचना 'अस्तेय' है। भारतीय सस्कृति मे इसे अत्यधिक महत्व दिया गया है। बौद्धो ने अपने पचशील मे, जैनो ने अपने नियमो मे और मनुस्मृति मे भी यम-नियमो मे इसे स्थान दिया गया है। साधारण शब्दो मे सभी प्रकार की चोरी के त्याग को अस्तेय कह सकते हैं। मानव की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह काम-चोर बनकर अकर्मण्यता की ओर बढ़ना अच्छा समझता है, धन-चोर होकर दूसरो के धन को अच्छे और बुरे सभी ढगो से अपने पास सचित करना चाहता है और व्यवहार-चोर होकर मन मे कुछ और आचरण मे कुछ और ही किया करता है। इस तरह क्या धर्म, क्या समाज, क्या राजनीति और क्या अन्य क्षेत्र सर्वत्र चोरी का वातावरण फैल रहा है। इसी कारण भारतीय सस्कृति मे इस वातावरण को शुद्ध करने के लिए, मानव को ऊपर उठाने के लिए और समाज मे सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए इस 'अस्तेय' की भावना का प्रचार किया गया है।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे इस 'अस्तेय' सम्बन्धी विशेषता की ओर भी सकेत किया है। यहाँ कवि ने कस जैसे पापी, दुराचारी एव क्रूर शासक तथा उसके सहायको का वर्णन करते हुए पहले 'स्तेय' वाले अथवा समाज एव देश मे सभी प्रकार की चोरी करने वाले व्यक्तियो की ओर सकेत किया है, क्योकि ये सभी प्राणी धन, जन, धान्य आदि की चोरी करके अपने कोष को भरने के प्रयत्न मे ही सदैव लगे रहते थे और समाज को उत्पीडित करते हुए व्रज के प्राणियो का हर तरह से शोषण किया करते थे। कहीं कालीनाग सताता था, तो कही केशी तग करता रहता था। कहीं व्योमासुर बैलो, गायो या बछडो की चोरी किया करता था,[1] तो कहीं अघासुर आदि उपद्रव मचाया करते थे। इस तरह सम्पूर्ण व्रजभूमि मे प्रवचना, छल-कपट एव धूर्तता के साथ छीना-झपटी चल रही थी। ऐसे दूषित वातावरण को ठीक करने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अपना सर्वस्व व्रज के लिये न्योछावर कर दिया, समाज के इन चोरो को समाप्त करके व्रज मे सुख और शान्ति की स्थापना की ओर आत्मोत्सर्ग करते हुए इस 'अस्तेय' का पूर्णरूपेण पालन करके दिखा

१ कभी चुराता वृष-वत्स-धेनु था।
कभी उन्हें था जल-बीच बोरता। १३।७०

दिया। उनके आचरणो, उनके शुभकार्यों एव उनके व्यवहारो ने 'प्रियप्रवास' मे यह स्पष्ट कर दिया है कि जीवन का आधारभूत-तत्व छीना-झपटी नही, लेना-देना है, अनधिकार चेष्टा नही, अपने अधिकार का परिपालन है, विषमता नही, समता है और स्तेय नही, अपितु अस्तेय है। इसी कारण राधा के पास सदेश भेजते हुए श्रीकृष्ण ने सुख और योग की लालसाओ की अपेक्षा जगत-हित को महत्व दिया है, आत्मार्थी की अपेक्षा आत्मत्यागी को महत्व दिया है, अपनी सेवा की अपेक्षा प्राणी-सेवा को श्रेयस्कर बताया है, आत्म-सुख की अपेक्षा विश्व-सुख को महान् कहा है और स्वार्थोपरत रहने की अपेक्षा सर्वभूतोपकारी जीवन को अधिक महत्वशाली सिद्ध किया है।[1] अत: कवि ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की 'अस्तेय' नामक विचारधारा को भी अत्यधिक महत्व देने की सुन्दर चेष्टा की है।

ब्रह्मचर्य—जीवन की सम्यक् अभिवृद्धि के लिये भारतीय सस्कृति मे जो चौथी विचारधारा प्रवाहित है, उसे 'ब्रह्मचर्य' के नाम से अभिहित किया जाता है। ब्रह्मचर्य का सीधा-साधा अर्थ तो यह है कि सयमपूर्वक जीवन व्यतीत करना। परन्तु इसके अतिरिक्त कुछ विद्वान् इसका एक और भी अर्थ किया करते हैं। उनके मत से ब्रह्म का अर्थ है बडा, महान्, विशाल। 'चर्य' शब्द 'चरगतिभक्षणयो' धातु से निकला है, जिसका अर्थ है चलना, अतएव ब्रह्म होने के लिये, क्षुद्र से महान् होने के लिये, विषयो के छोटे-छोटे रूपो से निकलकर आत्मतत्व के विराट् रूप में अपने को अनुभव करने के लिये चल पड़ना 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है।[2] इस तरह ब्रह्मचर्य के दो अर्थ प्रचलित हैं। कुछ भी हो 'ब्रह्मचर्य' का पालन करना भारत मे अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। अपने मन, अत करण एव इद्रियो पर सयम करने से ही ब्रह्मचर्य की प्राप्ति होती है। यहाँ जीवन के चतुर्वर्गों मे तो ब्रह्मचर्य को सर्वप्रथम महत्व दिया गया है और बताया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने आरम्भिक काल मे ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए ज्ञानोपार्जन करना चाहिए। इसके अनतर भी यम-नियमो मे उसका समावेश होने के कारण यह स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य अर्थात् इद्रिय-सयम की शेष जीवन के लिये भी कितनी आवश्यकता है। इसी कारण ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले व्यक्ति यहाँ सर्वाधिक पूज्य, महान् एव

---

१. 'प्रियप्रवास' १६।४१-४६

२. आर्य-सस्कृति के मूल तत्व, पृ० २३४

श्रेष्ठ माने गये हैं, जिनमे से परशुराम, हनुमान, भीष्म पितामह, महात्मा गौतम, स्वामी विवेकानद, स्वामी रामतीर्थ आदि प्रसिद्ध हैं।

हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे ब्रह्मचर्य की उक्त दोनो विशेपताओ को श्रीकृष्ण एव राधा के जीवन मे पूर्णरूपेण चरितार्थ होते हुए अकित किया है। यहाँ श्रीकृष्ण और राधा इन्द्रिय-सयम को तो आरम्भ से ही अपनाते हुए अकित किये गये हैं और दोनो को अत तक इस सयम की साकार मूर्ति के रूप मे देखा जा सकता है। विपय-भोगो के प्रति दोनो ही अत्यत उपेक्षा रखते हैं और राधा तो कौमर्य-व्रत धारण करते हुए ही अपना सारा जीवन व्यतीत करती है। दूसरे, लघु से महान् अथवा विपयो के छोटे-छोटे रूपो से निकल कर आत्म तत्व के विराट् रूप मे अपने को अनुभव करते हुए भी हम यहाँ दोनो—राधा और श्रीकृष्ण को देख सकते हैं। श्रीकृष्ण तो स्पप्ट ही यहाँ साधारण गोकुल ग्राम के अहीर-पुत्र से विश्वात्मा या विश्वनियता के पद को प्राप्त करते हुए चित्रित किये गये हैं।[1] साथ ही राधा भी एक साधारण ब्रज-वाला से ऊपर उठती हुई अपने महान् कार्यो एव उदात्त चरित्र के द्वारा ब्रज की आराध्या देवी वन जाती है।[2] इस तरह कवि ने ब्रह्मचर्य के दोनो रूपो को चित्रित करते हुए भारतीय सस्कृति की इस विशेपता को अच्छी तरह अकित किया है और 'कौमार व्रत निरत वालिकाओं' द्वारा ब्रज मे शान्ति के विस्तार की वात कहकर[3] कवि ने यह स्पष्ट घोपणा भी की है कि ब्रह्मचर्य की भावना को अपनाकर कार्य करने से विश्व मे शान्ति का भी प्रसार होता है।

अपरिग्रह—भारतीय सस्कृति त्याग-प्रधान है। यहाँ भोगो की अपेक्षा त्याग को, प्रवृत्ति की अपेक्षा निवृत्ति को, ग्रहण की अपेक्षा दान को और सग्रह की अपेक्षा अपरिग्रह को महत्व दिया गया है। यही कारण है कि यहाँ आत्म-तत्व का यह नियम वना हुआ है कि 'भोगो और भोगकर हट जाओ'। इसी

---

१ व्यापी है विश्व प्रियतम मे विश्व मे प्राण प्यारा।
यो ही मैने जगतपति को श्याम मे है विलोका। १६।११२

२ आराध्या थीं ब्रज-अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।१७।५०

३ जो थीं कौमार-व्रत-निरता वालिकायें अनेको।
वे भी पा के समय ब्रज मे शान्ति विस्तारती थीं। १७।५१

को यहाँ अपरिग्रह कहा गया है।[1] भारतीय संस्कृति कभी भोग को बुरा नहीं कहती, वरन् भोगो मे लिप्त रहने को बुरा मानती है। इसी कारण तो यहाँ ईशोपनिषद् मे कहा गया है कि "यह जो कुछ स्थावर-जंगम स्वरूप ससार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है, उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर"[2] इसमे स्पष्ट ही अपरिग्रह त्यागपूर्वक जीवन व्यतीत करने की ओर सकेत किया है। श्रीमद्भगवद्गीता मे इस त्याग की महिमा का बडा विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। वहाँ पर त्याग को भी तीन प्रकार का बताया गया है—सात्विक त्याग, राजस त्याग और तामस त्याग। इनमे से 'अमुक कार्य करना मेरा कर्त्तव्य है' ऐसा समझकर ही जो शास्त्र-विधि से नियत कर्म आसक्ति एवं फल को त्यागकर किया जाता है, वह सात्विक त्याग माना गया है। दूसरे, जो कुछ कर्म हैं, वे सब दुःख रूप हैं, ऐसा समझकर जो मनुष्य शारीरिक क्लेश के भयसे कर्मों का परित्याग कर देता है, उसका यह त्याग राजस त्याग कहलाता है। तीसरे, जो मनुष्य अपने नियत कर्मों का मोह के कारण त्याग कर देता है, उसका वह त्याग तामस त्याग कहलाता है। इन तीनो प्रकार के त्यागो का उल्लेख करते हुए यह भी बताया गया है कि कभी भी काम्य कर्मों का उल्लेख करते हुए भी बताया गया है कि कभी भी काम्य कर्मों के त्याग को त्याग नही कहना चाहिए और न केवल सब कर्मों के फल के त्याग करने को ही त्याग कहना चाहिए। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि यज्ञ, दान और तप तो त्यागने के योग्य हैं ही नही। इन्हे तो सदैव करना चाहिए, परन्तु इनको करते समय सम्पूर्ण श्रेष्ठ कर्म की आसक्ति और उनके फलो को त्याग करना ही सबसे बड़ा त्याग है। इसलिये संसार मे सबसे बडा त्यागी वह है, जो अकल्याणकारक कर्म से तो द्वेष नही करता और कल्याणकारक कार्यों मे आसक्त नही होता तथा शुद्ध गुणयुक्त एव सशय-रहित रहता है और कभी कर्म-फल की अभिलाषा नही करता। इस तरह गीता मे आसक्ति एव फल को त्याग कर नियत कर्म करने की प्रेरणा दी गई है और अपने नियत कर्म मे आसक्ति का न होना तथा फल की इच्छा न रखने को ही सबसे बड़ा त्याग बतलाया गया है।[3] यही त्याग भारतीय सस्कृति का अपरिग्रह है।

---

१ आर्यसस्कृति के मूल-तत्व, पृ० २४१

२ ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चजगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृध. कस्यस्विद्धनम्॥ १।१

३. श्रीमद्भगवद्गीता ८।२-१२

'प्रियप्रवास' में कवि हरिऔध ने भी ऐसे ही अपरिग्रह या त्याग को सर्वाधिक महत्त्व दिया है और बताया है कि जो व्यक्ति मुक्तिकी कामना से तपस्या करता है, उसे तो आत्मार्थी ही कहना चाहिए, वह आत्मत्यागी नही हो सकता। आत्मत्यागी तो वह है, जो सभी प्रकार की आसक्ति एव कामनाओ को छोडकर ससार के कल्याणकारी कार्य करता है और लोक-सेवा में लगा रहता है, किन्तु किसी प्रकार के फल की इच्छा नही रखता।[1] इसी कारण 'प्रियप्रवास' मे श्रीकृष्ण नद-यशोदा तथा गोपियो से मिलने के लिए उत्सुक होकर भी गोकुल नही आ पाते, क्योकि विश्वप्रेम मे लीन होने के कारण वे सम्पूर्ण स्वार्थों एव विपुल सुखो को तुच्छ समझने लगते हैं और लोक-सेवा के लिए लिप्साओ से भरी हुई सैकड़ो लालसाओ को भी योगियो की भाँति दमन करते हुए सदैव जगत-हित मे लगे रहते हैं। उनके हृदय मे ससार के कल्याण करने की इतनी तीव्र अभिलाषा भरी हुई है कि वे निष्काम-भाव से सदैव जनता की भलाई मे लगे रहते हैं, दीन-हीनो की सेवा करते रहते हैं और सदैव लोकोपकार मे ही लीन रहे आते हैं।[2] यही बात त्यागमूर्ति राधा मे भी है वह अपना सारा सुख, सारा वैभव एव सर्वस्व त्यागकर ब्रजभूमि के सतप्त प्राणियो की सेवा एव उनकी देखभाल मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है और विविध व्यथाओ मे डूबे हुए ब्रज को सुखी बनाने के लिए निशि-दिन प्यार से सिक्त होकर गृह, पथ, बाग, कुज, वनो आदि मे घूमती रहती है।[3] इस तरह कवि ने त्याग के आदर्श को स्थापित करते हुए यहाँ भारतीय सस्कृति की इस अपरिग्रह वाली विशेषता का भी उद्‌घाटन अत्यत सजीवता के साथ किया है।

आध्यात्मिकता—भारतीय सस्कृति आरम्भ से ही आध्यात्मिकता का

---

१ जो होता है निरत तप मे मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है, न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी।
जो से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है।
प्यारी सच्चा अवनि-तल मे आत्म-त्यागी वही है।

२ 'प्रियप्रवास' १४।२१-३०

३. इन विविध व्यथाओ मध्य डूबे दिनों मे।
अति-सरल-स्वभावा सुदरी एक बाला।
निशि-दिन फिरती थी प्यार से सिक्त होके।
गृह, पथ, बहु-बागों, कुंज-पजों. वनों मे। १७।२९

मुखता देती चली आई है। इसी कारण इस सस्कृति को आध्यात्मिकता-
वान कहा जाता है। इसके इस अध्यात्मवाद का श्रीगणेश वेदो मे ही मिल
जाता है। ब्राह्मण-युग मे आकर यह अध्यात्मवाद कुछ क्षीण होगया था।
परन्तु उपनिषदो मे आकर यह पुन सजीव एव सक्षम हो उठा तथा भारतीय
जन पुन मन को बाह्यजगत् से हटाकर अन्तर्जगत् की ओर लगाने लगे।
उपनिषद्-विद्या तो आध्यात्मिकता का अखड भडार है, वहाँ प्राणियो को
भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी
गई है और वे उपाय भी बताए गये हैं, जिनके द्वारा एक सासारिक जीव
ससार की अन्तरात्मा को समझकर उससे तादात्म्य स्थापित करता हुआ मोक्ष
को प्राप्त कर सकता है। उपनिषदो मे प्राय इसी बात को विविध विधियो
से समझाने की चेष्टा की गई है कि मनुष्य किस तरह भौतिकता के जटिल
बधनो से मुक्त होकर चिदानद को प्राप्त कर सकता है तथा वह असत् से सत्
की ओर, अधकार से ज्योति की ओर एव मृत्यु से अमरता की ओर अग्रसर
हो सकता है।[1] वहीं पर यह समझाया गया है कि सम्पूर्ण सुख और दु खो
का भोक्ता यह आत्मा ही है। जाग्रति, स्वप्न, सुषुप्ति एव तृतीय नामक चारो
अवस्थायें एव वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ एव ईश्वर नामक चारो रूप इसी आत्मा
के हैं। यह आत्मा ही अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि शरीरो मे विद्यमान
रहता है और यह आत्मा ही शुद्ध-बुद्ध चैतन्य-स्वरूप है।[2] इसी से जीवधारी
उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर इसी मे जीवित रहते हैं और मरने पर इसी मे
लीन हो जाते हैं।[3] यह आत्मा ही समस्त भूतो का अधिपति है, सबका राजा
है, इसी मे जीव, लोक, देव, प्राण आदि सबका समावेश होजाता है, यही
आनदमय ब्रह्म है और इसी मे प्रत्येक जीवात्मा लीन होना चाहता है।[4]

यहाँ पर भौतिकता को कभी महत्व नहीं दिया गया। भौतिकवादी
तो केवल यह चाहते है कि हम प्रकृति पर विजय पाकर भौतिक उन्नति करते
हुए ही सुख और आनद प्राप्त करने की चेष्टा करें। जैसे पहले बैलगाडी
चलती थी, अब मोटर एव वायुयान बना लिये। पहले मिट्टी का दीपक जलता
था, फिर मिट्टी के तेल को जलाने की पद्धति निकाली अब और अधिक उन्नति

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद् १।३।२७
२. वेदान्त-सार, पृ० २-११
३ तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१
४. बृहदारण्यकउपनिषद् २।५।१५

करके बिजली का आविष्कार कर लिया। इस तरह भौतिक पदार्थों का आविष्कार करके उत्तरोत्तर सुख पाने की चेष्टायें करना भौतिकवादियो की उन्नति और आध्यात्मिक विचारो वाली प्रकृति पर विजय प्राप्त पाने की अपेक्षा आत्मा पर विजय पाना अधिक श्रेयस्कर मानते हैं। उनका विचार है कि आज का मानव इसलिये सतप्त है, इसलिये सुख एव आनद प्राप्त नही कर रहा है कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि मे लीन है, इन मनोवेगो पर अपना अधिकार नही कर सका है और आत्मा के बल को न पहॅचानकर इधर-इधर भटक रहा है। अत भारतीय सस्कृति में समस्त मनोविकारो पर नियत्रण करके योग अथवा सयम द्वारा आत्मा पर नियत्रण करना, उस आत्मा की शक्ति को पहॅचानना अथवा उस आत्मिक शक्ति के रहस्य को जानकर उसका उपयोग करना ही मानव की सबसे बडी विजय मानी गई है और इसी के लिए वैदिक युग से लेकर आज तक प्रयत्न भी हुए हैं।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे इसी आध्यात्मिकता के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न किया है। यहाँ पर हरिऔधजी ने अन्य कृष्ण-भक्त कवियो की भाँति ज्ञान के शुष्क विषय अथवा योग-साधन का खडन करने के उद्देश्य से उद्धव के मुख से योग की प्रशसा नही करायी है, अपितु उन्होंने एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन की ओर सकेत किया है, जिससे ससार के सभी प्राणी अपने मनोविकारो पर विजय प्राप्त करके सुख एव आनद को सहज ही उपलब्ध कर सकते हैं। आपने बताया है कि यह बात ठीक है कि भ्रमित चित्त को पहले योग द्वारा सम्हालना चाहिए, परन्तु इसके लिए सुदर साधना है 'विश्वप्रेम अथवा 'लोकहित', क्योकि इसमे लीन होने से सम्पूर्ण स्वार्थ, मोह, वासना आदि समाप्त हो जाती हैं और एक अनुपम शान्ति मिलती है।[1] यहाँ श्रीकृष्ण ने भी तो पृथ्वी के समस्त प्राणियो की भलाई का व्रत लेकर अपने समस्त स्वार्थों एव विपुल-सुखो को तुच्छ बना डाला है और लोक-सेवा के लिये लिप्साओ से भरी हुई हृदय की सैकडो लालसाओ को योगियो की भाँति दमन कर लिया है।[2] इसी तरह राधा को भी हरिऔधजी ने 'विश्व-प्रेम' एव 'लोकहित' के साधन को अपनाते हुए अपने समस्त भौतिक सुखो, सम्पूर्ण मनोविकारो एव आत्मा पर विजय प्राप्त करते हुए अकित किया है, जिससे वह श्रीकृष्ण के ही रूप को सभी प्राणियो मे व्याप्त देखती है और उनकी

---

१. प्रियप्रवास, १४।३९

२. वही १४।२१-२२

हृदय से सेवा-सुश्रूषा करती हुई तथा उनको सभी तरह से धैर्य एव सात्वना प्रदान करती हुई मानवी से देवी बन जाती है। उस प्रेम-योगिनी का जीवन सयम एव योग की साकार मूर्ति बन जाता है, क्योंकि उसके हृदय मे निष्काम भाव से प्राणि मात्र के हित की भावना जग जाती है, वह विश्वात्मा मे लीन हो जाती है और सर्वत्र उसी की महिमा देखती हुई ससार से पूर्णतया तादात्म्य स्थापित करती हुई स्वय दु ख-सुख से मुक्त होकर प्राणियो को भी पार्थिव दु ख-सुख से मुक्त करती हुई व्रज मे आनद एव शान्ति का प्रचार करती है। इतना ही नहीं इस आध्यात्मिक जीवन को व्यतीत करने के लिए ही हरिऔध जी ने 'प्रियप्रवास' मे लोक-हित एव विश्व-प्रेम के साथ-साथ सात्विक प्रवृत्ति को अपनाने के लिए आग्रह किया है, स्वार्थ को छोड़कर निष्काम भाव आत्मोत्सग की सलाह दी है सर्वत्र एक विश्वात्मा के दर्शन की प्रेरणा प्रदान की है, विश्व मे व्याप्त प्रकृति के अनन्य सौन्दर्य की झाँकी देखने का अनुरोध किया है और नवधा भक्ति द्वारा निष्काम भाव से ससार की सेवा करने पर जोर दिया है।[1]

नवधा-भक्ति—भक्ति का उद्देश्य है अपने इष्ट देव की उपासना, उसके गुणगान, भजन, कीर्त्तन आदि के द्वारा मोक्ष प्राप्त करना। सर्वप्रथम वैदिक युग मे इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि की उपासना, अर्चना एव उनको यज्ञो द्वारा प्रसन्न करने की प्रथा की ओर सकेत ऋग्वेद मे विद्यमान है। तदनन्तर यहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश के नाम से तीन इष्ट देवो की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ। इनमे से ब्रह्मा सृष्टिकर्त्ता, विष्णु सृष्टि के पालक और महेश सृष्टि के सहारक माने गये। यद्यपि इन देवो का उल्लेख पृथक्-पृथक् कार्य करते हुए किया गया है, फिर भी ये तीनो एक ही महान् शक्ति के तीन अग माने जाते हैं। आगे चलकर इन तीन देवो के अतिरिक्त अन्य देवी-देवताओ को भी इष्ट देव मानने की प्रथा चली और बहुत से सम्प्रदाय चल निकले। इन सम्प्रदायो का ही यह प्रभाव है कि यहाँ अठारह पुराणो एव अठारह उपपुराणो मे विभिन्न देवी-देवताओ की पूजा-अर्चना एव भक्ति के विधान का उल्लेख मिलता है। कुछ विद्वान ऐसा समझते है कि भक्ति का प्रादुर्भाव सभवत बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय के प्रभाव मे हुआ, क्योंकि महायान सम्प्रदाय मे बोधिसत्वादि की पूजा, उसके गुणगान, भजन, कीर्तन आदि का विधान मिलता है। भक्ति के इन विधानो की ओर जन साधारण का आकर्षण बढ़ता चला गया

[1] प्रियप्रवास १६।९९–११४

और कालान्तर मे बोधिसत्व के स्थान पर विष्णु तथा विष्णु के अन्य अवतारो राम, कृष्ण आदि की, शिव, दुर्गा आदि की भक्ति होने लगी।[1] परन्तु ऐतिहासिक आधारो पर अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भक्ति का प्रादुर्भाव सर्वप्रथम दक्षिणी भारत मे हुआ था। वहाँ पर विष्णु और शिव की मूर्ति बनाकर उनके प्रति भक्ति-भाव प्रकट करने की प्रथा आर्य-सस्कृति के भारत मे प्रवेश करने से पूर्व ही प्रचलित थी। विष्णु भक्तो मे आलवारो का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है। इन आलवारो ने विष्णु की स्तुति मे सुदर भक्ति-रस-पूर्ण काव्यो की रचना की। शिव-भक्तो मे नायन्मारो का नाम प्रसिद्ध है। इनके शैव भक्ति सबधी अत्यत सरस एव भावपूर्ण मिलते हैं। इन नायन्मारो ने तामिल देश मे नवीन स्फूर्ति एव नव-चेतना का सचार किया था। पल्लव राजाओ के शासनकाल मे इस भक्ति-सम्प्रदाय का दिव्य उत्कर्ष दिखाई देता है। शैवभक्तो के 'तेवारम्' और 'तिरुवाचकम्' तथा वैष्णव भक्तो के 'दिव्यप्रबधकम्' नामक ग्रथ की रचना भी पल्लव-युग मे ही हुई थी। भक्ति सम्प्रदाय का धार्मिक साहित्य 'आगम' के नाम से प्रसिद्ध है। इस आगम साहित्य की रचना मन्दिर-पूजा का विधान आदि समझाने के लिए हुई थी।[2] वहाँ पर इन आलवारो एव नायन्मारो की परम्परा ईसा की दसवी शताब्दी तक मिलती है। तदनन्तर भक्ति का यह सम्प्रदाय उत्तरी भारत मे विकसित हुआ। पहले वैष्णव मत महाराष्ट्र मे पडरपुर के आस-पास केन्द्रीभूत हुआ तदनन्तर कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा के आस-पास इन वैष्णव भक्तो की गद्दियाँ स्थापित हुईं। कहावत यह भी प्रचलित है कि भक्ति का प्रादुर्भाव तो दक्षिण मे ही हुआ था और वहाँ से रामानदजी इसे उत्तरी भारत मे लाये, परन्तु कबीरदास ने उस भक्ति को सात द्वीप और नव खडों मे फैलाया।[3]

यह भक्ति दो रूपो मे विकसित हुई है—निर्गुणभक्ति और सगुणभक्ति। निर्गुणभक्ति मे भगवान के निराकार रूप की उपासना की जाती है, उसके अवतार एव मूर्ति का खडन करते हुए उसे सर्वव्यापी कहा जाता है। उनके यहाँ दशरथ के पुत्र राम को ईश्वर का अवतार नही माना जाता, अपितु राम,

---

१. भारतीय संस्कृति, पृ० २३५

२. भारतीय सभ्यता तथा सस्कृति का विकास, पृ० २८३-२८४

३ भक्ती द्राविड़ ऊपजी, लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर नें, सप्तद्वीप नवखंड॥

हरि आदि का स्मरण करते हुए उपासना की जाती है।[1] जबकि सगुणभक्ति मे विष्णु के अवतारो की कल्पना करते हुए उनके राम, कृष्ण आदि रूपो की मूर्तियाँ मदिरो मे स्थापित करके भक्ति की जाती है। इस सगुण भक्ति का सर्वश्रेष्ठ ग्रथ श्रीमद्भागवत पुराण है। उसमे भक्ति के नौ साधनो का उल्लेख मिलता है, जिन्हे 'नवधाभक्ति' कहा जाता है और जिनके नाम क्रमश इस प्रकार है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वदन, दासता, सखाभाव और आत्मनिवेदन।[2]

हरिऔध जी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे इस नवधा भक्ति का वर्णन किया है और उसे अपने समस्त प्रियजनो एव अपने प्रिय के लिए अत्यत उत्तम साधन वतलाया है। यहाँ पर भी उक्त नौ नामो का उल्लेख किया गया है।[3] परन्तु विशेषता यह है कि इस नवधा-भक्ति के विवेचन मे भागवत की नवधा-भक्ति से पूर्णतया भिन्नता है। भागवत मे तो भगवान की मूर्ति बनाकर उसी की पूजा-अर्चना, उसके ही गुणगान का श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि करने पर जोर दिया गया है, परन्तु हरिऔध जी इस बात को अच्छा नही समझते कि किसी देवता या प्रभु की एक मूर्ति बनाकर उसी के प्रति भक्ति प्रकट की जाय। उनका दृष्टिकोण कुछ अधिक विशाल एव उदार है। वे तो यह मानते हैं कि ससार के समस्त प्राणी, नदी, पर्वत, लता, वेलें, वृक्ष आदि नाना पदार्थ उस विश्वात्मा के ही रूप हैं। अत इन सबके प्रति पूजा-अर्चना के साथ उचित सम्मान एव सेवा का भाव प्रस्तुत करना ही सच्ची भक्ति है। उनके मत से 'श्रवण' नाम की सच्ची भक्ति यह है कि हम आर्त्त एव उत्पीडित, रोगी एव व्यथित प्राणियो की दीन पुकार सुनें तथा लोक-उन्नायको, सच्छास्त्रो एव सत्सगियो के सुन्दर-सुन्दर शब्द श्रवण करें। दूसरी 'कीर्तन'

---

१ दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।

—कबीर

२ श्रवण कीर्त्तन विष्णो स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चन वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

३ जगत जीवन प्राण स्वरूप का। निज पिता जननी गुरु आदि का।
स्वप्रिय का प्रिय साधन भक्ति है। वह अकाम महा-कमनीय है।
श्रवण, कीर्तन, वदन, दासता। स्मरण, आत्म-निवेदन, अर्चना।
सहित सख्य तथा पद-सेवना। निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है।

—प्रियप्रवास १६।११४-११५

नामक भक्ति से हरिऔध जी का अभिप्राय यह है कि हम ऐसे दिव्य एव अनोखे गुणो का गान एव कथन करें, जिससे सोये हुए जाग जायें, अधकार मे पडे हुए व्यक्तियो को प्रकाश मिले, भूले-भटके व्यक्ति सन्मार्ग पर आजायें और उन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो। ऐसे ही 'वदन' नाम की तीसरी भक्ति से कवि का तात्पर्य यह है कि हमे विद्वानो, गुरुजनो, देश-प्रेमियो, ज्ञानियो, दानियो, सच्चरित्रो, गुणियो, तेजस्वियों, आत्मोत्सर्गियो, देवमूर्तियो आदि के सम्मुख नतमस्तक होना चाहिए। चौथी 'दासता' नामक भक्ति से कवि का अर्थ यह है हमे ऐसी बातें करनी चाहिए, जो ससार का कल्याण करने वाली हो एव सभी प्राणियो का उपकार करने वाली हो और ऐसी चेष्टायें करनी चाहिए, जिनसे पतित एव मलिन जातियो का उत्थान हो तथा व्यक्ति हमारी सेवामे सलग्न हो, उनके लिए हमे भी सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार रहना चाहिए। पाँचवी 'स्मरण' नामक भक्ति से उनका भाव यह है कि हमे कगालो, विवश प्राणियो, विधवाओ, अनथाश्रितो एव उद्विग्नो का स्मरण रखना चाहिए और उन्हे त्रास देने की चेष्टा करनी चाहिए। साथ ही हमे अच्छे-अच्छे कार्यों को याद करना चाहिए और दूसरो के हृदय की पीड़ा का ध्यान करना चाहिए। 'आत्मनिवेदन' नामक छठी भक्ति से कवि का अभिप्राय यह है कि हमे आपत्ति मे पडे हुए मनुष्यो के दु ख को दूर करने के लिये अपने तन एव प्राणो को भी अर्पित कर देना चाहिए। 'अर्चन' नाम की सातवी भक्ति से कवि का भाव यह है कि हमे भयभीत प्राणियो को शरण, सतप्त व्यक्तियो को शान्ति, निर्बोध व्यक्तियो को सु-मति, पीडितो को विविध औषधियाँ, प्यासो को जल और भूखो को अन्न देना चाहिए। आठवी 'सख्य' नामक भक्ति से कवि का अभिप्राय है कि ससार मे आकाश और पृथ्वी पर जितने भी प्राणी एव पदार्थ दिखाई देते हैं उन सबका सच्चे हृदय से सुहृद एव सखा होना चाहिए इसी तरह कवि की दृष्टि मे नवी 'पदसेवन' नामक भक्ति यह है कि जो प्राणि-वर्ग अपने कर्मों से सताया जाकर हमारे चरणो मे पड़ा हुआ है, उसे हमे शरण एव सम्मान प्रदान करना चाहिए।[1]

इस प्रकार कवि हरिऔध के इस नवधा-भक्ति-विवेचन मे भारतीय सस्कृति के मूलभूत सिद्धान्तो के साथ-साथ आधुनिक युग का प्रभाव भी विद्यमान है। यहाँ कवि ने कोरी मूर्तिपूजा एवं भक्ति के प्राचीन आडम्बरो के स्थान पर आधुनिक तार्किक युग की बुद्धि-दृष्टि-सम्पन्न तर्क-सम्मत एवं

---

१ प्रियप्रवास १६।११७–१२६

न्याय-सम्मत बातें बतलाई हैं और समस्त व्यक्तियो को भक्ति सबधी नवीन दृष्टि देने का स्तुत्य प्रयत्न किया है, जिससे न केवल वैयक्तिक जीवन ही सुधर सकता है, अपितु सामाजिक जीवन मे भी आमूलपरिवर्तन हो सकता है तथा उस विश्वात्मा की सच्ची भक्ति भी हो सकती है। कवि का यह भक्ति-विवेचन भारतीय सास्कृतिक परम्परा का पालन करता हुआ आधुनिक युग के लिये सर्वथा उचित एव ग्राह्य है।

एक ईश्वर मे विश्वास—भारतीय सस्कृति मे विभिन्न देवी-देवताओ के अवतारो की कल्पना की गई हैं, परन्तु आरम्भ से ही भेद मे अभेद, भिन्नता मे अभिन्नता, पृथकता मे एकता स्थापन करने का प्रयत्न रहा है। इसी कारण यहाँ ऋग्वेद मे भी "एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" कह कर उस विविध रूप धारी अखिल ब्रह्माड नायक को एक ही बताया गया है। इसी तरह यहाँ पर "सर्वदेवनमस्कार: केशव प्रति गच्छति" कहकर यह सकेत किया गया है कि समस्त देवी-देवताओ के प्रति जो नमस्कार प्रस्तुत किया जाता है, वह उस विश्वात्मा को ही पहुँच जाता है। इतना ही नही यहाँ धर्मग्रथो मे भी उस एक विश्वात्मा का निरूपण करने के लिये उसके सर्वव्यापी रूप की कल्पना की गई है। इसी कारण उसे समस्त भूतो के हृदय मे स्थित आत्मा कहा गया है और सभी का आदि, मध्य एव अत बताया गया है। साथ ही उसे आदित्य, विष्णु, सूर्य, मरुत, वायु, नक्षत्र, सामवेद, इन्द्र, शकर, कुबेर, अग्नि, सुमेरु, बृहस्पति, स्कद, सागर, ओकार, हिमालय, पीपल, नारद, चित्ररथ, कपिल, उच्चैश्रवा, ऐरावत, कामधेनु, कामदेव, शेषनाग, यमराज, सिंह, गरुड, गगा आदि कहकर सम्पूर्ण सृष्टि मे व्याप्त बताया गया है।[1] इस तरह उस सर्वव्यापी विश्वात्मा एव विश्वरूप एक ईश्वर में विश्वास रखने की ओर भारतीय सस्कृति मे प्रारम्भ से ही प्रयत्न हुए हैं।

हरिऔध जी ने भी भारतीय सस्कृति की इस विशेषता को 'प्रियप्रवास' मे चित्रित करने का सुन्दर प्रयास किया है और लिखा है कि शास्त्रो मे उस परमपिता परमात्मा को अमित शीश, अमित लोचन एव अनेक हस्त वाला कहा है और बिना हाथ, मुख, नेत्र एव नासिका आदि के भी छूता हुआ, खाता हुआ, श्रवण करता हुआ, देखता और सूँघता हुआ बताया है। इसका रहस्य यह है कि जगत मे जितने प्राणी दिखलाई देते है, वे सभी उस अखिलेश की मूर्तियाँ हैं। इसी कारण वह अनेक आँख, हाथ, पाँव आदि से युक्त है और

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १०।२०-४२

इन प्राणियो की आत्मा मे स्थित होने के कारण इनकी इन्द्रियो से ही वह छूने, सूँघने, खाने आदि की क्रियायें नित्य करता रहता है। इतना ही नही वह तारे, चन्द्र, सूर्य नाना रत्न, पृथ्वी, पानी, पवन, नभ, पादप, खग आदि मे भी व्याप्त है, ससार की समस्त लीलायें उसी की क्रीडायें हैं और वह सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थों मे व्याप्त होकर विश्वात्मा के रूप मे स्थित है।[1] इस तरह हरिऔध जी ने भी ईश्वर की एकता, उसकी सर्वव्यापकता एव उसकी प्रभुता का वर्णन करते हुए एक ईश्वर मे विश्वास रखने का अत्यत सजीव एव मार्मिक वर्णन किया है, जो कि पूर्णतया भारतीय सस्कृति के अनुकूल है।

नारी का महत्व—भारतीय सस्कृति मे नारी को अत्यधिक महत्व दिया गया है। और यहाँ तक कहा गया है कि 'जहाँ नारी की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं।'[2] यह नारी मानव के जीवन मे कई रूपो मे सहायता प्रदान करती है। उसके माता, पत्नी, वहिन, पुत्री आदि रूप प्रमुख हैं। माता के रूप मे वह अपने त्याग, प्रेम, दुलार एव स्नेह की सरिता वहाती हुई सतान पर वात्सल्य की वर्षा करती रहती है। वह सेवा की तो साकार मूर्ति है, क्योंकि वह अपने ही लिये जीवन धारणा नही करती, अपितु अपनी सतान एव अपने परिवार के लिये अपना सर्वस्व न्योछावर करती रहती है। पत्नी रूप मे उसकी महाभारत के अतर्गत अत्यधिक प्रशसा की गई है। उसे पुरुष की आत्मा का आधा भाग कहा गया है और पत्नी की प्राप्ति के विना पुरुष को अपूर्ण ही वतलाया गया है। उसे पुरुष का श्रेष्ठतम मित्र कहा गया है, उसे त्रिवर्ग की मूल बताया गया है और सम्पूर्ण परिवार का उद्धार करने वाली माना है।[3] इतना ही नही पत्नी रूप मे नारी को पुरुष के सम्पूर्ण दु खो की एकमात्र औषधि वताया गया है।[4] नारी के उक्त दो रूप ही सर्वश्रेष्ठ माने गये है। वह एक आदर्श-माता एव आदर्श-पत्नी या सहचरी

---

१ प्रियप्रवास १६।१०७–११०

२. 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता'।

३ अर्ध भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतम सखा।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूल तरिष्यत।
—महाभारत, आदिपर्व ७४।

४ न च भार्या सम किंचिद् विद्यते भिषजां मतम्।
औषधं सर्वदु खेषु सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥
—महाभारत, आदिपर्व ७४।४५

बनकर अपना गौरव प्रदर्शित करती हुई मानव के जीवन को समृद्ध बनाने का कार्य करती है। नारी के इसी महत्व को प्रदर्शित करते हुए महाकवि कालिदास ने अज के विलाप के अवसर पर उनकी पत्नी के बारे मे अज के मुख से कहलवाया था—"तुम गृहिणी, सचिव, सखी और ललित कला सीखने मे मेरी प्रिय शिष्य थी। निर्दय भाग्य ने तुम्हे मुझसे छीनकर मेरा क्या नही छीन लिया अर्थात् सर्वस्व छीन लिया है।"[1] इस तरह नारी पतिव्रता होकर पुरुष को, वात्सल्यमयी होकर पुत्र को, सहचरी एव सेविका होकर सारे समाज को अन्याय रीति से अपनी सेवायें प्रदान करती रहती है। प्राचीन काल मे कौशल्या, तारा, मदोदरी, सीता, द्रौपदी, अनुसूया आदि कितनी ही नारियाँ ऐसी हो गई हैं, जिहोने गृहिणी-पद का सम्यक् निर्वाह करते हुए समाज मे गौरव प्राप्त किया था और जिनका नाम आज भी आदर के साथ लिया जाता है। इस प्रकार यहाँ उनके आदर्श की भूरि-भूरि प्रशसा की गई है और समाज मे नारी के महत्व को अत्यधिक स्वीकार किया गया है।

हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे नारी के गौरवपूर्ण चित्र अकित किये हैं। यहाँ यशोदा एक आदर्श-माता के रूप मे, राधा एक आदर्श पत्नी के रूप में और गोपियाँ आदर्श सहचरी के रूप मे अकित है। माता के वात्सल्य एव उसकी अनुपम ममता की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए इसी कारण कवि ने लिखा है —

(१) ऊधो माता-सदृश्य ममता अन्य की है न होती।"१०।२६
(२) माता की सी अवनितल मे है अ-माता न होती ॥ १०।२७

यही बात पत्नी रूप मे अकित राधा के बारे मे है। राधा भी आदर्श का पालन करती हुई प्रणय की साकार प्रतिमा के रूप मे यहाँ चित्रित है। वह अत्यन्त शान्त, धीर, मधुर हृदया, प्रेम-रूपा, रसज्ञा, मोहमग्ना तथा प्रणय की प्रतिमा बनी हुई है। उसके हृदय मे प्रिय कृष्ण के लिए अटूट श्रद्धा एव विश्वास भरा हुआ है और वह कृष्ण के विश्व-प्रेम एव लोक-हित की भावना से ओत-प्रोत होकर ससार की सम्पूर्ण लालसाओ, वासनाओ एव कामनाओ को छोडकर व्रज की सेवा मे ही अपना जीवन व्यतीत करती है। इसी कारण कवि ने उसे 'व्रज की आराध्य देवी' कहकर अत्यन्त आदर एव प्रतिष्ठा प्रदान की है और उसकी प्रशसा करते हुये नारी के गौरव एव उसकी प्रतिष्ठा को महत्व प्रदान किया है। 'प्रियप्रवास' का सप्तदश सर्ग तो नारी के गौरव का

१. रघुवश ८।६७

ही सर्ग है, उसमें नारी को समाज सेविका, लोक-हितैषिणी, विश्व-प्रेमिका आर्त्त-जनों की उद्धारक, सम्पूर्ण चिन्ताओं को हरने वाली, शान्ति प्रदायिनी, दयामूर्ति, मंगलकारिणी आदि अनेक रूपों में चित्रित किया है।[1] यहाँ पर चित्रित नारी की सेवा भावना, उसकी उदारता, उसका पावन प्रेम, उसके भूत-सम्वर्द्धन के प्रयत्न एवं सर्वत्र शान्ति स्थापना-संबंधी कार्य भारतीय संस्कृति में अंकित नारी के उज्ज्वल एवं उत्कृष्ट रूप के परिचायक हैं और हरिऔधजी ने उन्हें इस तरह काव्य में सगुम्फित करके अंकित किया है कि जिससे नारी के महत्व के साथ-साथ भारतीय संस्कृति का उत्कृष्ट रूप भी पाठकों के सम्मुख स्पष्ट हो गया है।

अस्पृश्यता की भावना—भारतीय संस्कृति अत्यंत उदारता एवं महानता से भरी हुई है यहाँ चारों वर्णों की स्थापना समाज का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिये ही हुई थी और सभी को समानता का अधिकार दिया गया था। परन्तु कालान्तर में समाज के अंदर शूद्र वर्ग को अस्पृश्य कहकर ठुकराने की भावना जाग्रत हुई, जिसका दुष्परिणाम यह हुआ कि अपनी ही जाति के प्राणी अपने से भिन्न होने लगे, उनमें ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न हुए और वे अन्य धर्म एवं अन्य जातियों में सम्मिलित होने लगे। इसका मूल कारण यह बताया जाता था कि हमारे धर्म-शास्त्रों में ही शूद्रों को त्याज्य एवं अस्पृश्य कहकर हीन एवं हेय बताया गया है। परन्तु ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पता चलेगा कि यहाँ पर तैत्तिरीय ब्राह्मण ने शूद्रों को भी यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार दिया गया है।[2] गौतम धर्म सूत्र में तो शूद्र के लिए सत्य, अक्रोध, शौच और श्राद्ध कर्म भी बताये गये हैं।[3] कुछ आचार्यों के अनुसार वे पाकयज्ञ के भी अधिकारी हैं। महाभारत में इसी कारण लिखा है कि शूद्र जनेऊ धारण करके पाकयज्ञ कर सकता है।[4] विष्णु स्मृति में शूद्र व्यापारियों का भी उल्लेख मिलता है।[5] मनुस्मृति में शूद्र के लिए दासकर्म एवं शिल्पवृत्ति का भी विधान मिलता है।[6] हमारे यहाँ

---

१ प्रियप्रवास १७।२९–५२

२ तैत्तिरीय ब्राह्मण १।१।४।८

३. गौतम धर्मसूत्र २।१, ५।४

४. महाभारत, शान्तिपर्व, ५०।४०

५. विष्णुस्मृति २।१४

६. मनुस्मृति १।९१, १०।२०

बहुत से शूद्र जाति के व्यक्तियो को अत्यत आदर एव सम्मान भी दिया गया है और वे बडे विद्वान भी हुए हैं, जिनमे से वाल्मीकि मुनि, कबीर, नामादास, रैदास, नामदेव, आदि प्रसिद्ध हैं। इतना ही नही यहाँ पर छूआछूत एव अस्पृश्यता-निवारण के लिए भी बराबर प्रयत्न होते रहे हैं। इस दूषित भावना को दूर करने के लिए यहाँ सभी सन्तो एव महात्माओ ने प्रयत्न किये हैं, जिनमे से कबीर, तुलसी, दादू, मीरा आदि प्रसिद्ध हैं। रामकृष्ण परमहस, विवेकानद, महात्मा गाधी आदि ने भी इसे दूर करने का बराबर प्रयत्न किया है। गाधी जी ने तो अस्पृश्य लोगो--को 'हरिजन' कहना ही प्रारम्भ कर दिया था और उनके निवास-स्थानो पर स्वय रहकर उनके अदर शुद्धता, सात्विकता, सौजन्य एव सहृदयता आदि का प्रचार करके उन्हें अपनाने का प्रयत्न किया था।

हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे इस अस्पृश्यता को दूर करने के लिए स्पष्ट लिखा है तथा 'दासता' नाम की भक्ति का महत्व प्रदर्शित करते हुए बताया है कि हमे सदैव गिरी हुई जातियो को उठाने का प्रयत्न करना चाहिये और जो लोग हमारी सेवा करते है उनके लिए अपना सर्वस्व उत्सर्ग करने की चेष्टा करनी चाहिए। हमारी ये ही चेष्टायें एव ऐसे ही प्रयत्न सच्ची 'दासता' नाम की भक्ति के अतर्गत आते है।[1] इतना ही नही 'सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ है उसी की' कहकर कवि ने छूआ-छूत या ऊँच-नीच की भावना को तुच्छ बताकर सभी को एक विश्वात्मा की मूर्ति कहा है और पारस्परिक भेदभाव को छोडकर अस्पृश्यता-निवारण पर जोर दिया है। साथ ही श्रीकृष्ण के द्वारा समस्त प्राणियो की अपने हाथ से ही सेवा कराके कवि ने यह सकेत किया है कि समाज मे कोई छोटा या कोई बडा अथवा कोई स्पृश्य एव कोई अस्पृश्य नही है। सभी समान है। सभी के प्रति प्रेम, सहानुभूति, उदारता आदि होनी चाहिये और किसी को भी तुच्छ समझकर कभी ठुकराना नही चाहिए। इसी कारण तो उनके कृष्ण 'प्रियप्रवास' मे सभी की सेवा अपने हाथ से करते है और कोई भी घर ऐसा नहीं दिखाई देता, जहाँ यदि कोई

---

१ जो बातें हैं भव हितकरी सर्व-भूतोपकारी।
जो चेष्टायें मलिन गिरती जातियाँ हैं उठाती।
हो सेवा मे निरत उनके अर्थ उत्सर्ग होना।
विश्वात्मा-भक्ति भव सुखदा दासता-सज्ञका है। १६।१२१

भी प्राणी दुखी हो तो कृष्ण वहाँ न पहुँचे।[1] इस प्रकार हरिऔधजी ने समाज मे एकता एव समानता लाने के लिए अस्पृश्यता को दूर करने की ओर सकेत किया है और देश को इस भयानक रोग से बचने की सलाह दी है।

प्रकृति-प्रेम—भारतीय सस्कृति का विकास ही प्रकृति की सुरम्य गोदी मे हुआ है। इसी कारण यहाँ का मानव आदिकाल से ही प्रकृति का अनन्य भक्त बना हुआ है। इसके लिए यहाँ का साहित्य साक्षी है, क्योकि ऋग्वेद से लेकर आज तक यहाँ के काव्यो मे सर्वाधिक महत्व प्रकृति की मनोरम छटा को ही प्राप्त हुआ है। कवियो ने उषा, सध्या, दिवस-श्री, रजनी, सूर्य, चन्द्र, तरुलता, ऋतुयें, हरे भरे मैदान, नदी, सरोवर, पर्वत आदि के जितने रमणीक एव भव्य चित्र अपने-अपने काव्यो मे अकित किए हैं, उतने अन्य किसी के नही किये। प्रकृति-प्रेम की बहुलता का ही यह परिणाम है कि यहाँ के महाकाव्यो की यह एक विशेपता बन गई है कि उनमे पट् ऋतुओ, सध्या, रजनी आदि के भव्यचित्र होने चाहिए। यह प्रकृति यहाँ के जीवन मे इतनी व्याप्त है कि मानव एक क्षण भी उससे पृथक् नही रह सकता। इस प्रकृति-प्रेम को हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे पर्याप्त स्थान दिया है। यहाँ पर उनके चरित्र-नायक श्रीकृष्ण ने तो अपना अधिकाश व्रज का जीवन प्रकृति की रमणीक गोद में ही व्यतीत किया है। श्रीकृष्ण जब कभी विपिन मे अपने साथियो के साथ विहार किया करते थे, तब यमुना के वारि-विलास, गोवर्द्धन पर्वत की सुरम्य छटा, निर्झरो का कल-कल गान, कुजो की मजुल छटा आदि देखते हुए आनन्द-विभोर हो जाते थे तथा कदम्ब की किसी शाखा पर बैठकर अपनी मधुर वशी बजाया करते थे। वे वनस्थली मे उत्पन्न सुन्दर जड़ी-बूटियो को बड़े ध्यान से देखा करते थे और उनके रहस्य को अपने साथियो को समझाया करते थे। उनकी दृष्टि मे एक तिनका भी व्यर्थ न था। वे एक-एक पत्ते एव एक-एक तिनके को भी सार्थक समझते थे और उनकी दृष्टि मे धूल का एक कण भी निरर्थक न था।[2] शरद ऋतु की मजुल एव उज्ज्वल चन्द्र-

---

१ रोगी दुखी विपद-आपद में पड़ों की।
सेवा सदैव करते निज हस्त से थे।
ऐसा निकेत व्रज मे न मुझे दिखाया।
कोई जहाँ दुखित हो पर वे न होवें।१२।१६७

२ प्रियप्रवास १२।२७-३५

कर वे भी भक्ति-विभोर हो जाते हैं तथा राधा के चरणो की रज लेकर यहाँ से विदा होते हैं।[1] इतना ही नही कवि ने जगत और ब्रह्म दोनो का भी सुदर समन्वय किया है और उस ब्रह्म या विश्वात्मा को जगत के प्रत्येक पदार्थ मे व्याप्त दिखाते हुए तथा समस्त प्राणियो को उसी की मूर्तियाँ, नाना प्रकाशपूर्ण पदार्थों मे उसीका प्रकाश एव पचतत्वो मे उसीकी सत्ता वताते हुए सम्पूर्ण जगत को ही उसका रूप वताया है।[2] कवि के इस दृष्टिकोण से स्पष्ट ही यह व्यजना हो रही है, कि ससार ब्रह्म का रूप होने के कारण सत्य भी है, परन्तु परिवर्तनशील होने के कारण इसे असत्य भी कहा जाता है। इस तरह कवि ने समन्वय की भावना को अकित करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह दिखाने की चेष्टा की है प्रवृत्ति ही निवृत्ति की ओर लेजाने का साधन है, भोग ही त्याग की ओर उन्मुख करने का साधन है, ससार के भोगो की निस्सारता ही आत्मत्याग, आत्मोत्सर्ग की ओर वढ़ाने की सीढ़ी है। यहाँ कृष्ण और राधा के चरित्र-चित्रण द्वारा कवि ने अपने जिन समन्वय-कारी विचारो को प्रस्तुत किया है उनमे स्पष्ट ही हमे उस अनत, अखड एव स्वच्छद आनद की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान की है, जिसे प्रवृत्ति और निवृत्ति, भोग और त्याग, आध्यात्मिकता और भौतिकता, सत और असत दोनो के समन्वय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है और जो भारतीय सस्कृति के अतर्गत जीवन का अभीष्ट लक्ष्य कहलाता है।

अत भारतीय सस्कृति के विभिन्न रूपो का अनुशीलन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाकवि हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' मे भारतीय सस्कृति की अधिकाश विशेषताओ को अकित करने की सफल चेष्टा की है और अपने चित्रण द्वारा यह दिखाने का सुदर प्रयत्न किया है कि 'प्रियप्रवास' भारतीय सस्कृति के उन मूलभूत सिद्धान्तो पर आधारित है, जिनको अपनाकर न केवल कोई एक देश ही उन्नति कर सकता है, अपितु

---

१ चुप हुई इतना कह मुग्ध हो। व्रज-विभूति-विभूषण-राधिका।
चरण की रज ले हरि-वधु भी। परम-शान्ति समेत विदा हुए।
१६।१३६

२ मैंने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात वातें।
ये वातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम मे विश्व मे प्राणप्यारा।
यों ही मैंने जगत पति को श्याम मे है विलोका।

सम्पूर्ण विश्व उन्नति करता हुआ सुख और शान्ति को प्राप्त कर सकता है।
भारतीय-सस्कृति की उक्त विशेषतायें सार्वभौम हैं, वे जीवन के अखड प्रवाह
से सवन्धित है और उनमे मानवता के सभी उदात्त गुण विद्यमान हैं। इसी
कारण 'प्रियप्रवास' आधुनिक युग का प्रथम प्रयास होकर भी महाकाव्यो की
श्रेणी मे अग्रगण्य है और भारतीय सस्कृति का उज्ज्वल रूप प्रस्तुत करता है।
इसमे कवि की सबसे बडी सास्कृतिक देन यही है कि त्याग, तपस्या एव
सयम के साथ मानव को जगत-हित मे लीन रहना चाहिए तथा वैयक्तिक
स्वार्थ को छोडकर परमार्थ या विश्व-कल्याण के कार्यों मे अधिकाधिक अग्रसर
होना चाहिए। कवि के इन विचारो को अपनाकर चलने से निस्सदेह मानव
मात्र का कल्याण हो सकता है और विश्व की सारी समस्याओ को सुगमता
से सुलझाया जा सकता है।

व्याप्त है। उसे अनेक रूपो मे देखा जाता है और उसके अनेक नाम बताये जाते हैं। वैसे वह एक ही है और जो भिन्नता दिखाई देती है, वह ब्रह्म के अश के कम या अधिक रहने से बन गई है, अन्यथा सब कुछ उसी एक ब्रह्म का स्वरूप है। इस बाह्य भिन्नता का कोई अर्थ नही है। जो कुछ भिन्न-भिन्न रूप दिखाई देते हैं, वे सब उसी ब्रह्म के परिवर्तित रूप हैं। उस ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नही है। सर्वत्र वह ब्रह्म ही ब्रह्म है।"[1] ये दार्शनिक विचार भारतीय जीवन मे अत्यधिक व्याप्त हैं। इनमे अद्वैतवाद अथवा अभेदवाद की जिस दार्शनिक परम्परा की ओर सकेत किया गया है, हरिऔधजी भी उससे अत्यधिक प्रभावित थे। इसी कारण आपने लिखा भी था "ईश्वर एकदेशीय नही है, वह सर्वव्यापक और अपरिच्छिन्न है, उसकी सत्ता सर्वत्र वर्तमान है, प्राणि-मात्र मे उसका विकास है—सर्वं खल्विद ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।"[2] उनकी यही धारणा 'प्रियप्रवास' मे भी विद्यमान है। यहाँ पर भी आपने ब्रह्म या आत्मा के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे अनत शीश और अगणित लोचनो वाला तथा असख्य हाथ-पैर वाला कहा है। साथ ही बिना मुख के खाता हुआ, बिना त्वचा के स्पर्श करता हुआ, बिना कानो के सुनता हुआ, बिना आंखो के देखता हुआ और बिना नासिका के सूँघता हुआ लिखा है परन्तु वह ये सब कार्य कैसे करता है? इस प्रश्न का समाधान करते हुए कवि ने लिखा है कि सम्पूर्ण जगत मे जो असख्य प्राणी दिखाई देते हैं वे सब उसी ब्रह्म की मूर्तियां हैं। अतएव इन असख्य प्राणियो की आंखो के रूप मे उसकी असख्य आंखें है और असख्य कानो, हाथो आदि के रूप मे उसके असख्य अन्य अवयव भी हैं। इस तरह वह ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त होकर नानाप्रकार के कार्य करता रहता है। उसी का प्रकाश तारागण, सूर्य, अग्नि, बिजली, नानारत्न, विविधि मणियो आदि मे दिखाई देता है और उसी की प्रभुता पृथ्वी, पानी, पवन, नभ, वृक्ष, खग आदि मे दिखाई देती है।[3] इस तरह इन सभी बातो के आधार पर यह स्पष्ट पता चलता है कि वह ब्रह्म विश्व रूप है। वह सम्पूर्ण विश्व मे व्याप्त है और सारा विश्व उसमे समाया हुआ है।[4] अत. कवि ने विश्वात्मा

---

१ ऐतरेय उपनिषद् १-२, तैत्तिरीयोपनिषद् २।१

२. महाकवि हरिऔध, पृ० १७३

३. प्रियप्रवास १६।१०७-११०

४ ये बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम मे-विश्व मे प्राणप्यारा ॥१६।११२

या ब्रह्म को सर्वत्र व्याप्त कहकर भिन्नता मे भी अभिन्नता, भेद मे भी अभेद एव द्वैत मे भी अद्वैत की स्थापना करते हुए ऐसे सिद्धान्त की ओर सकेत किया है, जिसे अपनाने के कारण मानव समस्त प्राणियो को अपने समान ही समझता हुआ 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के अनुकूल आचरण कर सकता है और अन्य सभी प्राणियो को सुखी बनाता हुआ स्वय भी परमसुख या परम शान्ति को प्राप्त कर सकता है।

जीव की कर्मानुसार गति—भारतीय दर्शन के अनुसार जब आत्मा शरीर के बधन को स्वीकार करता है, तब उसे 'जीव' नाम से अभिहित किया जाता है। इस जीव को अपने कर्मानुसार नाना शरीर धारण करने पडते है। मृत्यु के उपरान्त यह जीव अपने स्थूल शरीर को तो छोड़ देता है, परन्तु सूक्ष्म-शरीर से, जो लिंग शरीर भी कहलाता है, वह जकडा रहता है। परन्तु जो जीव अपने पुण्यकर्मों द्वारा अथवा साधना द्वारा आत्मतत्व को पहचान लेता है, वह देवयान या अर्चिमार्ग द्वारा ब्रह्मलोक या सत्यलोक मे चला जाता है, जहाँ से फिर उसे वापिस नही आना पडता।[1] शैवदर्शन मे भी आत्मा को स्वतन्त्र और जीव को परतन्त्र या बधन मे पडा हुआ माना है। इसके बधन का कारण बतलाया है कि यह माया-जन्य अज्ञान से आवृत रहता है तथा आणव आदि मलो से सकुचित रहा आता है।[2] जैनदर्शन मे भी जीव को कर्मों के कारण ससार-बधन मे पडा हुआ बतलाया गया है। बौद्ध भी जीव को कर्म-बधन मे बँधा हुआ मानते हैं और रूप, वेदना, सज्ञा, सस्कार तथा विज्ञान नामक पाँच स्कधो के समुच्चय रूप मे उसकी व्याख्या करते हैं। वे जीव को 'नाम रूपात्मक' कहते हैं। इसकी बधन-मुक्ति के लिए बौद्धदर्शन मे अष्टागिक मार्ग बताया गया है, अर्थात् सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सकल्प, सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति और सम्यक् समाधि द्वारा जीव ससार के कर्म-बधनो से मुक्त हो जाता है।[3] इस तरह भारतीय दार्शनिको ने जीव को नाना प्रकार के बधनो मे ग्रस्त दिखाकर ससार मे सकट सहन करता हुआ बताया है और इन

---

१ भारतीय सस्कृति, पृ० २१६

२ "मायाप्रमातृन्त सकोचोऽवभासितः स एव शिवादिभेदाख्यात्यात्मकाज्ञान स्वभावोऽपूर्णम्मन्यतात्मकाणवमलसतत्त्वसंकुचित ज्ञानात्मा बन्ध।"

—शिवसूत्रविमर्शिनी, पृ० १२

३. बौद्धदर्शन—बलदेव उपाध्याय, पृ० ७४–८१

सकटो से बचने के लिए अनेकानेक मार्ग सुझाये हैं। परन्तु सभी एक मत से यह कहते हैं कि पापकर्म करने के कारण जीव बधन मे पड़ता है और पुण्य-कर्मों के कारण वह इन बधनो से सर्वथा दूर रह कर परम शान्ति या मोक्ष अथवा मुक्ति को प्राप्त कर लेता है। हरिऔधजी ने 'प्रियप्रवास' मे भी जीवो की इसी गति की काव्यात्मक व्याख्या करते हुए पूतना, कस, कालीनाग, व्योमासुर, अघासुर, केशी, चाणूर, मुष्टिक आदि के रूपो मे ऐसे नारकीय जीवो का वर्णन किया है, जो समाज को पीडा पहुँचाते हुए नाना प्रकार के पापकर्म करते रहते हैं और अपने पाप-कर्मों के कारण ही दुर्गति को प्राप्त होते हैं[1] और राधा एव श्रीकृष्ण के लोकपावन चरित्र द्वारा यह दिखाया है कि पुण्यकर्म करने वाले जीव केवल एक स्थान को ही सुख और शान्ति से सम्पन्न नहीं बनाते, अपितु अपने सत्कर्मों शुभप्रेरणाओ एव परोपकारादि के द्वारा सम्पूर्ण जगती मे सुख और शान्ति की स्थापना करते हैं। यहां राधा और श्रीकृष्ण के लोक-सेवा एव लोक-हित सबधी पुण्यकार्यों मे जीव के समस्त पुण्यकर्मों की जो काव्यात्मक व्याख्या की गई है, वह सर्वथा अनुकरणीय एव स्पृहणीय है। श्रीकृष्ण का विनम्र होकर सबसे मिलना, कलह-विवाद को शान्त कराने का प्रयत्न करना, लघु व्यक्तियो को शिक्षा देना तथा रोगी, दुखी, एव आपद् ग्रस्तो की सेवा करना एक पुण्यात्मा जीव के शुभ कर्मों की ओर सकेत कर रहा है।[2] ऐसे ही राधा को समस्त व्रजजनो के सताप दूर करने का प्रयत्न करते हुए गोप एव गोपियो को सात्वना देना, उनके समीप जाकर उनके कष्टो का निवारण करना, दु खी गोप-बालको को शिक्षा देना एव कृष्ण लीलायें कराना, दुखित प्राणियो को वेणु, वीणा आदि बजाकर एव श्रीकृष्ण की लीला का गान करके समझाना आदि कितने ही ऐसे लोकहितकारी कार्यों मे लीन चित्रित किया है,[3] जो एक पुण्यात्मा जीव के उन समस्त पुण्यकर्मों के परिचायक हैं, जिनसे वह ससार के बन्धन के मुक्त होकर स्वय सुख एव शान्ति का अनुभव करता हुआ सम्पूर्ण विश्व के मानवो को भी परमसुख और शान्ति प्राप्त करने की प्रेरणा प्रदान करता है। यही कारण है कि राधा अपने शुभ कार्यों द्वारा सम्पूर्ण कलह-जन्य दुर्गुणो को दूर कर देती थी, मलिन मन

---

१. पर किसी चिर सचित-पुण्य से। गरल अमृत अर्भक को हुआ।
विषमयी वह होकर आप ही। कवल काल-भुजगम का हुआ। २।३५

२ प्रियप्रवास १२।८०-८७

३ वही १७।२९-४६

मे व्याप्त सम्पूर्ण कालिमाओ को धो देती थी, सभी प्राणियो के हृदय-तल मे भावज्ञता का बीज बोदेती थी और चिन्ता से व्याप्त घरो मे शान्ति-धारा बहा देती थी।[1] इस प्रकार कवि ने पाप और पुण्य दोनो मे फंसे हुए जीवो की ओर सकेत करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह बताया है कि काम, क्रोध, लोभ, मोह तृष्णा आदि से परिपूर्ण पाप कर्मों के करने से जीव बन्धन मे पडकर नारकीय यातनायें सहन करता है और परोपकार, लोकहित, लोकसेवा, विश्व-प्रेम आदि से परिपूर्ण पुण्य-कर्मों मे लीन रहने वाला जीव इहलोक मे शान्ति एव सुख की धारा बहाता हुआ परलोक मे भी अखड सुख एव अनत शान्ति को प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यहाँ कवि ने प्राचीन विचारो को नवीनता के साथ सुन्दर काव्यात्मक रूप प्रदान किया है। साथ ही कवि ने यहाँ किसी भी स्थान पर यह नही लिखा है कि कोई असुर श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त होकर मुक्ति या मोक्ष को प्राप्त हुआ था, अपितु सभी दुर्गति को प्राप्त हुए, भयकर मृत्यु को प्राप्त हुए आदि लिखा है, जिससे स्पष्ट ही कवि ने यह घोषित किया है कि बुरे कर्मों का बुरा परिणाम एवं शुभ कर्मों का शुभ एव मगलमय परिणाम होता है। कवि के ये विचार भी जीवन को समुन्नत बनाने मे अत्यत प्रेरणा देने वाले हैं।

ससार की परिवर्तनशीलता—भारतीय मनीषियो ने ससार को गतिशील माना है। यहाँ निरतर पदार्थों का उद्‌भव, विकास और ह्रास होता रहता है, क्योकि जगत् के सभी जीव एव सभी पदार्थ नित्य बनते-बिगड़ते रहते हैं। उपनिषदों में कहा भी गया है कि उस ब्रह्म से ही समस्त भूतो की उत्पत्ति होती है, वे कुछ समय तक स्थिर रहते हैं और अत मे उसी मे सब विलीन हो जाते हैं।[2] यह उत्पत्ति एव विलीनता का कार्य निरतर चलता रहता है। इसी कारण यहाँ सदैव एक सी स्थिति नही रहती। दिन और रात की तरह सुख और दुख चलते रहते हैं और चक्र की अराओ की भाँति सभी वस्तुएँ निरतर गतिशील रही आती हैं। कभी समुद्र मरुस्थल बन जाता है, मरुस्थल समुद्र बन जाते हैं। पर्वत मैदान हो जाते हैं, मैदान पर्वत बन जाते हैं नद सूखकर खेत बन जाते हैं और खेत जलमग्न होकर नद बन जाते हैं। हिम-आतम, दुख-सुख लाभ-हानि, हर्ष-शोक आदि का चक्र बराबर चलता रहता है 'जगत्' शब्द तो

---

१. प्रियप्रवास १७।४७

२ यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते तेन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति—तै० उपनिषद् ३।१

स्पष्ट ही गमनशीलता एव गतिशीलता का द्योतक है इसी तरह 'ससार' शब्द भी ससरणशीलता, गतिशीलता एव आवागमन की ओर सकेत करता है। इसी लिये कुछ विद्वानो ने ससार को निस्सार, कुछ ने असत्य, कुछ ने मिथ्या एव कुछ ने परिवर्तनशील कहा है। हरिऔधजी ने केवल ससार की परिवर्तन शील स्थिति की ओर ही 'प्रियप्रवास' मे सकेत किया है। सर्व प्रथम तो हरिऔधजी तुलसी आदि महात्माओ की तरह यह मानते हैं कि यह ससार उस चित्रकार की चित्रमयी रचना है जिसे देख-देखकर उसे भी दु ख होता है, क्योकि उसकी यह रचना किसी न किसी प्रकार के सकट मे ही लीन रही आती है और इसे वह कभी सदैव सुख और आनद मे लीन नही देखता।[1] कवि की दृष्टि मे इस दुःख का मूल कारण यहाँ की परिवर्तनशीलता है, क्योकि यहाँ पर प्राय. यह देखा जाता है कि कुछ घडी पूर्व ही जिस भूमि मे प्रमोद का प्रवाह तीव्र गति से वह रहा था, उसी रस-प्लावित भूमि मे कुछ घडी ही उपरान्त विपाद का तीव्र स्रोत वहता दिखाई देता है।[2] जहाँ पर कुछ घडी पूर्व स्वर की मधुर लहरियाँ पवन मे अधिकाधिक गूँजती हुई सुनाई पड़ती थी तथा सुन्दर सलाप आदि सुनाई पडते थे, कुछ ही समय के उपरान्त वहाँ नीरवता छाई हुई दिखाई देती है।[3] यह परिवर्तन केवल मानव-समाज तक ही सीमित नहीं, अपितु प्रकृति मे भी विद्यमान है। वहाँ भी विभिन्न ऋतुओ अथवा ग्रीष्म-शीत, वर्षा-शरद आदि के रूप मे वर्तमान रहता है। यह परिवर्तन किसी को नहीं देखता। जो कमल अत्यत सौंदर्य एव माधुर्य के साथ सरोवर मे विकसित होता है, उसकी सुकुमार पंखुडियो को भी हिम-पात के द्वारा यह नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है और उसे विकसित नही रहने देता। इसी

धाता ने हो दुखित नव के चित्रितों को विलोका। ७।१

तुलसीदासजी ने भी जगत को चित्र मानकर 'विनयपत्रिका' मे लिखा है :—

केसव, कहिन जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिये।
सून्य भीति पर चित्र, रग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे॥ १११

२ कुछ घडी पहले जिस भूमि मे, प्रवहमान प्रमोद-प्रवाह था।
अब उसी रस-प्लावित भूमि मे, बह चला खर स्रोत विषाद का। २।२०

३ प्रथम थी स्वर की लहरी जहाँ पवन में अधिकाधिक गूँजती।
कल अलाप सुप्लावित था जहाँ, अब वहाँ पर नीरवता हुई। १।५०

तरह जो चद्रमा अपनी उज्ज्वल एव अमृतमयी कलाओ द्वारा रजनी के सौंदर्य एवं माधुर्य की वृद्धि करता हुआ जब पूर्ण विकसित होता है, तभी खल राहु उसे निगलकर उसके सौंदर्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालता है।[1] इस प्रकार ससार मे प्राय. यह देखा जाता है कि जिस घर मे सुख अपने दिव्य रूप के साथ सुदर नृत्य करता हुआ दिखाई देता है, वह आनदपूर्ण सुदर घर भी दुख के लेश से कभी बच नही पाता।[2] इस प्रकार कवि ने ससार के इस विराट परिवर्तन की ओर सकेत करते हुए मानवो को सचेत एव सावधान होने के लिये चेतावनी दी है और बताया है कि ससार की इस वैभवमयी स्थिति मे लीन होकर यह कभी नही भूलना चाहिए कि ऐसी स्थिति सदैव नही रहती, यह स्थिति भी परिवर्तनमयी है, आज है कल नही रहेगी और यह वैभव भी नष्ट हो जायेगा। निस्सदेह कवि के ये विचार अत्यत प्रेरणा एव प्रोत्साहन प्रदान करने वाले हैं क्योंकि कवि ने ससार को निस्सार, मिथ्या, क्षणभगुर अथवा असत्य नहीं कहा है, अपितु उसकी परिवर्तनशीलता की ओर ही सकेत किया है।

नैतिक व्यवस्था—भारतीय दर्शन में नैतिक व्यवस्था पर सर्वाधिक बल दिया गया है। वहाँ पर इस व्यवस्था को 'ऋत' कहा गया है और ऋग्वेद मे इस 'ऋत' को सत्य से भी पहले उत्पन्न होता हुआ बतलाया गया है।[3] भारतीय मनीषियो ने किसी न किसी प्रकार इस 'ऋत' को मानव-जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित माना है। इसके पीछे मानव-जीवन का वह विचार छिपा हुआ है, जिससे सदाचार, सद्भावनायें, सत्कार्य, सत्प्रेरणा आदि का जन्म होता है और जिनसे मानव असत्य से हटकर सत्य मार्ग पर अग्रसर होता है। यही वह व्यवस्था है जिसके लिए भर्तृहरि ने 'न्यायपथ' कहा है और बताया है कि चाहे नीति-निपुण व्यक्ति निन्दा करें या स्तुति करें, चाहे यथेष्ट लक्ष्मी प्राप्त हो अथवा न हो, चाहे अभी मृत्यु हो अथवा बहुत काल के उपरान्त

---

१. कमल का दल भी हिमपात से, दलित हो पड़ता सवकाल है।
कल कलानिधि को खल राहु भी, निगलता करता वह क्लान्त है।४।२१

२. सुख जहाँ निज दिव्य स्वरूप से, विलसता करता कल-नृत्य था।
अहह सो अति सुंदर सद्म भी। बच नहीं सकता दुख लेश से।४।२३

३ ऋत च सत्य चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत—ऋग्वेद १०।१९०।१

चचलता एव भोगो की लालसा जाग्रत होती है और रजोगुण से आसक्ति एव अज्ञान की वृद्धि होती है।[1] परन्तु सारी अविद्या अथवा सारे बधन का मूल कारण मोह या आसक्ति है जिससे काम, क्रोध, विस्मृति, राग-द्वेष आदि उत्पन्न होते हैं, जो मानव को उदासीन नही रहने देती और जिसके छोड़ने पर ही मानव बधन से मुक्त हो सकता है।[2] प्रियप्रवास मे हरिऔधजी ने भी 'मोह' को सारे अनर्थों की जड बताया है और कहा है कि यह मोह ही प्राणी को नाना प्रकार के स्वार्थ एव सुख की वासनाओ मे लीन कर देता है, जिससे उसका चित्त आवेगो एव ममत्व से परिपूर्ण हो जाता है।[3] इसी मोह के कारण नद-यशोदा यहाँ श्रीकृष्ण के लिए रोते-झीखते हुए दिखाये गये है, इसी मोह के कारण गोप एव गोपियाँ रातदिन रोती रहती हैं और इसी मोह के बारे मे "मैं मानूँगी अधिक मुझ मे मोहमात्रा अभी है"[4] कहकर राधा भी दुःखी एव बेचैन दिखाई देती है। इसी मोह के कारण सभी गोकुल के प्राणी जिस तरह व्यथित एव बेचैन दिखाये गये हैं, उसी तरह यह मोह ससार के समस्त प्राणियो को व्यथित एव बेचैन बनाता रहता है और ज्ञान को आवृत करके प्राणियो को अविद्या या अज्ञान के जाल मे फँसाये रहता है। कवि ने 'प्रियप्रवास' मे मोह या आसक्ति-जन्य वेदना का चित्र अकित करते हुए यह दिखाने की चेष्टा की है कि मानव को अविद्या मे ग्रस्त करने वाला यह मोह ही है। इसी कारण उद्धव जी गोपियो को योग द्वारा भ्रमित मन को सम्हालने की सलाह देते है और बताते हैं कि वासना-मूर्तियो को देखकर तुम भ्रम और मोह मे मत पडो और सम्पूर्ण स्वार्थों को जगतहित के लिए आनद सहित त्याग दो। तब तुम्हारा सारा दुःख शान्त हो जायेगा और अनुपम शान्ति मिलेगी।[5] इस मोह को छोडने की शक्ति अन्य किसी व्रजवासी मे तो दिखाई नही देती। परन्तु राधाजी पूर्णतया मोह को छोड़कर समत्व बुद्धि एवं सहृदयता से परिपूर्ण दिखाई देती है। इसी कारण कवि ने लिखा है कि जैसी मोहावरित तामसीरात व्रज मे छाई हुई थी, वैसे ही राधा उसमे कौमुदी के

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १४

२ वही २।६१–६४

३ नाना स्वार्थों सरस-सुख की वासना-मध्य डूबा।
आवेगों से चलित ममतावान है मोह होता।१६।६३

४ प्रियप्रवास १६।१३०

५. वही १४।३९

तुल्य शोभा देती थी अर्थात् मोह या आसक्ति को छोडकर संसार के कल्याण में लगी रहती थी।[1] इस तरह कवि ने भी मोह या आसक्ति से उत्पन्न अविद्या या अज्ञान को ससार के बधन का कारण बताकर उसके परित्याग की सलाह दी है और ससार के समस्त जीवो के कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है।

श्रेय के साधन—तदनतर कवि के वे विचार आते हैं, जिन्हें उसने मानव-कल्याण के लिए, ससार के श्रेय के लिए अथवा जगत्हित के लिए अत्यत आवश्यक समझा है। श्रेय और प्रेय दोनो शब्द उपनिषदों मे आए हैं। कठोपनिषद् मे इन दोनो की ओर सकेत करते हुए बताया गया है कि धीर पुरुष तो भलीभाँति विचार करके अपने कल्याण के लिए 'श्रेय' को अपनता है और मूर्ख पुरुष लौकिक योग-क्षेत्र की इच्छा से भोगो के साधन रूप 'प्रेय' को अपनाया करता है।[2] इससे स्पष्ट है कि श्रेय से तात्पर्य उन कार्यों एव विचारो से है, जो अन्त में कल्याणकारी होते हैं और प्रेय से तात्पर्य ऐसे कार्यों एव विचारो से है, जो भोगो की भाँति अन्त मे अमगलकारी एव कष्ट देने वाले होते हैं। इसीकारण श्रेय प्रारम्भ मे कटु एव अन्त मे सुखद होता है और प्रेय प्रारम्भ मे सुखद और अन्त मे कटु होता है। यही कारण है कि मनीषी विद्वान् अथवा क्रातदर्शी कवि सदैव ऐसे विचारो एव ऐसे कार्यों को जनता के सम्मुख रखना अधिक समीचीन समझते हैं, जिन्हें अपनाकर मानव कल्याण की ओर अग्रसर हो, श्रेय के अनुयायी बनें और प्रेय की ओर न मुडें अथवा भोगो मे लिप्त होकर सकट सहन न करें। महाकवि हरिऔधजी ने भी अपने 'प्रियप्रवास' मे कुछ ऐसे ही विचारों की ओर सकेत किये हैं, जिन्हे हम मानव-जीवन के लिए कल्याणकारी समझते हैं और जो मानव के श्रेय के लिए साधन बन सकते हैं। उन विचारो मे से कुछ इस प्रकार हैं —

(१) **निष्काम कर्म**—हरिऔधजी ने सर्वाधिक बल ऐसे सत्कार्यों पर दिया है, जो सभी प्रकार की कामनाओ से रहित होकर किये जाते हैं। ऐसे

---

१ जैसी मोहावरित ब्रज मे तामसी-रात आई।
वैसे ही वे लसित उसमे कौमुदी के समा थीं। १७।५०

२ श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस् तौ सम्परीत्य विविनक्तिधीर.।
श्रेयोहि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥
—कठोपनिषद् १।२।

कार्यों को ही श्रीमद्भगवद्गीता में 'निष्काम-कर्मयोग' कहा गया है। वहाँ पर भगवान् कृष्ण ने सभी प्रकार की आसक्ति या कामनाओं को त्यागकर किये जाने वाले कर्मों को ही अत्यधिक महान् एवं उत्कृष्ट बताया है और अर्जुन से कहा है कि "हे धनंजय ! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि में समान बुद्धि वाला होकर योग में स्थित होता हुआ कर्मों को कर, यह समत्व भाव ही योग कहा जाता है।"[1] गीता के ऐसे निष्काम-कर्म-योग सम्बन्धी समत्व भाव वाले कार्यों को हरिऔधजी ने अत्यधिक महत्व दिया है और अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि वे एक योगी की ही भाँति सम्पूर्ण लिप्साओं से भरी हुई सैकड़ों लालसाओं का दमन करते हुए सदैव निष्काम भाव से जगत-हित सम्बन्धी कार्यों में लीन रहते हैं। वे सर्व प्रथम अपने कर्त्तव्य की मीमांसा करते हैं, फिर वे धीरता के साथ उसमें लीन हो जाते हैं और किसी वांछा के विवश होकर अथवा किसी वासना से लिप्त होकर वे कभी अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते। यदि गुरुजनों की सेवा करते समय उन्हें किसी की आर्त्तवाणी सुनाई देती है, तो वे बड़ों की सेवा छोड़कर पहले उसे शरण देते हैं। ऐसे ही यदि उन्हें कहीं आग लगी हुई दिखाई देती है, तो सारे कार्य छोड़कर पहले उसे बुझाने का प्रयत्न करते हैं। इसी तरह उन्हें यदि उनके किसी प्रिय अथवा अन्य किसी भी प्राणी को कोई दुष्ट कहीं सताता हुआ दिखाई देता है, तो सर्वप्रथम वे अपनी वेदनाओं को भूलकर उसे मुक्त करने तथा दुष्ट को दंड देने का कार्य करते हैं। इस प्रकार वे सदैव निर्लिप्त होकर जनता की भलाई के लिए ऐसे-ऐसे कार्य करते रहते हैं, जिनमें सदैव लोक का लाभ ही निहित रहता है और उनका अपना कोई लाभ या स्वार्थ निहित नहीं होता।[2] कवि के इस वर्णन में निष्काम कर्म की महत्ता को अत्यन्त सजीवता के साथ अंकित किया गया है। इस वर्णन का उद्देश्य यही है कि मानव इस 'निष्काम कर्म' की भावना को अपनाकर श्रीकृष्ण की भाँति अपने जीवन को भी श्रेयस्कर बनाने की चेष्टा करे और सर्वत्र जन-हित को ही प्रमुखता दी जाय। इसीकारण कवि ने निस्स्वार्थ एवं निष्काम लोकसेवा को 'भव के श्रेय का मर्म' कहा है[3] और इसी

---

१. योगस्थ कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ २४८

२ प्रियप्रवास १४।२१-३०

३ वही १४।३५

निस्स्वार्थ भूतहित अथवा निष्काम भाव से की हुई लोकसेवा के द्वारा मानव को विश्ववद्य श्रीकृष्ण की भाँति ही ससार मे पूज्यभाव, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि को प्राप्त करता हुआ वतलाया है।[1] अतएव मानव की उन्नति एव प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसके कल्याण के लिए 'निष्कामकर्म' सबधी भावना अत्यत अपेक्षित है।

(३) सात्विक जीवन—जीवन की सफलता सदैव सरल एवं शुचि पूर्ण जीवन-व्यतीत करने मे ही है और सात्विक जीवन से तात्पर्य भी ऐसे ही जीवन से है, जो सम्पूर्ण छल-छद्मो से परे सरलता, शुचिता, पवित्रता, सादगी, सौम्यता, उदारता आदि से परिपूर्ण हो। ऐसा जीवन सदैव सतोष सुख एव शान्ति से भरा रहता है, उसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि हलचल पैदा नही करते और वह सदैव सयम-नियम से अनुशासित होने के कारण समाज के लिए भी कल्याणकारी होता है। इसके विपरीत नाना प्रकार के भोगो, विविध वासनाओ, मलिनताओ एव क्रूरताओ से भरा हुआ असात्विक जीवन न केवल व्यक्ति के लिए ही हानिकारक होता है, अपितु समाज एव राष्ट्र के लिये भी सदैव अहितकर माना गया है। भारतीय मनीषियो ने इसी कारण सात्विक जीवन को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। श्रीमद्भगवद् गीता मे सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिये सात्विक आहार, सात्विक यज्ञ, सात्विक तप, सात्विकदान, सात्विक त्याग, सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति, सात्विक सुख आदि का बडा ही विशद वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है कि यदि मानव सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे आयु, बुद्धि, वल, आरोग्य, सुख और प्रीति को वढाने वाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को रुचिकर आहारो का प्रयोग करना चाहिए।[2] जो व्यक्ति सात्विक यज्ञ करना चाहते हैं उनके लिए वताया गया है कि मन का समाधान करके फल की तनिक भी इच्छा न करते हुए शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करना चाहिए।[3] इसी तरह सात्विकदान के वारे मे वताया गया है कि जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर किसी प्रकार का प्रत्युपकार करने की अभिलाषा न रखकर तथा दान देना ही है ऐसा भाव मन

---

१. प्रियप्रवास १२।९०

२ श्रीमद्भगवद्गीता १७।८

३ वही १७।११

कार्यों को ही श्रीमद्भगवद्गीता मे 'निष्काम-कर्मयोग' कहा गया है। वहाँ पर भगवान् कृष्ण ने सभी प्रकार की आसक्ति या कामनाओ को त्यागकर किये जाने वाले कर्मों को ही अत्यधिक महान् एव उत्कृष्ट बताया है और अर्जुन से कहा है कि "हे धनजय ! आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि और असिद्धि मे समान बुद्धि वाला होकर योग मे स्थित होता हुआ कर्मों को कर, यह समत्व भाव ही योग कहा जाता है।"[1] गीता के ऐसे निष्काम-कर्म-योग सम्बन्धी समत्व भाव वाले कार्यों को हरिऔधजी ने अत्यधिक महत्व दिया है और अपने चरित्रनायक श्रीकृष्ण के जीवन की झांकी प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि वे एक योगी की ही भाँति सम्पूर्ण लिप्साओ से भरी हुई सैकड़ो लालसाओ का दमन करते हुए सदैव निष्काम भाव से जगत-हित सम्बन्धी कार्यों मे लीन रहते हैं। वे सर्व प्रथम अपने कर्त्तव्य की मीमासा करते हैं, फिर वे धीरता के साथ उसमे लीन हो जाते हैं और किसी वांछा के विवश होकर अथवा किसी वासना से लिप्त होकर वे कभी अपने कर्त्तव्य से च्युत नहीं होते। यदि गुरुजनो की सेवा करते समय उन्हे किसी की आर्त्तवाणी सुनाई देती है, तो वे बड़ो की सेवा छोडकर पहले उसे शरण देते हैं। ऐसे ही यदि उन्हे कहीं आग लगी हुई दिखाई देती है, तो सारे कार्य छोडकर पहले उसे बुझाने का प्रयत्न करते हैं। इसी तरह उन्हे यदि उनके किसी प्रिय अथवा अन्य किसी भी प्राणी को कोई दुष्ट कहीं सताता हुआ दिखाई देता है, तो सर्वप्रथम वे अपनी वेदनाओ को भूलकर उसे मुक्त करने तथा दुष्ट को दड देने का कार्य करते हैं। इस प्रकार वे सदैव निर्लिप्त होकर जनता की भलाई के लिए ऐसे-ऐसे कार्य करते रहते हैं, जिनमे सदैव लोक का लाभ ही निहित रहता है और उनका अपना कोई लाभ या स्वार्थ निहित नहीं होता।[2] कवि के इस वर्णन मे निष्काम कर्म की महत्ता को अत्यन्त सजीवता के साथ अकित किया गया है। इस वर्णन का उद्देश्य यही है कि मानव इस 'निष्काम कर्म' की भावना को अपनाकर श्रीकृष्ण की भाँति अपने जीवन को भी श्रेयस्कर बनाने की चेष्टा करे और सर्वत्र जन-हित को ही प्रमुखता दी जाय। इसीकारण कवि ने निस्स्वार्थ एव निष्काम लोकसेवा को 'भव के श्रेय का मर्म' कहा है[3] और इसी

---

१ योगस्थ. कुरु कर्माणि सग त्यक्त्वा धनजय।
सिद्ध्यसिद्ध्यो. समो भूत्वा समत्व योग उच्यते ॥ २४।८

२. प्रियप्रवास १४।२१-३०

३ वही १४।३५

निस्स्वार्थ भूतहित अथवा निष्काम भाव से की हुई लोकसेवा के द्वारा मानव को विश्ववद्य श्रीकृष्ण की भाँति ही ससार मे पूज्यभाव, सम्मान, प्रतिष्ठा आदि को प्राप्त करता हुआ बतलाया है।[१] अतएव मानव की उन्नति एव प्रतिष्ठा के साथ-साथ उसके कल्याण के लिए 'निष्कामकर्म' सबधी भावना अत्यत अपेक्षित है।

(३) सात्विक जीवन—जीवन की सफलता सदैव सरल एव शुचि पूर्ण जीवन-व्यतीत करने मे ही है और सात्विक जीवन से तात्पर्य भी ऐसे ही जीवन से है, जो सम्पूर्ण छल-छद्मो से परे सरलता, शुचिता, पवित्रता, सादगी, सौम्यता, उदारता आदि से परिपूर्ण हो। ऐसा जीवन सदैव सतोष सुख एवं शान्ति से भरा रहता है, उसमे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि हलचल पैदा नही करते और वह सदैव सयम-नियम से अनुशासित होने के कारण समाज के लिए भी कल्याणकारी होता है। इसके विपरीत नाना प्रकार के भोगो, विविध वासनाओ, मलिनताओ एव क्रूरताओ से भरा हुआ असात्विक जीवन न केवल व्यक्ति के लिए ही हानिकारक होता है, अपितु समाज एव राष्ट्र के लिये भी सदैव अहितकर माना गया है। भारतीय मनीषियो ने इसी कारण सात्विक जीवन को अत्यधिक महत्व प्रदान किया है। श्रीमद्भगवद् गीता मे सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिये सात्विक आहार, सात्विक यज्ञ, सात्विक तप, सात्विकदान, सात्विक त्याग, सात्विक कर्म, सात्विक बुद्धि, सात्विक धृति, सात्विक सुख आदि का बडा ही विशद वर्णन किया गया है। वहाँ लिखा है कि यदि मानव सात्विक जीवन व्यतीत करना चाहता है तो उसे आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले रसयुक्त, चिकने, स्थिर रहने वाले तथा स्वभाव से ही मन को रुचिकर आहारो का प्रयोग करना चाहिए।[२] जो व्यक्ति सात्विक यज्ञ करना चाहते हैं उनके लिए बताया गया है कि मन का समाधान करके फल की तनिक भी इच्छा न करते हुए शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करना चाहिए।[३] इसी तरह सात्विकदान के बारे मे बताया गया है कि जो दान देश, काल और पात्र के प्राप्त होने पर किसी प्रकार का प्रत्युपकार करने की अभिलाषा न रखकर तथा दान देना ही है ऐसा भाव मन

१. प्रियप्रवास १२।९०

२ श्रीमद्‌भगवद्‌गीता १७।८

३ वही १७।११

मे लाकर दिया जाता है, वही दान सात्विक कहलाता है।[१] ऐसे ही यह कर्म करना मेरा कर्त्तव्य है ऐसा समझकर जो शास्त्रोक्त विधि से निश्चित किया हुआ कर्म आसक्ति एव फल को त्यागकर किया जाता है उसी को सात्विक त्याग बताया गया है।[२] ऐसे ही राग-द्वेप को छोडकर किसी भी प्रकार के फल की इच्छा न करके तथा अहभाव से रहित होकर जो नियत कर्म किया जाता है, वही सात्विक कर्म कहलाता है[3] और ऐसे ही कर्म करने वाला सात्विक कर्त्ता माना गया है।[४] साथ ही ऐसी बुद्धि को सात्विक बुद्धि माना गया है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भय और अभय तथा बधन और मोक्ष को तत्वत. जानती है।[५] इसी तरह गीता मे सात्विक धारणा मे अव्यभिचारी भाव की प्रधानता बताते हुए और सात्विक सुख मे पहले विष के सदृश एव पीछे अमृत के सदृश्य दिखाई देने वाले सुख का रूप समझाते हुए दोनो की व्याख्यायें की गई हैं।[६] इन समस्त विवरणो का अनुशीलन करने के उपरान्त इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिए मानव को फल और कामना रहित होकर अपने नियत कार्य को बडी लगन एव अध्यवसाय के साथ करना चाहिए और कभी राग-द्वेष के वशीभूत नही होना चाहिए।

हरिऔधजी ने भी प्रियप्रवास मे आरम्भ से ही श्रीकृष्ण के ऐसे जीवन को चित्रित किया है, जिसमे राग-द्वेप से परे परोपकार एव लोकहित की प्रधानता है, जो कभी तामसी एव राजसी प्रवृत्तियो को अपने पास तक नही आने देते और जो सदैव व्यक्तिगत सुख एव भोगो की लालसाओं को छोडकर सर्व-भूतोपकार मे लगे रहते हैं। कवि को इसी कारण लिखना पडा है कि यद्यपि उनकी अवस्था अभी थोडी ही है, तो भी वे शुभ कार्यों मे नितान्त रत रहते हैं और उनके इस श्रेप्ठ स्वभाव को देखकर यह पूर्णतया सिद्ध होता है कि

---

१ श्रीमद्भगवद्गीता १७।२०

२ वही १८।९

३ वही १८।२३

४ वही १८।२६

५ वही १८।३०

६. वही १८।३३, १८।३७

वे महात्मा हैं ।[1] प्राय. विद्या, सुसगति, सुनीति एव शिक्षा तो क्रमिक विकास पर निर्भर हैं अर्थात् जो जितना चाहता है, उतना ही इन्हे प्राप्त कर सकता है, परन्तु पृथ्वी पर अच्छे या बुरे और मलिन या दिव्य स्वभाव की प्राप्ति तो निसर्ग-सिद्ध है अर्थात् ईश्वर की महती अनुकम्पा अथवा प्राकृतिक अज्ञात शक्तियो की अनुकूलता से ही मानव दिव्य स्वभाव को प्राप्त करता है और उनकी प्रतिकूलता के कारण ही वह मलिन स्वभाव वाला बन जाता है ।[2] यद्यपि कवि के इस कथन मे पर्याप्त सत्य विद्यमान है और कहा भी गया है कि "स्वभावो दुरतिक्रम" अर्थात् स्वभाव कभी बदलता नही, फिर भी यदि मानव चाहे और प्रयत्न करे तो वह अपने बुरे स्वभाव को बदल सकता है। कवि ने श्रीकृष्ण के लोकपावन एव दिव्यचरित्र का वर्णन करके यही सकेत किया है कि उनकी तरह आचरण करता हुआ व्यक्ति निस्सदेह शुचिता, पवित्रता, उदारता, राग-द्वेष-हीनता आदि से परिपूर्ण होकर सात्विक एव शुभ कर्मों मे लीन हो सकता है और जीवन के अभीष्ट फल को प्राप्त कर सकता है। इस तरह कवि ने सम्पूर्ण काव्य मे सात्विकता को महत्व देते हुए जिस तरह श्रीकृष्ण के जीवन को अकित किया है, वैसे ही राधा भी सात्विकता की मूर्ति बनी हुई है। वे आजीवन कौमार व्रत का पालन करती हुईं सात्विक जीवन व्यतीत करती हैं। उनमे भी वही सरलता, शुचिता, पवित्रता, भोगो के प्रति अनासक्ति राग-द्वेष-हीनता एवं अपने करणीय कर्मों के प्रति अत्यधिक रुचि विद्यमान है। अत कवि ने उक्त दोनो लोकपावन चरित्रो के द्वारा सात्विक जीवन के महत्व को प्रदर्शित किया है और बताया है कि जीवन मे परम सुख एव परम शान्ति की प्राप्ति सात्विक जीवन द्वारा ही हो सकती है।

---

१ थोड़ी अभी यदपि है उनकी अवस्था।
तो भी नितान्त-रत वे शुभ-कर्म्म में हैं।
ऐसा विलोक वर-बोध स्वभाव से ही।
होता सु-सिद्ध यह है वह हैं महात्मा। १२।९१

२. विद्या सुसगति समस्त सु-नीति शिक्षा।
ये तो विकास भर की अधिकारिणी हैं।
अच्छा-बुरा मलिन-दिव्य स्वभाव भू में।
पाता निसर्ग कर से नर सर्वदा है। १२।९२

(३) उच्च विचार—मानव-जीवन अपने विचारो के द्वारा ही निर्मित है। प्राय जैसे जिसके विचार होते हैं, वैसा ही वह वनता है। ससार मे यह देखा गया है कि एक वच्चा नीच मनोवृत्ति के कारण ही आगे चलकर अत्यत नृशस एव क्रूर वन जाता है और उच्च मनोवृत्ति वाला बालक वडा होने पर सदैव उदार एव महान् व्यक्ति वनता है। इन विचारो का सम्वन्ध जीवन से इतना घनिष्ठ है कि जीवन की प्रत्येक क्रिया विचारो के आधार पर ही होती है। इसी कारण भारतवर्ष मे पहले वचपन से ही वालक की चित्तवृत्तियो का शोधन करने के लिए अथवा उनके विचारो को समुन्नत वनाने के लिए गुरुकुल की शिक्षा को महत्व दिया जाता था। छोटी अवस्था में ही वालक गुरु के आश्रम मे रहकर ससार के सम्पूर्ण मोह-माया एव भोगो के वातावरण से दूर रह कर त्याग, सेवा, उदारता, सहिष्णुता, दया, आत्मसयम, परोपकार आदि के विचारो को अनायास ही सीख लेता था। गुरुकुल के अनुशासन मे रहकर उसे सयमित जीवन व्यतीत करने की आदत पड़ जाती थी और आज्ञापालन का विशिष्ट गुण उसकी नस-नस मे व्याप्त हो जाता था। महाभारत मे आई हुई घौम्यऋषि के शिष्य आरुणि उद्दालक की कथा प्रसिद्ध ही है कि किस तरह गुरु के आश्रम मे रहकर उद्दालक वेदशास्त्रो के पूर्ण ज्ञान के साथ-साथ आत्मसयम, आज्ञापालन, तत्परता, कार्य के प्रति तीव्र लगन, सहिष्णुता आदि उन्नत गुणो को भी सीख गया था। इसका कारण यह था कि गुरुकुल या गुरु के आश्रम मे एक शिष्य को सत्य वोलना, धर्म का आचरण करना, स्वाध्याय से प्रमाद न करना, सत्य कार्यों मे प्रमाद न करना, धर्म से प्रमाद न करना, कल्याण-कार्य आदि से प्रमाद न करने की जो शिक्षा मिलती थी और माता, पिता, गुरु एव अतिथि की सेवा मान-सम्मान आदि के वारे मे जो विचार पुष्ट हो जाते थे, उनका यह प्रभाव पडता था कि वह वालक गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करके भी उन उच्च विचारो से कभी विमुख नहीं होता था। गुरु की सेवा मे रहकर जव एक शिष्य इस तरह उच्च विचारो को ग्रहण कर लेता था, तव फिर यह सभव नहीं था कि वह आगामी जीवन में उन्हें भूल सके अथवा किसी और प्रकार का जीवन व्यतीत कर सके। इसके लिए एक कारण यह भी था कि उस शिक्षा-दीक्षा मे ही ऐसे विचार भरे रहते थे, जिनके अनुसार प्राय एक आचार्य अपने शिष्यो से कहा करता था कि माता की सेवा करने वाले वनो। पिता की सेवा करने वाले वनो। आचार्य की सेवा करने वाले वनो। अतिथि की सेवा करने वाले वनो। जो-जो वुरे कार्य हैं तुम्हे उनका अनुकरण नहीं करने चाहिए, परन्तु जो-जो सुदर कार्य

हैं अथवा जो-जो सुदर आचरण हैं, उनको तुम्हे अवश्य अपनाना चाहिए।[1] इन विचारो का यह प्रभाव पड़ता था कि वह शिक्षित विद्यार्थी जीवन मे कभी किसी प्रकार के दुराचार एव बुरे कार्यों मे लिप्त नही होता था और सदैव उच्चाशय होकर उन्नत कार्यों मे लीन रहता था, न्यायमार्ग पर चलता था, सत्कार्यों को करता हुआ अन्य व्यक्तियो को भी सन्मार्ग पर लाने का प्रयत्न करत था और ऐसे ही व्यक्तियो से देश एव समाज गौरव को प्राप्त होता था।

हरिऔधजी ने भी इसी तरह उन्नत विचारो को जीवन के लिए अत्यावश्यक माना है और श्रीकृष्ण के जीवन चरित के रूप मे मानवमात्र के लिए काव्यात्मक ढग से उनका चित्रण किया है। साथ ही आपने यह बताया है कि उन्नत आशय एव उच्च विचार वाले व्यक्ति ही लोभ-मोह, माया, काम, क्रोध आदि को जीतकर सारे समाज मे सुख और शान्ति की धारा बहाने का कार्य करते हैं, पापियो, दुष्टो एव दुरात्माओ से समाज की रक्षा करते हैं और पद-पद पर संकट मे ग्रस्त जर्जर समाज को आनद एव उल्लास पूर्ण बनाकर सर्वत्र मानवता का प्रचार किया करते हैं। उच्चाशय एव उच्चविचार वालो की विशेषता ही यह होती है कि वे मोह या वासना के शिकार होकर समाज-सेवा या विश्व-शान्ति के कार्यों से विमुख नही होते, अपितु श्रीकृष्ण की भाँति पारिवारिक स्नेह, प्रियजनो का उत्कट प्रेम, सखाओ की प्रीति आदि की परवा न करके उत्तरोत्तर आगे बढ़ते रहते हैं। उनके सम्मुख किसी एक परिवार का सुख या आनद नहीं रहता, वरन् वे सम्पूर्ण समाज एव सम्पूर्ण विश्व मे शान्ति एव सुख की स्थापना करने के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। अपने इसी उद्देश्य मे लीन रहने के कारण ही श्रीकृष्ण को शोभाशालिनी व्रजभूमि, प्रेमास्पदा गोपिकायें, प्रीति-प्रतीति की साकार प्रतिमा माता यशोदा, वात्सल्यधाता पिता नद, प्यारे गोपकुमार, प्रेम-मणि रूप गोपीगण, प्रेम की साकारमूर्ति दिव्यागना राधा आदि को छोडकर मथुरा जाना पड़ा था[2] और अपने इन्ही उच्च विचारो के कारण वे व्रजभूमि के प्राणियो के प्रेम से व्यथित तो होते रहते थे, परन्तु मथुरा से लौटकर पुन गोकुल नही आये। क्योकि वे जानते थे कि स्थानीय मोह, गभीर स्नेह, प्रगाढ प्रेम और

---

१. मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

२ प्रियप्रवास ६।४

चित्ताकर्षक सौंदर्य उनके मार्ग के बाधक बनकर उन्हे कर्त्तव्य-पथ से च्युत कर सकते थे। कवि ने इसी तरह सम्पूर्ण काव्य मे उच्च विचारो का समावेश करके यह दिखाने की चेष्टा की है कि श्रीकृष्ण की भांति एक साधारण व्यक्ति भी पुरुषोत्तम बन सकता है। परन्तु उसके लिए अपेक्षित है कि वह भोगो की लालसा, सम्पूर्ण स्वार्थमयी कामनायें, लिप्सायें आदि छोडकर सभी छोटे-बडो के हित मे लीन रहे, दुख के दिनो मे दूसरो की सहायता करे, अत्यत प्यार के साथ सभी से मिले, बडो के प्रति विनम्रता का वर्त्ताव करे, सभी से शिष्टतापूर्वक वातें करे, कभी भूलकर भी किसी को अप्रिय लगने वाली वातें न करे, दूसरो के विरोध की वातो मे रुचि न दिखाये, कभी भूलकर भी दूसरो पर अप्रसन्नता प्रकट न करे, सदैव बरावर वालो से भी प्रीतिपूर्वक मिले, अपने से छोटो को प्रसन्न वनाने की चेष्टा करे और सदैव लोक-हित या लोक के लाभ को महत्व देता हुआ अपने वैयक्तिक लाभ या वैयक्तिक सुख की चिन्ता न करे।[1] कवि के विचार से उच्चविचारो मे लीन रहने वाला उत्तम व्यक्ति वही है जो आत्मीय सुख की परवा न करके अपनी समस्त लिप्साओं, भोगो की कामनाओ एव मधुर लालसाओ को जगत-हित के लिये उत्सर्ग कर देता है, जो किसी प्रकार के स्वार्थ या लोभ के वशीभूत न होकर सदैव लोक-सेवा मे लगा रहता है, जैसे एक मात्र सर्वभूतोपकार ही प्रिय है और जो समष्टि के लिये व्यष्टि-वलिदान को महत्वपूर्ण समझता है।[2] कवि का दृढ मत है कि उच्चविचारो के उदय होते ही मानव के हृदय मे लोकहित एव विश्वप्रेम के भाव जाग्रत हो जाते हैं, वह फिर सकीर्णता को छोडकर उदारता को, भोगो को छोड़कर त्याग को और वैयक्तिकसुख की तुच्छ लालसाओ को छोडकर लोकसेवा को अपना लेता है। अतएव कवि ने मानव-जीवन को सुव्यवस्थित बनाने के लिए, उसे भौतिक पतन से आध्यात्मिक उन्नति की ओर ले जाने के लिये तथा श्रेयस्कर बनाने के लिए उच्च विचारो को अपनाना नितान्त आवश्यक बताया है।

(४) आत्मोत्सर्ग—भारतीय मनीषियो ने अत्यत प्राचीन काल से "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के महामत्र का उद्घोष करते हुए यह सकेत किया है कि यदि असत से सत की ओर, अधकार से प्रकाश की ओर, मृत्यु से अमरता की ओर, कष्टो से सुखो की ओर तथा अशान्ति से शान्ति की ओर

---

१ प्रियप्रवास १२।७९-८४

२, वही १६।४०-४६

बढ़ना चाहते हो, तो सभी प्राणियो को अपने समान समझो और अपनी आत्मा को ही चराचर जगत में व्याप्त देखते हुए संसार के प्राणियो के दु ख दूर करने के लिए, उन्हें शान्ति एवं सुख प्रदान करने के लिए अथवा उनको भी अपने समान आनन्दमग्न बनाने के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की चेष्टा करो। 'आत्मोत्सर्ग' का अर्थ ही यह है कि हम अपना कर्त्तव्य समझ कर निस्वार्थभाव से दूसरो के कल्याण के लिए कार्य करें तथा 'पर' के लिए 'स्व' का परित्याग करें। भारतीय मनीषियो ने 'आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेव तु' कहकर बताया है कि शरीर रथ है और इसके चलाने वाला सारथी आत्मा है। शरीर को आत्मा की सवारी नही करनी चाहिए, अपितु आत्मा को शरीर की सवारी करनी चाहिए। जो बात शरीर के साथ है, वही सम्पूर्ण जगत के साथ भी है अर्थात् आत्मा को जगत की सवारी करनी चाहिए, न कि जगत आत्मा की सवारी करने लगे और मनुष्य सब कुछ भूल कर जगत के बोझ से लद जाय। उसे तो स्वार्थ त्याग करके जगत का भोग करते हुए भी जगत के भोगों से बोझ को अपने ऊपर नही आने देना चाहिए, अपितु सारथि की भाँति इन्द्रियो का सयम करके अपना सर्वस्व जगत के लिए अर्पण कर देना चाहिए। इसी बात को समझाने के लिए हमारे यहाँ उपनिषदो मे कहा गया है—"यस्तु सर्वाणि भूतानि - आत्मन्येवानुपश्यति, सर्वभूतेपु चात्मान ततो न विचिकित्सति' अर्थात् जो व्यक्ति प्राणिमात्र को विश्वात्मा में पिरोयें हुए मनको की तरह देखता है, और हर प्राणी मे उसके शरीर को नही, परन्तु उसके आत्मतत्व को ही यथार्थ समझता है, उसी को वास्तविक ज्ञान है। जैसा मैं हूं, वैसे ही दूसरे हैं, सभी में एक आत्मतत्व ही विकास पारहा है, मेरे भले मे सबका भला, सबके भले मे मेरा भला है—यह है भारतीय सस्कृति का आत्मोत्सर्ग सम्बन्धी दृष्टि कोण जिसकी आज नितात आवश्यकता है।[1] यहाँ यह स्पष्ट समझाया गया है कि स्वार्थ को नही, परार्थ को अपनाने का प्रयत्न करो, क्योकि स्वार्थ से तो स्वार्थ का ही जन्म होता है, और उससे सच्चे आत्मतत्व का विकास नही होता। सच्चे आत्मतत्व का विकास उसी समय होगा जब स्वार्थ परार्थ को जन्म देने लगे। इसी के लिए यहाँ ससार को अपना ही रूप मानकर उसकी सेवा-सुश्रूपा, उसके लिए सब कुछ त्याग, उसकी उन्नति के लिए सारे प्रयत्न आदि करने पर जोर दिया गया है।

---

१. आर्य-संस्कृति के मूल तत्व, पृ० १११

हरिऔधजी ने भी मानव-जीवन के इस मार्मिक तत्व को भली प्रकार समझकर 'प्रियप्रवास' मे उसे महत्व प्रदान करते हुए लिखा है कि ससार मे नाना प्रकार के सुख और भोगो की लालसायें अत्यत प्रिय और मधुर होती हैं, परन्तु जगत-हित की लिप्सा उनसे भी कही अधिक सुदर होती है, क्योकि ऐसी इच्छा आत्मा को मुक्ति प्रदान करती है और उससे मानव के हृदय मे आत्मोत्सर्ग की अभिलाषा और भी विशदता के साथ जाग्रत होती है। ससार मे प्राय देखा जाता है कि बहुत से प्राणी मुक्ति की कामना से तपस्या किया करते है, परन्तु उन्हे हम आत्मोसर्ग करने वाला नही कह सकते, वे तो आत्मार्थी होते हैं। आत्मोत्सर्ग करने वाले सच्चे आत्म त्यागी वे होते हैं जो सभी प्रकार के राग-द्वेष से रहित होकर जगत के हित एव लोकसेवा मे लगे रहते हैं।[1] वैसे तो सारा जगत मोह के आवरण से ढका हुआ है। सभी प्राणी नाना प्रकार के स्वार्थों एव वासनाओ मे लीन होकर आवेग एव ममत्व से परिपूर्ण मोह मे मग्न रहे आते हैं, जिससे जगत मे सर्वत्र सकट ही सकट छाये रहते हैं और स्वार्थपरता, अशुचिता, असाद्विकता, वासनात्मक प्रेम एव कामवासना की ही प्रबलता दिखाई देती है। परन्तु जो व्यक्ति निष्काम भाव से भरा हुआ है, जो प्रणय की पवित्र मूर्ति बन गया है और जो सात्विक जीवन व्यतीत करता है, उसमे आत्मोत्सर्ग की भावना पूर्णरूपेण विद्यमान रहती है।[2] कवि ने इस आत्मोत्सर्ग के विकास का वर्णन करते हुए बड़े ही सुदर ढग से समझाया है कि मानव हृदय मे किस तरह उत्सर्ग की भावना जाग्रत होती है और फिर इस भावना के जाग्रत होते ही उसके आचरणो मे किस तरह परिवर्तन आ जाता है। 'प्रियप्रवास' मे बताया गया है कि सर्वप्रथम सद्वृत्तियो के द्वारा हृदय मे श्रेष्ठ गुणो का समावेश होता है। इसी सद्गुण के कारण मानव-हृदय मे प्राणिमात्र के लिए एक आसग-लिप्सा जाग्रत होती है। तदुपरान्त ससर्ग के कारण उस हृदय मे सहृदयता उत्पन्न होती है और फिर वह आत्म-सुधि खोकर आत्मोत्सर्गता मे लीन हो जाता है।[1] इसके अनन्तर जब

---

१ प्रियप्रवास १६।४१-४२

२ निष्कामी है, प्रणय-शुचिता-मूर्ति है, सात्विकी है।
होती पूरी प्रमिति उसमे आत्म-उत्सर्ग की है। १६।६३

१. भावी होता गुण ग्रहण है उक्त सद्वृत्ति द्वारा।
हो जाती है उदित उर मे फेर आसग-लिप्सा।
होती उत्पन्न सहृदयता बाद ससर्ग के है।
पीछे खो आत्म-सुधि ससती आत्म-उत्सर्गता है। १६।६७

उसके हृदय मे आत्मोत्सर्ग की भावना जग जाती है तब उसे सम्पूर्ण पदार्थों मे अपना ही स्वरूप झलकने लगता है और सभी पदार्थ अपनी ही आत्मा के अंग दिखाई देने लगते हैं। फिर वह दूसरों की सेवा-सुश्रूषा को भी अपनी ही सेवा-सुश्रूषा समझने लगता है और दूसरों के लिये किये गये त्याग को भी अपने ही लिये किया गया त्याग जानने लगता है। कवि ने इस तरह 'प्रियप्रवास' मे आत्मोत्सर्ग के महत्व को प्रदर्शित करते हुए मानवो को स्वार्थ के सकुचित दायरे से निकल कर परार्थ के जिस विशाल क्षेत्र मे पदार्पण करने की प्रेरणा प्रदान की है, वह अत्यत उपयुक्त एव समीचीन है तथा मानव मात्र का कल्याण करने वाली है।

(५) विश्वबधुत्व—मानव अहकार का पुतला है। वह इस अहकार के वशीभूत होकर ही घर, परिवार, सभा, समाज, राष्ट्र, देश आदि के निर्माण मे तत्पर हुआ है और इसी के परिणामस्वरूप उसने अपने सुख एव आनद के लिए नाना प्रकार के साधनो का आविष्कार किया है। आज विश्व मे जितने कुटुम्ब, बिरादरी, जाति, सम्प्रदाय आदि दिखाई देते हैं, वे भी मानव के अहकार से ही निर्मित हैं। इसीलिए महाभारत मे कहा गया है कि समूचे कुल की भलाई के लिए एक मनुष्य को त्याग दे, गाँव के हित के लिये एक परिवार को छोड दे, देश की भलाई के लिए एक गाँव को छोड दे और आत्मा के उद्धार के लिए सम्पूर्ण पृथ्वी का ही परित्याग करे।[1] उक्त कथन मे क्रमश: अहकार को त्यागकर मानव को विश्वबधुत्व की भावना को ग्रहण करने की ओर सकेत किया गया है और बताया गया है कि आत्मीयता अथवा आत्मा का प्रसार ही जगत मे सर्वश्रेष्ठ है। उसके लिये यदि हमे अपना सर्वस्व त्याग करना पडता है, तो उससे भी कभी पराङ्मुख नही होना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी धर्म के स्वरूप का विवेचन करते हुए समझाया है कि "किसी परिमित वर्ग के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाले धर्म की अपेक्षा विस्तृत-जनसमूह के कल्याण से सम्बन्ध रखने वाला धर्म उच्चकोटि का है धर्म की उच्चता उसके लक्ष्य के व्यापकत्व के अनुसार समझी जाती है। गृहधर्म या कुलधर्म से समाजधर्म श्रेष्ठ है, समाजधर्म से लोकधर्म, लोकधर्म से विश्वधर्म, जिसमे धर्म अपने शुद्ध और पूर्ण स्वरूप मे दिखाई पडता है।[2] शुक्लजी ने भी

---

१ त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुल त्यजेत्।
ग्राम जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्। सभापर्व, ६२।११

२ चिन्तामणि, भाग १, पृ० २८३

गया है। मेघ, फल वाले वृक्ष, नदी, सरोवर आदि के उदाहरणो द्वारा प्रायः यह समझाया गया है कि जिस तरह नदी, मेघ आदि दूसरो के हित के लिए ही सारा कार्य किया करते हैं, उसी तरह मानवो को भी अपनी अपेक्षा दूसरो के हित का अधिक ध्यान रखना चाहिए। जैसा कि वहाँ कहा भी गया है कि नदियाँ कभी अपने जल का पान स्वय नही करती, वृक्ष भी अपने फलो को स्वय नही खाते, और मेघ भी अपने हित के लिए ही पृथ्वी पर वर्षा नही करते, परन्तु दूसरो का उपकार करने के लिए उक्त सभी कार्य करते हैं। अतएव परोपकार ही सज्जनो की विभूति है।'[1] मनीषी भर्तृहरि ने भी अपने नीति-शतक मे इसीलिए लिखा है कि 'कानो की शोभा स्वर्णकुडलो से नही होती, अपितु सच्छास्त्रो के श्रवण से होती है। हाथो की शोभा स्वर्ण-ककण के पहनने से नही होती, अपितु दान करने से होती है। इसी तरह शरीर की शोभा भी चन्दन आदि के लेप द्वारा नही होती, अपितु दीन-हीन प्राणियो के हेतु परोपकार करने से होती है।'[2] अतएव इसी परोपकार का महत्व घोषित करते हुए यहाँ यह कहा गया है कि 'अठारह पुराणो मे महर्षि व्यास ने केवल दो ही बातें बताई हैं कि परोपकार पुण्यकार्य है और दूसरो को पीडा देना पाप है।'[3] इस तरह भारत के मनीषियो ने परोपकार के महत्व को अत्यत तीव्रता के साथ अकित किया है।

हरिऔधजी ने अपने 'प्रियप्रवास' मे भी इस परोपकार की भावना को जन-कल्याण के लिये अत्यत उपादेय सिद्ध किया है। इसीलिये श्रीकृष्ण के अधिकाश उन कार्यो का उल्लेख 'प्रियप्रवास' मे किया गया है, जिनमे परोपकार की महत्ता विद्यमान है। जैसे, कालीनाग से व्रज के जीवो की रक्षा, भयकर वर्षा से गोवर्द्धन पर्वत पर व्रजजनो की रक्षा, तीव्र दावाग्नि से गोपो एव गोपालो की सुरक्षा आदि। यहाँ कवि ने श्रीकृष्ण के परोपकार सम्बन्धी कार्यो का इतना विशद वर्णन किया है कि उन्हे देखकर कवि की भावना का स्पष्ट पता चल जाता है कि वह परोपकार को मानव-जीवन के कल्याण के

---

१ पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः, स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः, परोपकाराय सतां विभूतयः॥

२ श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्न तु कंकणेन।
विभाति कायः खलु सज्जनानां, परोपकाराय न तु चन्दनेन॥

३. अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

लिये कितना महत्वशाली समझता है। यह परोपकार की-ही कृपा है कि छोटी ही अवस्था मे श्रीकृष्ण 'नृरत्न' बन गये थे और व्रज मे 'महात्मा' के रूप मे प्रसिद्ध थे। यह परोपकार की ही महिमा थी कि सतानहीन व्यक्ति श्रीकृष्ण को पाकर अपने को सतानवान समझते थे और सतानवान व्यक्ति अपनी सतान की अपेक्षा श्रीकृष्ण पर ही अधिक भरोसा रखते थे। यह परोपकार की ही महत्ता थी कि वे व्रज के जिस किसी घर मे भी जाते थे, वही वे अत्यधिक मान प्राप्त करते थे और पूजे जाते थे।[1] यही बात राधा के बारे मे भी है। राधा ने भी श्रीकृष्ण के परोपकार-व्रत को उसी तरह अपनाकर दिन रात प्राणियो की हित-चिन्तना प्रारम्भ कर दी थी और निरतर परोपकार मे लीन रही आती थी। उसके परोपकार ने ही राधा को नद और यशोदा की प्राणप्रिय पुत्री बना दिया था, परोपकार ने ही राधा को गोप-गोपियो एव गोप-बालको की कष्टहारिणी देवी बना दिया था और परोपकार ने ही राधा को सज्जनो के सिर की छाया, खलो की शासिका, कगालो की परमनिधि, पीडितो की औषधि, दीनो की बहिन, अनाथाश्रितो की जननी, व्रजभूमि की आराध्या और विश्व की प्रेमिका बना दिया था।[2] इस तरह कवि ने परोपकार के महत्व का प्रदर्शन करते हुए यह सकेत किया है कि मानव यदि अपना जीवन उन्नत बनाना चाहता है, यदि वह जीवन मे सुख और शान्ति चाहता है, यदि उसे महत्व एव गौरव के साथ-साथ जीवन मे अभीष्ट फल की आकाक्षा है और यदि वह सच्चा मानव बनना चाहता है, तो उसे दीन-हीन, अत्यत पतित एव तिरस्कृत प्राणियो से लेकर ससार के सभी व्यक्तियो का उपकार करना चाहिए और कभी किसी के अपकार के बारे मे नही सोचना चाहिए, क्योकि इस परोपकार से न केवल एक मानव-जीवन का ही उद्धार होता है, अपितु विश्व भर का भी कल्याण होता है। अत परोपकार मानव के कल्याण-हेतु अत्यंत महत्वपूर्ण साधन है।

(७) **निष्काम भक्ति**—भक्ति एक ऐसी साधना है जो किसी आदर्श को सम्मुख रखकर उसके गुणो को ग्रहण करने के लिए की जाती है। इसके द्वारा भक्त अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है और अपने उपास्य के अत्यत सामीप्य भाव को प्राप्त करने की चेष्टा करता है। इसीलिए प्राय. कहा गया है कि जो जिस देवता की भक्ति करता है उसके हृदय मे उसी के प्रति श्रद्धा उत्पन्न

---

१. प्रियप्रवास ११।८८-९१

२ वही १७।३६-४६

सेवा आदि के रूप मे की जाती है।[1] ऐसी ही भक्ति द्वारा हृदय मे राधा के समान उदार भाव जाग्रत हो सकते हैं, ऐसी ही भक्ति राधा की तरह परपीडा के जानने के लिए तथा उसे दूर करने के लिए उत्सुक वना देती है, ऐसी ही भक्ति मानव को ऊपर उठाकर दीनवन्धु की श्रेणी मे ले आती है और ऐसी ही भक्ति द्वारा एक साधारण व्यक्ति भी सच्चा स्नेही, सच्चा सखा, सच्चा प्रेमी, सदय-हृदय, प्रेमानुरक्त एव विश्वप्रेमी बनकर जगत मे शान्तिधारा वहाता हुआ परमसुख एव परमशान्ति को प्राप्त करता है तथा अन्त मे सम्पूर्ण प्राणियो का कल्याण करके परमगति को प्राप्त होता है। इसी कारण हरिग्रौधजी ने निष्काम भक्ति को महत्व देते हुए उसे मानव जीवन के अभ्युदय के लिए अत्यावश्यक माना है।

(८) **निस्स्वार्थ सेवा**—मानव-मानव के वीच पारस्परिक सम्वन्धो को सुदृढ़ वनाने मे यह सेवा भाव अत्यधिक सहायक सिद्ध हुआ है। इसकी ओर हमारे महर्षियो का ध्यान अत्यत प्राचीन काल मे ही गया था। पहले प्राय. यह देखा जाता था कि प्रत्येक प्राणी स्वार्थ मे अन्धा होकर केवल अपने सुख एव अपने पेट की ही चिन्ता मे वेचैन दिखाई देता था। उसे न किसी के जीवन की परवा थी और न वह अपने से दुर्वल के जीवन को कुछ महत्वशाली समझता था। 'जीवोजीवस्य भक्षणम्' वाली कहावत के अनुसार प्रत्येक जीव एक दूसरे का भक्षण करके अपनी उदर-पूर्ति मे ही लगा रहता था। ऐसी भयकर स्थिति को देखकर ही भारतीय मनीषियो ने सेवा भाव को महत्व देना प्रारम्भ किया। पहले तो स्वार्थमयी सेवा का ही प्रचार हुआ। माता-पिता अपने वच्चे का लालन-पालन इसलिये करते थे कि वह वडा होकर हमे सुख देगा। एक पशु की सेवा इसलिये की जाती थी कि वह या तो हमे दूध देगा, या सवारी के काम आयेगा अथवा हल जोतने मे सहायक होगा। परन्तु आगे चलकर समाज मे चार आश्रमो की स्थापना हुई। इनमे प्रथम व्रह्मचर्य आश्रम मे व्यक्ति सर्वप्रथम सेवा-भाव की शिक्षा ग्रहण करता था। वह अपने माता-पिता या गुरुजनो से इस भाव की प्रेरणा लेता था और गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करते ही उसे इस सेवा भाव को कार्य रूप मे परिणित करने का अवसर प्राप्त

---

१. विश्वात्मा जो परम प्रभु हं रूप तो हे उसी के।
सारे प्राणी सरि गिरि लता वेलियाँ वृक्ष नाना।
रक्षा पूजा उचित उनका यत्न सम्मान सेवा।
भावोपेता परम प्रभु की भक्ति सर्वोत्तमा है।।१६।११७

होता था। गृहस्थाश्रम मे वह अपने अन्न और धन से समाज के प्राणियो की सेवा करता था। पुन वानप्रस्थ एव सन्यास आश्रमो मे प्रवेश करके वह तन, मन और बुद्धि से एकमात्र समाज की सेवा मे ही अपना जीवन-यापन करता था। इस तरह इस सेवा-भाव को अत्यत प्रयोगात्मक रूप देकर भारतीय ऋषि-महर्षियो ने यहाँ के जीवन मे से पशुता एव दानवता के भाव निकालकर उनके स्थान पर मानवता के शुद्ध विचारो की स्थापना की थी। परन्तु मानव तो आत्मार्थी है, वह प्राय अपने लाभ एव अपने सुख के लिये ही किसी की सेवा करता है उसमे निस्स्वार्थ भाव का आना अत्यत कठिन है। इसी कारण आज सर्वत्र सघर्ष, युद्ध, हलचल, क्रान्ति आदि दिखाई देती है। फिर भी इस निस्स्वार्थ सेवाभाव को जाग्रत करने के लिए सदैव प्रयत्न होते रहे हैं। महात्मा गौतम, महात्मा गाधी आदि देश-सुधारको, कबीर, तुलसी, सूर आदि कवियो और रामतीर्थ, विवेकानद, अरविंद आदि सतो ने अपने-अपने विचारो द्वारा जनता मे निस्स्वार्थ सेवा-भाव को जाग्रत करने का अत्यत सराहनीय कार्य किया है।

हरिऔधजी ने प्रियप्रवास मे भी इस सेवाभाव की महत्ता को सर्वाधिक घोषित किया है। उन्होने कृष्ण और राधा के स्वार्थ-रहित कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हुए यह दिखाया है कि कोई भी व्यक्ति उसी समय 'महात्मा' या 'नृ-रत्न' हो सकता है, जब वह श्रीकृष्ण की तरह निस्स्वार्थ भाव से आर्त्त प्राणियो की पुकार सुने, दीनो की दुष्टात्माओ से रक्षा करे, सतप्तो को सांत्वना बँधाये, माता-पिता एव गुरुजनो को सुख देने का प्रयत्न करे अथवा रोगी, दुखी एव आपदग्रस्तो की सच्चे हृदय से सेवा करे।[1] इसी तरह कोई व्यक्ति समाज मे पूज्य एव श्रद्धेय तभी बन सकता है जब वह राधा की तरह निस्स्वार्थ भाव से मूर्छित एव सतप्त प्राणियो को गोद मे लेकर जल के छीटे मारकर अथवा व्यजन डुलाकर उन्हे सचेत बनाने का प्रयत्न करे, आकुल एव विलखते प्राणियो के सताप को दूर करे, कष्ट से भूमि मे लोटते हुए प्राणियो की धूल पोछकर उन्हे शान्ति प्रदान करे, मोहमग्न प्राणियो का सिर सहलाकर अपनी गोद मे सुलाये, किसी की रोमाचकारी आहें सुनकर उसके घर जाकर सात्वना दे, शोक मे निमग्न प्राणियो को अच्छे-अच्छे उपदेश पूर्ण वचन कहकर धैर्य बँधाये, मलिन एव व्यथित बालको को खिलौने आदि देकर या खेल में

---

१ प्रियप्रवास १२।७८-८७

भी कर्त्तव्य-पालन के कारण उसे विश्व मे सुकीर्ति प्राप्त होती है।[1] हरिऔधजी का यह स्पष्ट मत था कि चेष्टारहित जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा सचेष्ट होकर मरना सदैव सुदर होता है।[2] यदि देश या जाति पर विपत्ति आई हुई हो और सभी प्राणी भयभीत हो रहे हो, उस समय पुरुष को कभी शिथिलता नही दिखानी चाहिए। उसे तो वीरो के समान आगे बढकर निर्भयत सहित विपत्ति का सामना करना चाहिए और याद रखना चाहिए कि ससार मे विजय और विभूति उसी व्यक्ति को प्राप्त होती हैं, जो अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर दृढता के साथ कठिनाइयो एव विघ्नो का सामना करता है और प्रतिद्वन्द्वता से किंचिन्मात्र भी नही घबडाता, वरन् उचित प्रयत्नो एव धैर्य सहित सकटो मे आगे बढ़ता रहता है।[3] इतना ही नही कवि ने श्रीकृष्ण की कर्त्तव्य-निष्ठा का सुदर एव सजीव चित्रण करते हुए 'प्रियप्रवास' मे यह दिखाने की चेष्टा की है कि मानव अपने समाज मे उचित आदर एव श्रेष्ठ सम्मान का अधिकारी उसी क्षण होता है, जिस क्षण वह अपने हृदय मे यह निश्चय कर लेता है कि मुझे अपने नियत कर्त्तव्य का पालन सदैव करना है और किसी लोभ, स्वार्थ या मोह आदि मे लीन होकर कभी देश या समाज को धोखा नही देना है। यहाँ श्रीकृष्ण की यही विशेषता आरम्भ से अत तक अकित की गई है कि वे अपने नियत कर्त्तव्य के सम्मुख माता की ममता, पिता का दुलार, प्राणप्रिया का पुनीत प्रेम, सखाओ का स्नेह आदि सभी का बलिदान कर देते हैं और समाज-हित या लोकहित के लिए अपने कर्त्तव्य पर आरूढ़ होकर गोकुल से मथुरा और मथुरा से द्वारिका की ओर ही बराबर बढ़ते चले जाते हैं। निस्सदेह यह कर्त्तव्यपरायणता की भावना मानव-जीवन का मेरुदड है, इसके बिना न मानव मे मानवता आती है और न वह किसी प्रकार की उन्नति के लिये ही अग्रसर हो सकता है। इसी कारण हरिऔधजी ने इसे 'प्रियप्रवास' मे सबसे अधिक महत्व देते हुए अकित किया है, इसीलिए उनके कृष्ण और राधा दोनो पात्र यहाँ कर्त्तव्यपरायणता की साकार मूर्तियाँ बने हुए हैं और अपने-अपने कार्यों की सुदर झाँकियाँ दिखाते हुए यह स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि मानव की प्रतिष्ठा, मानव का हित और मानव का

---

१. प्रियप्रवास ११।८४-८७

२. रह अचेष्टित जीवन त्याग से।
मरण है अति-चारु सचेष्ट हो। १२।४२

३. प्रियप्रवास १२।४३-४७

श्रेय केवल कर्त्तव्यपरायणता पर ही निर्भर है, क्योकि इसी के परिणामस्वरूप एक व्यक्ति श्रीकृष्ण की तरह नर-रत्न बन सकता है और राधा की तरह किसी समाज का पूज्य एवं आराध्य हो सकता है।

(१०) आत्म-साक्षात्कार—अपने वास्तविक स्वरूप को पहॅचानना आत्मसाक्षात्कार कहलाता है। आज मानव की दशा यह है कि वह आत्मतत्त्व से अपरिचित होने के कारण भ्रान्त एवं अशान्त होकर इधर-उधर अधकार में भटक रहा है। वह यह भूल गया है कि एक ही आत्मा समस्त प्राणियो एवं पदार्थों मे विद्यमान है। वही एकमात्र साधन है जिससे हमारी आँखें देखने का कार्य करती हैं, कान सुनने का काम करते हैं, नासिका सूँघने का कार्य करती हैं, जिह्वा रस लेने का काम करती है, पेड-पौधे फलते-फूलते हैं, पक्षी कलरव करते हैं, पशु आनद-क्रीडा करते हैं इत्यादि। इतना ही नही यह आत्मतत्व ही सर्वत्र एकरूपता, समता, अभेदता एव अखडता स्थापित करता हुआ विद्यमान है। परन्तु आज हम आत्मा के वास्तविक रूप को ही भूले हुए हैं। उसका कारण स्पष्ट है, क्योकि यह आत्मा तो द्रष्टा है, परन्तु ससार के दृश्यो मे रमकर वह अपने को भूल गया है और दृश्य बन गया है। यह द्रष्टा उसी समय तक रह सकता है जिस समय तक यह ससार के दृश्यो मे अपने को लीन करके भुलाता नही। यह आत्मा तो श्रोता है, परन्तु ससार के मधुर-स्वरो मे लीन होकर इसने अपने श्रोतापन को खो दिया है और स्वय श्रव्य बन गया है। अत जब तक इस आसक्ति को नही छोडता तब तक श्रव्य ही बना रहेगा, श्रोता नही बन सकता। यह आत्मा तो कर्त्ता है, परन्तु ससार के नाना कार्यों मे लीन होकर इसने अपने कर्त्तापन को भुला दिया है और स्वय कर्म बन गया है। अब जब तक यह अपने स्वरूप को नहीं पहॅचानता, तब तक कर्त्ता न होकर कर्म ही बना रहेगा। ऐसे ही यह आत्मा तो स्रष्टा है, परन्तु आज अपने सृजन कार्यों मे इतना तमन्य हो गया है कि स्वय सृष्टि बना हुआ है तथा अपने स्रष्टारूप को भूला हुआ दिखाई देता है। अब जब तक यह अपने रूप को नही पहॅचानता, तब तक सृष्टि के दोषों से मुक्त नही हो सकता और स्रष्टा के महत्वपूर्ण पद को प्राप्त नही कर सकता। इसी कारण सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि जो आत्मा कर्त्ता था, वह कर्म कैसे बन गया, जो द्रष्टा था वह दृश्य कैसे हो गया, जो स्रष्टा था वह सृष्टि क्यो बना हुआ है, जो श्रोता था, वह श्रव्य क्यो होग या है आदि-आदि। इसी बात से जाग्रत करने के लिए उपनिषदो मे कहा गया है—"हम भोक्ता हैं, भोज्य बने हुए हैं हम कर्त्ता हैं, कर्म बने हुए हैं। हम द्रष्टा हैं, दृश्य बने हुए हैं। हम श्रोता हैं,

श्रव्य बने हुए हैं। हम स्वामी हैं, भृत्य बने हुए हैं। हम राजा हैं रक बने हुए हैं, इत्यादि।"[१] इसका मूल कारण क्या है? यही कि आज हम अपने वास्तविक स्वरूप को भूले हुए हैं। सासारिक माया-मोह ने हमे इस तरह भ्रान्ति मे डाल रखा है कि हमे उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार नही हो पाता और अहर्निश हम अधकार की ओर ही बढ़ते चले जा रहे हैं। आज अपने वास्तविक स्वरूप को न पहँचानने के कारण ही "अन्धेन नीयमाना यथा अधा" अथवा "अन्धा अन्धे ठेलिया दोनो कूप पडन्त" वाली हमारी दशा हो रही है। पारस्परिक भिन्नता, फूट एव वैमनस्य बढते चले जा रहे हैं और मानव प्रत्येक क्षेत्र मे विरोध एव विषमता का सामना कर रहा है। इसी आत्म-साक्षात्कार के अभाव के कारण आज भेद-भाव से उत्पन्न सघर्ष हो रहे हैं, इसी के परिणामस्वरूप मानव-मानव मे सहज स्नेह नही दिखाई देता और इसीलिए प्रतारणा, प्रवचना, छल-कपट आदि का बोलबाला है।

हरिऔधजी ने मानव-जीवन की इस विषमता को भली भाँति पहचान कर उसको दूर करने के लिए अपने 'प्रियप्रवास' मे इस 'आत्म-साक्षात्कार' की ओर अधिक ध्यान दिया है और बताया है कि 'जिस तरह वायु का स्पर्श होते ही जल मे लहरें उठने लगती हैं, वैसे ही किसी न किसी आवेग के उठते ही चित्र भी विचलित हो उठता है और उस उद्वेग से मनुष्य व्यथित हो जाता है।'[२] उस क्षण जगत के नाना-रूपो को देखने के कारण वह व्यथित हृदय अपने वास्तविक रूप को भूलता हुआ मोह-मग्न हो जाता है और इस इस मोह के कारण उसका चित्त भ्रान्ति एव उद्विग्नता का शिकार बन जाता है।[3] यह मोह इतना बलवान एव सशक्त होता है कि इसके वशीभूत होकर मानव नाना प्रकार के स्वार्थों, तरस-सुख की वासनाओ आदि मे डूब जाता है तथा अपने वास्तविक रूप को भूल जाता है।[४] उस क्षण वह द्रष्टा न होकर दृश्य, स्रष्टा न होकर सृष्टि और कर्त्ता न होकर स्वय कर्म रूप मे परिणत होता हुआ इस जगत की माया मे लिप्त हो जाता है। इसके लिए कवि ने सर्वप्रथम इस 'मोह' के विनाश की ओर सकेत किया है और "ऊँची न्यारी रुचिर महिमा

---

१ आर्य संस्कृति के मूल तत्व, पृ० ८४-८५

२ प्रियप्रवास १६।५२

३ वही १६।५७

४ वही १६।६३

मोह से प्रेम की है"[1] कहकर ससार के सभी पदार्थो एव प्राणियो से प्रेम करने, उनमे अपना ही रूप देखने, उन्हें अपना ही स्वरूप समझने और उनमे अपनी ही आत्मा का विकास देखने की सलाह दी है। इसी कारण कवि ने वताया है कि जिस समय मानव प्रात कालीन उषा की लालिमा और सन्ध्या की अरुणिमा मे अपनी आत्मा के ही सौंदर्य की झलक देखने लगता है। जिस समय भृंग-मालिका मे उसे अपनी ही अलको का सौंदर्य और खजन तथा मृगो मे अपनी ही आँखो की सुछवि दीखने लगती है। जिस समय वह दाडियो मे अपने दाँतो की, विम्वाओ मे अपने अधरो की, केलो मे अपने जघन की, सूर्य-चन्द्र एव वह्नि में अपनी ही दिव्य आभा को देखने लग जाता है, उस समय उसके हृदय मे एक अद्भुत अभिन्नता एव अभेदता की भावना जाग्रत होती है और वह 'विश्व-प्रेम' मे लीन होकर सम्पूर्ण विश्व मे अपनी ही आत्मा का प्रसार देखने लगता है।[2] फिर वह अपने मे और विश्व मे कोई अन्तर नही देखता, अपितु भिन्नता में भी अभिन्नता, भेद मे भी अभेद और द्वैत में भी अद्वैत देखने लगता है। उसकी दृष्टि ही वदल जाती है। वह आत्मार्थी न रहकर परार्थी हो जाता है, स्वार्थरत न रहकर स्वार्थोपरत हो जाता है, किसी का अपकारी न होकर सर्वभूतोपकारी हो जाता है[3] और हृदय मे शान्ति की कामना करता हुआ इस 'भव को प्यार की दृष्टियो से' देखने लगता है।[4] उसे फिर सभी दु खी एव सतप्त प्राणी अपना ही रूप जान पडते हैं। इसीलिए वह फिर प्यार से सिक्त होकर रातदिन उन सतप्त प्राणियो को सात्वना, धैर्य एव शान्ति देने मे ही अपना सौभाग्य समझता है तथा अवनिजन का सच्चास्नेही वनकर सतत सेवा करता हुआ निरन्तर भूत-सवर्द्धना मे ही लगा रहता है।[5] कवि ने इसी स्वरूप को अपनाने अथवा अपनी वास्तविकता को पहचानने के लिये राधा और कृष्ण के चरित्र-चित्रण द्वारा मानव-मात्र को 'आत्म-साक्षात्कार' की प्रेरणा प्रदान की है और वताया है कि यदि हम तनिक गहनता एव गम्भीरता के साथ विचार करें और अपनी स्थिति को देखने की चेष्टा करें, तो पता चलेगा कि विश्व के सघर्ष का कारण और कुछ नही है,

---

१ प्रियप्रवास १६।७०
२. वही १६।८१-८८
३ वही १६।४१-४६
४ वही १०।१७।२३
५. वही १७।५६-५४

हमारी ही भ्रान्ति, हमारा ही मोह, हमारी ही मिथ्या धारण और हमारी ही अज्ञानता है। यदि हम अपनी वास्तविक स्थिति से परिचित हो जायें और सम्पूर्ण विश्व मे अपनी ही आत्मा का प्रसार देखने लगें, तो सारे सघर्ष, सारी हलचल, सारे वैमनस्य एव सारे विद्रोह समाप्त हो जायेंगे और मानव विश्व-प्रेमी होकर सम्पर्ण वसुन्धरा का सच्चा स्नेही हो जायेगा। परन्तु इसके लिए आत्मसाक्षात्कार करना होगा। अपनी दुर्वलताओ, अपनी कमियो एवं अपनी आसक्तियो को देखना होगा और उन्हे देखकर शीघ्र ही नही तो शनैः शनैः दूर करना होगा। निस्सदेह आत्मोन्नति के लिए अथवा आत्म-कल्याण के लिए आत्म-साक्षात्कार सवसे प्रमुख साधन है।

जीवन का चरम लक्ष्य लोकहित है—भारतीय मनीपियो ने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुपार्थों की योजना करके मानव का चरम-लक्ष्य मोक्ष सिद्ध किया है। प्रत्येक भारतीयदर्शन ने इस मोक्ष-प्राप्ति पर जोर दिया है, इसके लिए उचित साधन वताए है और अपने-अपने विचारो के अनुसार मानव को अन्तिम पुरुपार्थ—मोक्ष को प्राप्त करते हुए सिद्ध किया। परन्तु "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः" कहकर यहाँ यह स्पष्ट घोपण की गई है कि ज्ञान के विना मुक्ति या मोक्ष प्राप्त होना सर्वथा असम्भव है। इसी ज्ञान की प्राप्ति के लिए विभिन्न उपाय सुझाये गये हैं, किन्तु अत मे सभी का लक्ष्य मोक्ष ही रहा है। इस मोक्ष को उपनिपदो में 'जीवन्मुक्ति' भी कहा गया है अर्थात् इसी जीवन मे मोक्ष की प्राप्ति का होना जीवन्मुक्ति कहलाता है, जैसा कि कठोपनिषद् मे लिखा भी है कि "जव हृदय मे रहने वाली समग्र कामनाओ का नाश हो जाता है, तव मनुष्य अमरता को प्राप्त करता है और यही पर (इसी शरीर मे) उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है।"[1] इस प्रकार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य यही है कि वह किसी न किसी प्रकार सम्पूर्ण कामनाओ से विरत होकर जीवन्मुक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। आधुनिक युग मे मोक्ष या मुक्ति के प्रति लोगो मे विश्वास नहीं। आज सभी विचारक कर्म को महत्व देते हैं और कर्म द्वारा ही मोक्ष प्राप्ति की कल्पना करते हैं। उनका विचार है कि उन सम्पूर्ण कर्मों मे से 'लोकहित' की दृष्टि से जो कर्म किये जाते हैं, वे ही श्रेष्ठ कर्म है, उनसे ही मानव जीवन का अभीष्ट प्राप्त करता है, जीवन मे सुख और शान्ति प्राप्त करता हैं तया इसीसे उसे मोक्ष की

---

१ यदा सर्वे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिता।
तदा मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ कठ० २।३।१४

भी प्राप्ति होती है। आधुनिक युग मे इसी कारण 'लोकहित' को सार्वाधिक महत्व दिया गया है। हरिऔधजी ने भी 'प्रियप्रवास' मे इसी लोकहित की महत्ता स्थापित करते हुए सर्वत्र इसी का गुणगान किया है और अपने प्रमुख पात्रो—राधा और कृष्ण को आजीवन लोक-हित मे ही लीन दिखाकर अपमे अभीष्ट फल को प्राप्त करते हुए दिखाया है। हरिऔधजी का स्पष्ट विचार है कि लोकहित के द्वारा ही मानव विश्व मे पूज्य होता है,[1] इसी से वह सम्पूर्ण स्वार्थों एव विपुल सुखो को ससार मे तुच्छ समझा करता है और सम्पूर्ण लालसाओ को छोडकर लोक-सेवा मे लीन होता है।[2] इसी लोकहित के कारण उसके हृदय मे आत्मोत्सर्ग की भावना जाग्रत होती है और स्वार्थोपरत होकर वह हृदय से सभी प्राणियो के श्रेय का कार्य करता रहता है।[3] इसी लोक-हित के जाग्रत होते ही वह अपने प्रिय से प्रिय पात्र का भी परित्याग करने मे सकोच नही करता और निष्कामी होकर सदैव सात्विक कार्यों मे लगा रहता है।[4] इसी भावना के कारण उसे सर्वत्र विश्वात्मा की प्रभुता व्याप्त दिखाई देती है और वह इस विश्व-रूपी ब्रह्म की निष्काम भक्ति मे लीन होता है।[5] इसी लोकहित की भावना के कारण उसकी दृष्टि पूर्णतया बदल जाती है तथा वह प्राणिमात्र की सेवा-सुश्रूषा करने, उनको सुख और शान्ति देने और उनकी तन-मन-धन से व्यथायें दूर करने का प्रयत्न करके अतीव आनन्द का अनुभाव करने लगता है।[6] इस तरह कवि ने लोकहित को इतने व्यापक एव महत्वपूर्ण ढगसे यहाँ चित्रित किया है कि जिससे यह भावना इस काव्य की आत्मा बन गई है और 'पदे-पदे' इसी भावना का स्वर गूँजता हुआ सुनाई देता है। अतएव यह निस्सकोच कहा जा सकता है कि हरिऔधजी लोकहित को मानव-जीवन के लिए अत्यत आवश्यक समझते हैं, मानव-जीवन का चरम लक्ष्य मानते हैं तथा यह सिद्ध करते हैं कि यदि मानव अपने जीवन मे सुख चाहता है, यदि वह अपने समाज मे समता एवं शान्ति चाहता है और यदि वह समस्त विश्व में अनन्द की सृष्टि करना

---

१ प्रियप्रवास १४।९०

२ वही १४।२२

३ वही १६।४१-४६

४ वही १६।९८-१००

५ वही १६।११७

६ वही १७।२९-४८

गई है। अब हम कतिपय आधारो पर उक्त तीनों महाकाव्यो की तुलनात्मक समीक्षा करने का प्रयास करेंगे।

वस्तु-योजना—यद्यपि उक्त तीनो महाकाव्य आधुनिक युग के प्रतिनिधि प्रबधकाव्य हैं, फिर भी तीनो महाकाव्यो मे वस्तु-योजना की दृष्टि से पर्याप्त साम्य है। तीनो ने भारतीय पौराणिक अथवा प्राचीन गाथाओ को ही अपनी कथावस्तु का आधार बनाया है। प्रियप्रवास मे यदि श्रीकृष्ण के लोकपावन चरित्र की झाँकी है, तो साकेत में मर्यादापुरुषोत्तम राम का पुनीत चरित्र अकित है और कामायनी मे मानवो के पूर्व पुरुष वैवस्वत मनु के जीवन को चित्रित किया गया है। अत: तीनो कवि कथावस्तु के लिए उत्तरोत्तर प्राचीनता की ओर अग्रसर होते गये हैं और श्री कृष्ण के रूप मे मानव के पूर्ण विकास से लेकर मनु के रूप मे उसके आरभिक स्वरूप तक को पूर्ण रूपेण चित्रित करने का प्रयत्न किया है। दूसरे, तीनो ही कवियो ने कथाओ के परम्परागत रूपो को स्वीकार न करके आधुनिक बौद्धिक जगत के अनुरूप उनमे कुछ नवीन उद्‌भावनायें की हैं, जिनसे कथायें अलौकिक एव अग्राह्य न रहकर पर्याप्त बुद्धिग्राह्य एव मानव-जीवन के अनुकूल बन गई हैं। साथ ही जिनमे आज का बुद्धिजीवी मानव विश्वास भी कर सकता है, नहीं तो कालीनाग का नाथना, गोवर्द्धनपर्वत का अँगुली पर उठाना, हनुमान का पर्वत उखाड लाना, मानव का पशुता से मानवता की ओर अग्रसर होना आदि आज तक हास्यास्पद ही बना रहता। तीसरे, तीनो महाकाव्यो मे कथा के अधिकाश भाग को घटित न दिखाकर वर्णित दिखाया गया है अर्थात् प्रियप्रवास मे तो श्रीकृष्ण के जीवन से सबधित अधिकाश घटनायें एव कथायें गोप, अहीर गोपियाँ, नद-यशोदा आदि के द्वारा वर्णन की गई हैं। साकेत मे बालकाड की कथा उर्मिला द्वारा, अरण्यकाड की कथा शत्रुघ्न द्वारा, किष्किधाकाड एव लकाकाड की कथा हनुमान द्वारा वर्णित दिखाई गई है और कामायनी मे देव-सृष्टि के विनाश की कथा मनु के द्वारा तथा सारस्वत प्रदेश के अनाचार की कथा स्वप्नरूप मे वर्णन की गई है। चौथे, तीनो महाकाव्यो मे भारतीय सस्कृति के उदात्त एव उज्ज्वल रूप की झाँकी विद्यमान है तथा यह दिखाया गया है कि भारतीय जीवन मे अपनी परम्परागत विशेषताओ की जड़ें कितनी गहराई तक पहुँची हुई हैं। भले ही विदेशी सस्कृतियाँ के झझावात भारतीय सस्कृति के वटवृक्ष को झकझोरने का कितना ही प्रयास करें, परन्तु यह इतना दृढ़ एव सुस्थिर है कि अपनी अक्षुण्णता एव स्थिरता को कभी गँवा नहीं सकता। पाँचवें, तीनो महाकाव्य यद्यपि प्राचीन कथानको

के आधार पर निर्मित हैं, तथापि नवीनता पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है और इनमें आधुनिक युग का जन-जीवन पूर्णतया चित्रित है। तीनो ही कवि अपने युग-जीवन से भली प्रकार परिचित थे। इसी कारण तीनो ने प्राचीन कथानको मे आधुनिक जीवन को पूर्णतया समाविष्ट करके इस तरह अकित किया है कि कथा का वाह्य ढाँचा ही प्राचीन है, जबकि उसकी अन्तरात्मा पूर्ण रूपेण आधुनिक युग मे अनुरजित है। छठे, तीनो ही महाकवियो ने लोकहित मे लीन नारी-जीवन की उज्ज्वल झाँकी अकित करने का प्रयास किया है। इसी कारण यदि हरिऔधजी ने प्रियप्रवास मे राधा के उत्कृष्ट चरित्र की झाँकी अकित की है, तो साकेत मे गुप्तजी ने महारानी कैकेयी, श्रीमती उर्मिला आदि के उपेक्षित जीवन को समुज्ज्वल रूप मे अकित करने का प्रयास किया है और इसी तरह श्री जयशकर प्रसाद ने कामायनी मे मानव-जननी श्रद्धा के लोकोत्तर चरित्र का पुनीत झाँकी अकित की है। सातवें, तीनो ही महाकाव्यो मे सम्पूर्ण कथा को किसी एक स्थान मे ही सीमित करते हुए स्थान-ऐक्य को विशेष महत्व दिया गया है। जैसे, प्रियप्रवास मे सारी कथा व्रज प्रदेश मे ही सीमित है। वही श्रीकृष्ण ने जो-जो लोकहित के कार्य किये हैं, उनकी ओर सकेत करते हुए श्रीमती राधा को भी व्रज मे ही लोकहित के कार्य करते हुए दिखाया गया है। साकेत मे भी सारी कथा साकेत अथवा अयोध्या मे ही सीमित है। कवि ने या तो 'सम्प्रति साकेत-समाज वही है 'सारा' कहकर यह सकेत कर दिया है या साकेत मे ही बैठे हुए व्यक्तियो द्वारा सम्पूर्ण कथाओ का वर्णन करा दिया है अथवा वशिष्ठ मुनि द्वारा दी हुई दिव्य दृष्टि से सम्पूर्ण साकेत वासी अपने स्थान पर खड़े-खड़े लका मे होने वाली सम्पूर्ण घटनाओ को देख लेते हैं। इसी भाँति 'कामायनी' मे कवि ने 'हिमगिरि के उत्तु ग शिखर' से कथा आरम्भ की है, उसकी ही उपत्यका मे सम्पूर्ण घटनायें घटित होती हैं और अन्त मे उसी हिमगिरि की एक उन्नत शृंग कैलाश पर सम्पूर्ण पात्रो को एकत्रित करके कवि ने अपनी कथा समाप्त की है। आठवें, तीनो ही महाकाव्य आधुनिक जीवन की अधिकाश समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करते हुए लिखे गये हैं।

इन कतिपय साम्यो के साथ-साथ तीनो महाकाव्यो मे वस्तु-योजना की दृष्टि से पर्याप्त वैषम्य भी है। सर्वप्रथम तो तीनो महाकाव्य भारतीय इतिहास के तीन युगो की कथाओ के आधार पर निर्मित हैं, क्योकि प्रियप्रवास मे द्वापर युग की कथा है, साकेत में त्रेतायुग की कथा है और कामायनी मे मानव-सृष्टि के आदि युग की कथा है। दूसरे, तीनो महाकाव्यों की कथा का विस्तार

अनुसरण हुआ है और उसी के आधार पर एक पुरुष और स्त्री के पारस्परिक सम्बंध, नारी की पति-परायणता, उसके हृदय की सुकुमारता, सयोग-वियोग के अवसर पर चित्त की अधीरता, क्षुब्धता एव उत्सुकता, पुरुष की नारी के प्रति उत्सुकता एव उपेक्षा आदि के चित्र अंकित किये गये हैं। तीनो ही महाकाव्यो मे नायक एव नायिका अपने सामान्य लक्षणो से विभूषित हैं। इसी कारण उनमे वीरता, शौर्य, दक्षता, त्याग, लोकप्रियता आदि गुण विद्यमान हैं। तीनो ही महाकाव्यो के नायक बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला, स्वाभिमान, दृढता, तेजस्विता, शूरता, धार्मिकता आदि से सम्पन्न हैं। तीनो ही महाकाव्यो की नायिकायें त्याग, दया, ममता, करुणा, विश्वबंधुत्व, धार्मिकता, पातिव्रतधर्म, सहज स्नेह, प्राणि मात्र के प्रति प्रेम आदि से परिपूर्ण हैं। तीनो महाकाव्यो मे नारी के लोकपावन चरित्र की सृष्टि हुई है और उसमे पुरुष की अपेक्षा नारी मे अधिक उन्नत एव उत्कृष्ट गुण दिखाये गये हैं। इसके साथ ही तीनो महाकाव्य चरित्र-प्रधान भी हैं।

इन कतिपय समानताओ के साथ-साथ तीनो महाकाव्यो के चरित्र-चित्रण मे वैषम्य भी पर्याप्त मात्रा मे मिलता है। सर्वप्रथम प्रियप्रवास एव कामायनी मे तो यह स्पष्ट पता चल जाता है कि इनमे क्रमश राधा और कृष्ण तथा श्रद्धा और मनु नायिका एव नायक हैं, जब कि साकेत मे नायिका तथा नायक का निर्णय करना कठिन हो जाता है, क्योकि इस काव्य मे उर्मिला तो स्पष्टरूपेण नायिका की भांति चित्रित है और यहां राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा, शत्रुघ्न आदि सभी पात्र उर्मिला के चरित्र पर घात-प्रतिघात द्वारा प्रभाव डालते हैं अथवा कभी परिस्थिति के रूप मे या कभी पृष्ठभूमि के रूप मे उपस्थित होकर इस पात्र को प्रकाश मे लाने की चेष्टा करते हैं। परन्तु लक्ष्मण को नायक कहना उचित नही दिखाई देता क्योकि न तो कवि ने लक्ष्मण मे राम की अपेक्षा श्रेष्ठ गुणो का समावेश किया है और न कवि का विचार ही लक्ष्मण को नायक का पद देने की ओर दिखाई देता है। लेखक यहां विशेषतया राम के गुणो पर मुग्ध होने के कारण लक्ष्मण के नायकत्व को भूल जाता है। यद्यपि इस महाकाव्य के प्रारम्भ मे तो यही दिखाई देता है कि लक्ष्मण और उर्मिला ही इस काव्य के नायक-नायिका रहेगे, तथापि आगामी रामकथा के प्रवाह मे कवि का ब्रह्म इस बात को अगीकार नही करता कि उसका राम अपनी श्रेष्ठता छोड दे और लक्ष्मण इस काव्य मे नायक का पद ग्रहण कर ले। इसके अतिरिक्त प्रियप्रवास में जहां आदर्शवादिता की प्रबलता के कारण श्रीकृष्ण और राधा मे एकमात्र

लोकपावन गुणो एव उत्कृष्ट विचारो का ही समावेश दिखाई देता है, वहाँ साकेत तथा कामायनी मे कवियो की दृष्टि आदर्श की अपेक्षा यथार्थ की ओर भी रही है। इसी कारण साकेत में लक्ष्मण रामचरितमानस की अपेक्षा कही अधिक उद्दड, स्वच्छद एव स्वतत्र मनोवृत्ति के दिखाये गये हैं, उनमे क्रान्ति का स्वर विद्यमान है और वे माता कैकेयी, पिता दशरथ तथा पूज्या सीता से भी कटुवाक्य कहते हुए तनिक भी सकोच नही करते। अतएव उदात्त गुणो के साथ-साथ उनमे मानवीय दुर्वलतायें भी विद्यमान हैं। यही बात कामायनी के मनु मे है। प्रसादजी ने कामायनी मे मनु को भी मानवीय दुर्वलताओ से ओतप्रोत एक साधारण व्यक्ति के समान पतन और उत्थान की पेंगो में झूलते हुए अकित किया है। उनमे अनेक दोष हैं और अनेक गुण हैं। वे जहाँ इन्द्रियो के वश मे होकर पतन के गर्त्त मे गिरते हैं, वहाँ इन्द्रियो पर सयम करके त्याग और तपस्या के साथ उत्थान के कैलाश-शिखर पर भी चढ जाते हैं। इसी तरह इन तीनो महाकाव्यो की नायिकाओ में भी पर्याप्त वैषम्य है। जहाँ 'प्रियप्रवास' की राधा श्रीकृष्ण का सदेश सुनकर आजन्म कौमार व्रत धारण करती हुई लोकसेवा एव लोकहित के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है, वहाँ साकेत की उर्मिला केवल वियोग या कष्ट के समय मे ही लोकहित एव लोकसेवा के प्रति उदार दिखाई देती है और अन्य अवसरो पर उसे इन बातो का ध्यान नही रहता, जबकि कामायनी की श्रद्धा प्रारम्भ से ही त्याग, तपस्या, उदारता एव सेवा की साकार मूर्ति है और अपने इन उदात्त गुणो से वह सम्पूर्ण सृष्टि का कल्याण करती हुई निरतर लोकसेवा एव लोकहित मे ही सलग्न रहती है।

इन कतिपय वैषम्यो के साथ ही जब हम इन कवियो की चरित्र-चित्रण सम्बन्धी मौलिक उद्भावनाओ की ओर दृष्टि डालते हैं, तब पता चलता है कि 'प्रियप्रवास' की राधा, साकेत की उर्मिला और कामायनी की श्रद्धा तीनों ही क्रमशः हरिऔध, गुप्त तथा प्रसाद की अपनी सृष्टि हैं। इन तीनो का निर्माण इन कवियों ने अपनी उदार भावना एवं उर्वर कल्पना के आधार पर किया है, जो सर्वथा नवीन, मौलिक एव असाधारण है, क्योंकि जहाँ प्रियप्रवास की राधा अपनी परम्परागत विशेषताओ को छोडकर एक अत्यन्त पवित्र एव आदर्श प्रेम की देवी के रूप मे अकित हुई है, वहाँ साकेत की उर्मिला अपने उपेक्षापूर्ण जीवन को पुन प्राप्त करती हुई अपने विरह, करुणा एव वीर भावो द्वारा रामकथा मे हलचल उत्पन्न करती हुई चित्रित हुई है।

स्वय घर का सारा कार्य करती है और स्वय ही अपने भोले-भाले सुकुमार बालक का पालन-पोषण करती है। इतना ही नही वह अत्यत सयम एव धैर्य के साथ अपने विरह की आग को छिपाकर पुत्र के सम्मुख कभी सतप्त एव व्यथित दिखाई नही देती, अपितु विषाद की कालिमा से अपने पुत्र की रक्षा करती हुई उसके सामने तो सदैव प्रफुल्लवदन-सी दिखाई देती है, किन्तु एकान्त मे आँसू बहाकर अपना जी हलका कर लेती है। कितना विषाद, कितना शोक, कितनी घुटन और कितनी वेदना श्रद्धा के हृदय मे छिपी हुई है, कोई जान नही सकता। साथ ही श्रीकृष्ण तथा लक्ष्मण तो प्रसन्नतापूर्वक विदेश जाते हैं, जबकि मनु श्रद्धा से रूठकर एव उसका हठात् तिरस्कार करके उसे अकेली छोड जाते हैं। इस कारण भी श्रद्धा के विरह मे गहनता अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मे दिखाई देती है। इसीलिए राधा और उर्मिला से कही अधिक व्यथा और वेदना का वेग श्रद्धा के हृदय मे दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त विस्तार की दृष्टि से राधा की विरह-व्यथा इन दोनो पतिव्रता नारियो से कही अधिक जान पडती है, क्योकि उर्मिला का विरह चौदह वर्ष की अवधि के उपरान्त समाप्त हो जाता है और श्रद्धा का विरह भी चौदह-पद्रह वर्ष के उपरान्त मनु को पुन प्राप्त कर लेने पर समाप्त हो जाता है, परन्तु बिचारी राधा विरह की आग मे आजीवन जलती रहती है, क्योकि श्रीकृष्ण फिर कभी ब्रज मे लौटकर नही आते और वह कौमार-व्रत धारण करके विरह को वरदान मानती हुई अपना सारा जीवन ब्रजवासियो की सेवा-सुश्रूषा मे लगा देती है। सेवा करते हुए यदि कभी भूल से उसकी आँखें आँसू गिरा देती हैं, तो उसे यही कहना पडता है कि मैं विरह के कारण नही रो रही हूँ, अपितु सेवा करते हुए मेरे हृदय मे जो पुलक होता है, उसी कारण मेरी आँखो में आनद का नीर आ जाता है।[1] इस तरह विरह की दृष्टि से भी जब हम उक्त तीनो महाकाव्यो की ओर दृष्टि डालते हैं तो जान पडता है कि प्रियप्रवास मे एक कुमारी बालिका के विरह-जन्य सताप का चित्रण है, साकेत मे एक नव-विवाहिता रमणी के विरह की छटपटाहट है और कामायनी मे एक जननी एव गृहलक्ष्मी के अन्तर्दाह की जलन का वर्णन किया गया है। इस

---

१ हो के राधा विनत कहतीं मैं नहीं रो रही हूँ।
आता मेरे दृग युगल मे नीर आनंद का है।
जो होता है पुलक उर के आपकी चारु सेवा।
हो जाता है प्रकटित वही वारि द्वारा दृगों मे। १७।४०

प्रकार नारी की उत्तरोत्तर विकसित विरह-भावना ही इन तीनो महाकाव्यं मे अंकित है।

प्रकृति-चित्रण—आधुनिक काव्यो में प्रकृति की जितनी सजीव झांकं अंकित हुई है, उतनी पूर्ववर्ती काव्यो में नही दिखाई देती। इसका प्रमुख कारण यह है कि पहले प्रकृति उद्दीपन रूप मे ही अधिक चित्रित की जातं थी, परन्तु आधुनिक काव्यो मे वह विभिन्न रूपो में उपस्थित होकर काव्य कलेवर को सुसज्जित करती है। प्रकृति के जितने रूप आधुनिक युग मे प्रचलित हैं, उन सभी का यत्किंचित् रूप प्रियप्रवास, साकेत तथा कामायनी मे मिल जाता है। मुख्यतया इन तीनो काव्यो मे प्रकृति आलम्बन, उद्दीपन, एव अलकार रूप मे अंकित होने के अतिरिक्त संवेदनात्मक एव मानवीकरण के रूप मे सर्वाधिक मिलती है। प्रकृति के सचेतन रूप की सुन्दर एव रमणीय झांकियाँ इन तीनो महाकाव्यो मे अत्यंत सजीवता एव मार्मिकता के साथ अंकित की गई हैं। साथ ही ये तीनो महाकाव्य प्रकृति की सुकुमार एवं भयानक छटा से इतने ओत-प्रोत हैं कि वे प्रकृति के प्रागण मे ही लिखे गये जान पडते हैं। इतना ही नही पट्ऋतुओ उषा-सध्या, दिवस-रजनी, चन्द्र-ज्योत्स्ना, लता-कुंज, पशु-पक्षी, नदी-सरोवर, गिरि-निर्झर आदि के इतने रमणीक चित्र इन तीनो काव्यो मे विद्यमान हैं कि जिन्हें देखकर पाठक का मन प्रकृति की सुरम्य सुषमा मे अनायास ही तल्लीन हो जाता है। इसका सबसे बडा कारण यह है कि इन तीनो काव्यो मे प्रकृति को मानव-जीवन के अत्यंत निकट लाने का बडा ही सफल प्रयत्न हुआ है और इसीलिए प्रकृति मानवों के आनन्द एव उल्लास के समय हर्ष एव प्रफुल्लता प्रकट करती हुई तथा शोक एव विषाद के अवसर पर ओस या वर्षा के रूप मे रोती हुई अथवा अन्य किसी प्रकार से शोक प्रकट करती हुई चित्रित की गई है। इन कवियो को प्रकृति में एक ऐसी चेतना-सम्पन्न विराट सत्ता दृष्टिगोचर हुई है, जिसके प्रागण मे लता-वृक्ष, नद-नदी, पशु-पक्षी आदि सभी क्रीडा एव कल्लोल करते हुए निरतर विचरण करते रहते हैं, जहाँ पवन और लता, नभ और धरणी, उषा और रवि, रजनी और चन्द्र, कमलिनी और भ्रमर आदि भी मानवो की तरह ही नाना प्रकार की रस-क्रीडाओं एवं काम-चेष्टाओ मे निमग्न रहते हैं तथा जो समय-समय पर विभिन्न रूप धारण करती हुई एव अपनी अद्भुत छटा विकीर्ण करती हुई अपने दर्शको के मन को विमुग्ध करती रहती है। इन तीनों ही काव्यो मे देशगत, समाजगत एव सास्कृतिक विशेषताओ

मे सर्गबद्धता है तथा भावाभिव्यक्ति के लिए शुद्ध एव सस्कृतनिष्ठ खडी बोली को अपनाया गया है, जिसमे अत्र-तत्र मुहावरो का पुट देकर लाक्षणिकता एव व्यग्य की भी सृष्टि की गई है। तीनो ही काव्यो मे साधर्म्य एव सादृश्य के आधार पर प्राचीन एव नवीन सभी प्रकार के अलकारो को अपनाया गया है और ये सभी अलकार भावो की अभिवृद्धि एवं वर्णन की स्पष्टता के साथ-साथ कवियो के चित्र-विधान एव दृश्य-विधान मे भी अत्यत सहायक सिद्ध हुए हैं। तीनो ही महाकाव्यो मे शब्द-शक्तियो के समुचित प्रयोग द्वारा भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और कथन मे चारुता लाने का सुन्दर प्रयत्न हुआ है। तीनो ही कवियो की दृष्टि भारत के परम्परागत अप्रस्तुत-विधान की ओर ही अधिक रही है और यदि कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न भी हुआ है तो वहाँ भी देशगत एव कालगत विशेषताएँ विद्यमान हैं। तीनो कवियो ने भारत मे प्रचलित वृत्त-विधान को ही अपनाया है और प्राय भावो एव परिस्थितियो के अनुकूल छदो का प्रयोग किया है। तीनो ही काव्यो मे सौंदर्य एव रस सम्बन्धी विवेचन भी भारतीय परम्परा के ही अनुकूल हैं और तीनो के सौंदर्य-निरूपण मे पर्याप्त साम्य है।

अब यदि वैषम्य के बारे मे विचार करें तो पता चलेगा कि जहाँ प्रियप्रवास एव साकेत मे वर्णनात्मकता या प्रकथन (Narration) की प्रधानता है, वहाँ कामायनी मे रसात्मकता अथवा भावात्मकता का प्राधान्य है, इससे जहाँ प्रियप्रवास तथा साकेत मे इतिवृत्तात्मकता अधिक दिखाई देती है, वहाँ कामायनी मे कोरी इतिवृत्तात्मकता नहीं दिखाई देती, अपितु कामायनी के प्रकथनपूर्ण वर्णनो का अवसान भी रसात्मक वर्णनो मे ही हुआ है। ऐसे ही दृश्य-विधानो के अतर्गत भी तीनो महाकाव्यो मे पर्याप्त विषमता दृष्टिगोचर होती है, क्योंकि प्रियप्रवास मे तो कवि ने सरलता एव सुबोधता के साथ परम्परागत गोकुल ग्राम की सध्या, हरि-गमन, उद्धव का आगमन, वृन्दाटवी की शोभा आदि का वर्णन किया है, साकेत मे भी कवि ने कवि-परम्पराभुक्त दृश्यो का ही अधिक वर्णन किया है और शुद्ध प्राकृतिक एवं भौतिक आधारो पर उनकी योजना करते हुए निरूपण किया है। परन्तु उस निरूपण मे पर्याप्त शिथिलता एव अरुचि विद्यमान है, जबकि कामायनी के दृश्यविधान मे कवि ने प्राकृतिक साधनो का ही सबसे अधिक प्रयोग किया है और उनमे इतनी चारुता एव रमणीकता लाने का प्रयत्न किया है कि कहीं भी शिथिलता एव प्रभावहीनता लक्षित नहीं होती और न कहीं अन्विति का अभाव ही ज्ञात होता है। सवाद की दृष्टि से प्रियप्रवास एव कामायनी मे

पर्याप्त शिथिलता दिखाई देती है, जबकि साकेत मे पर्याप्त त्वरा एव स्वाभाविकता है। इसके साथ ही सवादगत सजीवता एव उद्दीप्ति मे तो साकेत दोनो से बहुत आगे है, क्योकि यहाँ पर परिस्थिति एव स्वभाव के अनुकूल सवादो की योजना की गई है और अत्यत छोटे-छोटे वाक्यो का प्रयोग किया गया है, जबकि प्रियप्रवास एव कामायनी मे सवाद अधिक लम्बे तथा कही-कही त्वरा-हीन हो गये है। शैली की दृष्टि से भी तीनो मे पर्याप्त अतर है। प्रियप्रवास मे सरल शैली की प्रधानता है, जिससे वहाँ सरल, सुबोध एव मुहावरेदार भाषा का ही अधिक प्रयोग हुआ है, उसमे व्रजभाषा के शब्दो का भी पर्याप्त सम्मिश्रण है और प्रसाद गुण की प्रधानता दिखाई देती है। साकेत मे सरल और अलकृत दोनो शैलियो की प्रधानता है और विशुद्ध भाषा के साथ-साथ शब्द-चमत्कार प्रचुर मात्रा मे दिखाई देता है, जबकि कामायनी मे गूढ एव साकेतिक शैली की प्रधानता है जिससे यहाँ लाक्षणिकता एव प्रतीकात्मकता की बहुलता दिखाई देती है, कही-कही दूरारूढ़ कल्पना का भी सहारा लिया गया है और ओज एव माधुर्य गुणो का समावेश किया गया है। इतना ही नही कामायनी मे वक्रोक्ति का प्रयोग भी उक्त दोनो काव्यो की अपेक्षा अधिक मिलता है, जिसमे से उपचार-वक्रता तो सर्वाधिक अपनायी गई है और इसीलिए यहाँ भाषा भी प्रियप्रवास एव साकेत की अपेक्षा कही अधिक व्यजनापूर्ण एव क्लिष्ट हो गई है तथा काव्य भी अधिक सगुम्फित एव लम्बे हो गये हैं। जहाँ तक अप्रस्तुत-विधान अथवा अलकारो का प्रश्न है, प्रियप्रवास एव साकेत की अपेक्षा कामायनी मे लाक्षणिकता की प्रधानता होने के कारण रूपकातिशयोक्ति, मानवीकरण, समासोक्ति, विशेषण-विपर्यय आदि अलकारो का अधिक प्रयोग हुआ है। कामायनी मे कुछ उपमायें भी अत्यत नूतन एव असाधारण अपनायी गई हैं। साकेत और 'प्रियप्रवास' मे प्राय. परम्परागत उपमानो का ही प्रयोग हुआ है, जबकि कामायनी मे गौर अंग के लिए बिजली का फूल, मुख के लिए अरुण मडल तथा ज्वालामुखी, बालो के लिए सुकुमार घन-शावक, हँसी के लिए अरुण की एक अम्लान किरण आदि के प्रयोग करके कवि ने नवीन उपमानो का भी प्रयोग किया है। जहाँ तक शब्द-शक्तियो के प्रयोग का प्रश्न है, प्रियप्रवास मे अभिधा की प्रधानता है, साकेत मे अभिधा के साथ-साथ लक्षणा की भी प्रधानता है, जब कि कामायनी मे लक्षणा और व्यजना की ही प्रधानता है और अभिधा का प्रयोग अत्यत अल्प मात्रा मे हुआ है। अब यदि वृत्त-विधान की दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होगा कि सम्पूर्ण प्रियप्रवास भारतीय

स्पष्ट निरूपण कर दिया है। साथ ही यह भी बतलाया है कि त्याग के साथ-साथ जीवन मे कर्मण्यता का भी बडा महत्व है। बिना कर्मशील बने, त्याग शोभा नही देता। इसलिए कविवर गुप्त ने त्याग को जीवन की विभूति बताने के लिये एव कर्मण्यता को त्याग का सहयोगी सिद्ध करने के उद्देश्य से साकेत महाकाव्य का निर्माण किया है। तीसरे महाकाव्य कामायनी का निर्माण आधुनिक लक्ष्यभ्रष्ट सतप्त मानव को आनद की प्राप्ति का साधन बताने के लिए हुआ है। इसमे कविवर प्रसाद ने मनु की असफलता एवं विपमता का चित्रण करते हुए आधुनिक मानव की असफलता एव विपमताओ को ही अकित किया है और बताया है कि जीवन और जगत को सत्य मान कर निरतर कर्म करते हुए जीवन में समरसता लाने का प्रयत्न करना चाहिए। इस समरसता के आते ही मानव अपने इसी जीवन मे मनु की ही भांति 'आनद' को प्राप्त कर सकता है। अतएव आनद-प्राप्ति के उपाय एव साधन चित्रित करने के लिए अथवा आधुनिक सतप्त मानव को आनदमय बनाने के उद्देश्य से कविवर प्रसाद ने कामायनी का सृजन किया है। इस तरह उद्देश्य की दृष्टि से तीनो ही महाकाव्यो मे पर्याप्त अतर है, किन्तु मूल रूप मे तीनो महाकाव्य जीवन को समुन्नत बनाने के लिए ही सचेष्ट दिखाई देते हैं।

निष्कर्प यह है कि प्रियप्रवास, साकेत और कामायनी तीनो ही महाकाव्य आधुनिक जीवन को लक्ष्य करके लिखे गये हैं। इसलिए आधुनिक जीवन की समस्यायें ही इनमे विद्यमान हैं। परन्तु मानव-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए लोकहित, त्याग एव अनुराग तथा आनद-प्राप्ति नामक जिन तीन उद्देश्यो की ओर ऊपर सकेत किया गया है, वे तीनो मानव-जीवन के चिरतन सत्य है, उनका किसी युग-विशेप से सवध नही है, अपितु ये युगयुगीन भाव हैं, जिनकी आवश्यकता मानव को सदैव रही है और रहेगी। परन्तु इन तीनो उद्देश्यो का उद्घाटन करते हुए तीनो ही कवियो ने मानव-जीवन के जिस उत्थान-पतन की ओर सकेत किया है, मानव के चिरतन सघर्प को जो वाणी दी है और मानव के विचार एव अनुभूतियो को जो काव्यरूप प्रदान किया है, उनके देखने पर पता चलता है कि प्रियप्रवास एव साकेत मे न तो कामायनी जैसी गहनता है और न मार्मिकता, इनमे अन्त प्रकृति एव वाह्य प्रकृति के सामजस्य का चित्र भी इतनी सजीवता के साथ अकित नही हुआ है, जितना कि कामायनी मे दृष्टिगोचर होता है और इनमे मानव-मनोभावो की वारीकियां तथा उन वारीकियो की अभिव्यक्ति भी उतनी उत्कृष्ट एव चित्ताकर्पक नहीं है, जितनी कामायनी मे दिखाई देती है। अतएव 'प्रियप्रवास'

एवं साकेत दोनो आधुनिक युग की महान् कृति होते हुए भी तुलनात्मक दृष्टि से कामायनी से श्रेष्ठ नहीं है।

हिन्दी महाकाव्यों मे प्रियप्रवास का स्थान—आधुनिक हिन्दी-महाकाव्यो मे 'प्रियप्रवास' का स्थान क्या है ? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, तब पता चलता है कि यह काव्य इस युग का सर्वप्रथम महाकाव्य है। तुलनात्मक दृष्टि से भले ही यह महाकाव्य साकेत एवं कामायनी की अपेक्षा अधिक महान् न हो, परन्तु यही वह प्रथम महाकाव्य है, जिसने खड़ी वोली मे महाकाव्य के अभाव को सर्वप्रथम दूर किया था, इसने ही खडी वोली के महाकाव्यो की परम्परा का आरम्भ किया था और इसने ही आगामी कवियो को महाकाव्य लिखने की प्रेरणा प्रदान की थी, यही वह महाकाव्य है, जिसने सर्वप्रथम महाकाव्य-सबधी नवीनता का उद्घोष किया था, नवीन शैली एव नवीन कथा-मोडो को अपनाने की सलाह दी थी और अपनी पौराणिक गाथाओं एव ऐतिहासिक कथाओ को नवीन ढग से प्रस्तुत करने का सूत्रपात्र किया था; यही वह महाकाव्य है, जिसने सर्वप्रथम मानव-जीवन को समुन्नत बनाने के लिए इस युग मे मानवता, लोकहित एव विश्व-प्रेम की घोषणा की थी और यही वह काव्य है, जिसने सस्कृत के छंदों का अधिक से अधिक सरलता से प्रयोग करके हिन्दी-काव्य को सम्पन्न वनाने की चेष्टा की थी। अतएव अनुभूति एव अभिव्यक्ति की दृष्टि से भले ही 'प्रियप्रवास' उच्च स्थान का अधिकारी न हो, परन्तु अपनी मौलिकता, नवीनता एव प्राथमिकता की दृष्टि से हिन्दी-महाकाव्य के क्षेत्र मे उसका महत्वपूर्ण स्थान है और एक आलोक-स्तम्भ की भांति स्थित होकर उसने आधुनिक कवियो का अभी तक जिस तरह पथ-प्रदर्शन किया है, उसी तरह वह भविष्य मे भी करता रहेगा।

'प्रियप्रवास' का सदेश—'प्रियप्रवास' आधुनिक मानव को कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ करके उसे श्रेय की ओर अग्रसर करने की प्रेरणा देने के लिए लिखा गया है। इसीलिए इसमे आरम्भ से अत तक लोक-सेवा, लोकहित एव प्राणिमात्र के प्रेम का स्वर गूंजता हुआ सुनाई देता है। सम्पूर्ण काव्य नैतिकता एव धार्मिक विश्वास से परिपूर्ण है और भारतीय सस्कृति के उन्नत विचारो से ओत-प्रोत है। इसी कारण मानव-जीवन को सुसमृद्ध बनाने के लिए जिन-जिन विचारो, भावो, अनुभूतियो एव प्रेरणाओ की आवश्यकता है, उनसे यह परिपूर्ण है। यहाँ पर कविवर हरिऔध ने विपद-ग्रस्त एव सतप्त जीवन से छुटकारा पाने के लिए मानवो को यही सलाह दी है कि "स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ को अपनाओ। आत्मार्थी होकर जीवन व्यतीत मत करो,

अपितु अन्य प्राणियो का भी ध्यान रखो। भोगो मे जीवन का कल्याण निहित नही है, अपितु त्याग एव सात्विक कार्यों मे ही कल्याण छिपा हुआ है। परोपकार एव परहित ही मानव को श्रेष्ठ एव महान् बनाते हैं। मानव को सदैव अपनी जन्मभूमि एव अपने स्वदेश के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देना चाहिए अपनी जाति एव अपने देश के सकट को दूर करना ही मानव का परम धर्म है। सदैव मानव को अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ रहना चाहिए। मानवो के लिये प्राणो की ममता मे लीन रहना कदापि श्रेयस्कर नही है, अपितु जगत् मे सर्वभूतहित ही सदैव श्रेयस्कर होता है। सदैव निस्वार्थ भूतहित एव लोक सेवा से ही मानव ससार मे पूज्य होता है। मानव को अधिक से अधिक कष्ट सहन करते हुए तथा सत्य-पथ पर आरूढ़ होकर सदैव लोकहित मे लीन रहना चाहिए अपने से तुच्छ एव दलित प्राणियो को सर्वथा हेय नही समझना चाहिए, अपितु उनमे भी विश्वात्मा का दर्शन करके उनके उत्थान का उपाय करना चाहिए। इसके साथ ही हमे सदैव श्रीकृष्ण एव राधा की भाँति आत्म-त्याग के साथ-साथ अपने समाज एव अपने देशवासियो की सेवा मे ही नही, अपितु विश्व के प्रेम मे लीन होकर विश्व भर के प्राणियो को अपनी ही आत्मा का स्वरूप जानकर उनकी सेवा-सुश्रूषा मे लीन रहना चाहिए।" यह है 'प्रियप्रवास' का वह अमर सदेश, जिसके फलस्वरूप यह महाकाव्य भारतीय सस्कृति की अमर निधि बनकर हिन्दी-साहित्य का देदीप्यमान रत्न बना हुआ है। निस्सदेह 'प्रियप्रवास' का यह सदेश मानवता का प्रसार करता हुआ जन जीवन मे विश्व-बधुत्व की भावना जाग्रत करने की तीव्र प्रेरणा प्रदान कर रहा है।